भारतीय दर्शन

एक नई दृष्टि

दयाकृष्ण

रावत पब्लिकेशन्स
जयपुर एवं नई दिल्ली

ISBN : 81-7033-559-3

मूल्य : Rs. 325

प्रकाशक
रावत पब्लिकेशन्स
3-न-20, जवाहर नगर, जयपुर - 302 004
फोन : 651022, 651438 फैक्स : 651748

दिल्ली शाखा
जी-4, 4832/24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110 002
फोन : 3263290

मुद्रक
नाईस प्रिंटिंग प्रेस, नई दिल्ली

अनुक्रमणिका

इस किताब के बारे में vii

एक बात और xi

1. भारतीय दार्शनिक चिंतन का स्वरूप और उसकी परंपराओं के मूलस्रोत 1
2. भारतीय दर्शन के मूल शास्त्रीय ग्रंथों की संरचना और उनका अन्य परंपराओं से संबंध 62
3. भारतीय दार्शनिक चिंतन परम्पराओं की मूल समस्याएँ और उनके परस्पर संबंध 119
4. भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शंकर का आगमन और उसका दूरगामी प्रभाव 150
5. शंकराचार्य से पूर्व का दार्शनिक चिंतन 161

परिशिष्ट 183

इस किताब के बारे में

भारतीय दर्शन पर किताबें तो बहुत हैं, कुछ अच्छी, बाकी बेकार, पर अच्छी हों या बुरी सब बात एक सी ही कहती हैं — छः 'आस्तिक' दर्शन हैं और तीन 'नास्तिक', और चार्वाक को छोड़ कर सबका लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति ही है। यही नहीं, भारतीय दर्शन का व्यावर्तक लक्षण भी इसी से माना जाता है कि वह सत्य के साक्षात्कार की बात करता है और विभिन्न प्रकार की योग साधनाओं द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की। इसके विपरीत पश्चिमी दर्शन बुद्धि केन्द्रित है, तर्क की भूल-भुलैया में फँसा कर मनुष्य को उसकी सच्ची राह से गुमराह करता है। कुछ ऐसी ही बातें सब किताबों में लिखी रहती हैं, और उन्हें ही पढ़ा-पढ़ाया जाता है। अगर कोई यह पूछे कि आखिर इस ढ़ाई हज़ार साल के लम्बे इतिहास में हिन्दुस्तान के दार्शनिक क्या इन्हीं बातों को दोहराते रहे थे? उनके पास क्या नया कुछ कहने को नहीं था? और वे सब अपने ग्रन्थों में पूर्व पक्ष क्यों प्रस्तुत करते हैं? और फिर उसके खण्डन में प्रवृत्त होते हैं तो इसका कोई सहज, सरल, सीधा उत्तर नहीं मिलता। यही नहीं अगर कोई गलती से यह सवाल पूछ बैठे कि किसी विशिष्ट दार्शनिक ने अपने ग्रन्थ-विशेष में क्या बात कही है तो उसका उत्तर इन सब किताबों में, चाहे वे अच्छी हों या बुरी, नहीं मिलता। दार्शनिकों के नाम ही बहुत कम लिए जाते हैं? अक्सर तो यही कहा जाता है कि न्याय ने यह कहा है, सांख्य यह कहता है, वेदान्त का यह मत है, आदि-आदि।

भारतीय दर्शन की समृद्ध परम्परा के साथ इतना बड़ा अन्याय कैसे हुआ, क्यों हुआ, इसका उत्तर पाना सहज नहीं है। लेकिन फिर भी इसमें शायद ही कोई संदेह करे कि 'अन्याय' तो यह है और इस मूलभूत गलतफहमी से उसका उद्धार होना चाहिए। परन्तु ऐसा करना कोई आसान बात नहीं है। बरसों से चली आई तस्वीर आसानी से बदलती नहीं है। जो हमने पढ़ा था। जो हम पढ़ाते हैं, वही आगे जाकर दूसरे विद्यार्थियों को पढ़ाया जाएगा, थोड़ा-बहुत परिवर्तन कभी कोई करता है पर उसका असर ज्यादा देर टिकता नहीं। और अब तो जो पढ़ने-पढ़ाने की प्रक्रिया हमारे विश्वविद्यालयों में चल रही है उसमें तो कुछ और करना असंभव ही दिखाई देता है। न विद्यार्थी पढ़ना चाहते हैं, न अध्यापक पढ़ाना। हाँ, परीक्षाएँ जरूर होंगी, नतीजे जरूर निकलेंगे और डिग्री प्राप्त विद्यार्थी से कोई सीधा सवाल पूछिए तो वह उसका भी उत्तर साधारणतः दे नहीं पाता।

लेकिन भारतीय दर्शन की तस्वीर बदलने में कठिनाइयाँ और मजबूरियाँ इससे भी गहरी हैं। संस्कृत भाषा जिसमें भारतीय दर्शन का सारा वांगमय निबद्ध है, आम तौर पर न विद्यार्थी को आती है न अध्यापक को। पाली, प्राकृत आदि की तो बात करना ही बेकार है। यही नहीं जिनको संस्कृत आती भी है वे भी अधिकतर साहित्य के विद्यार्थी होते हैं, दर्शन में उन्हें न विशेष रुचि होती है, न गति। यह ठीक है कि, अनेकानेक संस्कृत में लिखे गए दार्शनिक ग्रन्थों का अंग्रेजी व हिन्दी में अनुवाद हो चुका है, लेकिन साधारणतया यह अनुवाद उन ग्रन्थों के दार्शनिक तत्वों पर कोई विशेष प्रकाश नहीं डालता और, न ही दर्शन को पढ़ने-पढ़ाने वाले इनका उपयोग करते नज़र आते हैं।

संदर्भ या सहायक ग्रन्थों की बात भी कुछ ऐसी ही है। विशिष्ट दार्शनिकों पर बहुत कम लिखा गया है। किसी भी दार्शनिक परम्परा का कालक्रम में जो विकास हुआ और उसमें जो परिवर्तन आए उन पर तो बहुत ही कम किताबें मिलती हैं। ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की बात करना तो दूर की बात है। यही नहीं दर्शन के विकास का अन्य विद्याओं और शास्त्रों के विकास से क्या संबंध था इसकी ओर तो शायद ही किसी ने ध्यान दिया हो।

अन्य विद्याओं की बात क्या, स्वयं दर्शन की दार्शनिक परम्पराओं में क्या आपसी संबंध थे, किसने किससे क्या लिया और क्या दिया इसकी चर्चा भी बहुत कम है।

लेकिन ये सब शिकायतें करने से क्या फायदा, जो है सबको पता है, और जिनको पता नहीं है उनको कभी भी पता नहीं होगा, क्योंकि वे पता लगाना ही नहीं चाहते। फिर भी कुछ तो करना ही है, उस नई तस्वीर को उभारने के लिए जो भारतीय दर्शन की कहानी के साथ अधिक न्याय कर सके। यह किताब उसी दिशा में एक प्रयास है, पहला कदम है। इस उम्मीद में कि और लोग इसे बढ़ाएँगे। पिछले अनेक वर्षों से मैं संयोगवश भारतीय दर्शन को समझने की और आत्मसात करने की प्रक्रिया में अचानक क्यों और कैसे सलग्न हुआ, वह मुझे भी आज ठीक-ठीक मालूम नहीं।

लेकिन धीरे-धीरे मुझे उस 'अन्याय' का पता लगा जो हमने भारतीय दर्शन के साथ किया है। अनेक लेखों और पुस्तकों में मैंने उस 'अन्याय' की ओर ध्यान दिलाया है, और उसे कम करने की चेष्टा भी की है। लेकिन जैसे-जैसे मैं भारतीय दर्शन की गहराइयों में अधिक प्रविष्ट हुआ तो मुझे ऐसा लगा कि अभी इसके बहुत से पक्ष हैं, पहलू हैं जिन्हें जानने समझने की जरूरत है, और इसलिए जैसे-जैसे मेरी समझ बढ़ती गई भारतीय दर्शन की तस्वीर भी बदलती गई। यहाँ तक कि, आज तो मेरा प्रत्येक लेख उस तस्वीर में परिवर्तन करने का प्रमाण है। उसको बदलने की दिशा में एक कदम है। अभी कुछ दिन पहले जब मैंने ईसा के बाद के पहले हज़ार साल की कहानी पर गहराई से ध्यान दिया तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा कि, जिन हज़ार साल में सारे भारतीय दर्शन के केन्द्र में बौद्ध दार्शनिक स्थित थे, वहाँ उनकी आज कोई चर्चा भी नहीं करता। यही हाल जैन दार्शनिकों का भी है। लेकिन इनको केन्द्र में लाना कोई आसान बात नहीं है, क्योंकि इन पर कोई विशेष काम अब तक हुआ ही नहीं है। ऊपर-ऊपर की बात कहकर सब टाल देते हैं और जो इतिहास 1200 ईस्वी के बाद शुरू होता है उसको ही भारतीय दर्शन का इतिहास मान लेते हैं। विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अद्वैत, सांख्य, अचिन्त्य भेदागम आदि की बात होती है, शंकर, रामानुज, वल्लभ, मध्व, चैतन्य की चर्चा की जाती है, उसी तरह न्याय की चर्चा होती है। लेकिन उदयन से गंगेश और गंगेश से गदाधर की कहानी अभी लिखी नहीं गई। गदाधर के बाद की न्याय की कहानी पर तो किसी ने ध्यान भी नहीं दिया है। गोकुलनाथ उपाध्याय, गिरधर उपाध्याय, कृष्णदत्त आर्डे, पर्वते शास्त्री आदि के नाम किसने सुने हैं? हाँ, कुछ लोग धर्मदत्त या बच्चा झा का नाम जरूर जानते है। पर उन्होंने क्या किया, इससे उनका न कोई सरोकार है न लेना-देना। यही नहीं, यह विश्वास भी घर कर गया है कि इस नव्य न्याय के पचड़े में कौन पड़े? और अद्वैत और वेदान्त के आपसी संप्रदायों के झगड़ों में कौन सिर खपाए? असली बात तो मोक्ष प्राप्ति की है, इसलिए इन सब झगड़ों को छोड़कर भगवान का भजन करना ही श्रेयस्कर है। और यह ठीक भी है। अगर मोक्ष, भगवद् प्राप्ति या साक्षात्कार ही भारतीय दर्शन का चरम ध्येय है तो इन सब बेकार की बातों में

व्यर्थ समय गँवाने से क्या फायदा?

लेकिन जिन लोगों को भारतीय 'दार्शनिक' कहा जाता है उन्होंने तो इस ढ़ाई हज़ार साल के लम्बे समय में अपना समय इन्हीं 'बेकार' की बातों में गँवाया था और उसी से संबद्ध ग्रन्थों को लिखा था जिनकी संख्या आज हजारों में है। अगर, यही 'दर्शन' है और इसी दार्शनिक परम्परा को हमें आगे बढ़ाना है तो हमें ही चाहे-अनचाहे इस 'पचड़े' में पड़ना होगा। लेकिन ऐसा करने के लिए हमें 'दार्शनिक' बनना पड़ेगा, यानि, उन बौद्धिक समस्याओं में रस लेना पड़ेगा जिससे हमारे पहले के दार्शनिकों ने जूझा था और जिनको सुलझाने में अपना सारा समय लगाया। अगर किसी को इन समस्याओं में 'रस' नहीं आता है तो वह दर्शन के क्षेत्र में प्रवेश का अधिकारी नहीं है और उसे इन सबको लेकर अपना समय व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए, कुछ और करना चाहिए जैसे भजन, पूजन, कीर्तन, इत्यादि।

एक बात और। इस पुस्तक का नाम भारतीय दर्शन: एक नई दृष्टि है, करीब-करीब इसी नाम की पुस्तक मैंने अंग्रेजी में कुछ दिन पहले प्रकाशित की थी उसका नाम Indian Philosophy: A New Approach है। लेकिन, इन दोनों किताबों में कोई संबंध नहीं है। हिन्दी की किताब अंग्रेजी की किताब का अनुवाद नहीं है। यह तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ है, और एक तरह से अंग्रेजी की किताब लिखने के बाद मेरी भारतीय दर्शन के बारे में बदलती हुई तस्वीर को रेखांकित करती है। लेकिन यह केवल शंकर तक की ही कहानी कहती है उसके बाद की कहानी नहीं। उम्मीद है, वह दूसरे भागों में लिखी जाएगी। हमसे नहीं तो किसी और से। इसीलिए परिशिष्ट में यह बताने की कोशिश की गई है कि इसके बाद की कहानी कैसे लिखी जाए या कम से कम उन बातों को ध्यान में रखकर लिखी जाए जिनका परिशिष्ट में उल्लेख है।

यही नहीं, परिशिष्ट में यह भी बताने की कोशिश की गई है, कि जो कुछ इस पुस्तक में लिखा गया है उसमें क्या कमी है। और उसे कैसे पूरा किया जाए? किताबें अक्सर पढ़ने वालों को 'धोखे' में रखती हैं कुछ ऐसा आभास देती हैं जैसे वे अपने आप में संपूर्ण हैं, उनमें कुछ जोड़ने-घटाने की जरूरत नहीं है। पर, जैसा लिखने वाले को हमेशा मालूम होता है, यह सच नहीं होता।

इसलिए इस किताब के बारे में भी यह साफ तौर पर बताने की कोशिश की गई है, कि क्या कमी है, क्या खामियाँ हैं? कितना अधूरा रह गया है, जो किसी को पूरा करना है। भारतीय दर्शन की कहानी लम्बी है और जटिल है। जब तक अनेकों लोग मिलकर इस पर काम नहीं करेंगे इसकी तस्वीर साफ-साफ उभरेगी नहीं। यही नहीं, अगर इस कहानी को और आगे बढ़ाना है तो हम सब पर यह भी जिम्मेदारी है कि इसको समझ कर संतोष की सांस नहीं लेनी है बल्कि उसको धरोहर के रूप में लेकर अपनी सामर्थ्य के अनुसार उसको आगे बढ़ाने की कोशिश करें। उम्मीद तो यही है, सलाह भी यही है — बाकी तो सब खुदा के हाथ है।

दयाकृष्ण

एक बात और

किसी भी किताब के पीछे बहुत सारे लोग, बहुत सारी घटनाएँ होती हैं जो उसके साथ उस तरह जुड़ी होती हैं कि उनके बगैर वह किताब यह शक्ल ही अख्तियार नहीं कर सकती।

वैसे तो यह बात हर चीज़ पर लागू होती है, पर वह 'चीज़' जिसे हम मानवीय कृतित्व का नाम देते हैं, यह बात और भी सही लगती है। और, एक तरह से, उसीके संदर्भ में इसको अक्सर भुला दिया जाता है। हर चीज़ की शुरुआत अजीब तरह से होती है। इसमें कुछ तो आदमी का अपना संकल्प, अपना प्रयास और कुछ करने की ख्वाहिश तो होती ही है। पर, इसके अलावा घटनाओं का यह विचित्र संयोग भी होता है जिसकी वजह से ही सब कुछ हो जाता है। इसे खुदा की मर्जी कहें या कुछ और, पर उसके जाने बगैर जो कुछ होता है उसको समझना मुश्किल है। वैसे इसको मानने पर भी क्या किसी चीज़ का होना 'समझ' में आता है। यह कहना मुश्किल है। जो भी हो अगर मैं संधान नाम की संस्था का अध्यक्ष न होता तो यह किताब शायद लिखी ही नहीं जाती। अध्यक्ष होने का किस्सा दूसरा है। लेकिन उसका अकस्मात् होना और इस किताब का लिखा जाना कहीं-कहीं एक-दूसरे से जुड़े जरूर हैं। अगर मैं अध्यक्ष नहीं होता तो नरेन्द्रकुमार बंसल जो संधान में हिन्दी का सारा काम करता था मेरे पास नहीं आता और अन्य कामों के साथ मैं उसको यह किताब लिखवाना शुरू नहीं करता। नरेन्द्रकुमार बंसल ने काफी दिन इसके लिखवाने में मदद की और जब वह सरकारी सेवा में चला गया तब उसकी जगह शंकरलाल शर्मा ने ली। इन दो लोगों की वजह से ही यह किताब लिखी गई है, वरना मुझ अकेले द्वारा लिखना नामुमकिन ही था।

उसके बाद की कहानी और भी रोचक है क्योंकि उसके बाद तो कई वजह से पढ़ना-लिखना ही मुश्किल होने लगा। यदि नीलिमा वशिष्ठ इसकी गलतियाँ ठीक नहीं करती तो इसे छपने के लिए देना भी मुश्किल होता। यही नहीं जिस तरह से किताब लिखवाई गई थी उसकी न कोई पूर्व विचारित रूपरेखा थी, न अध्याय विभाजन था। सीधे-सीधे सपाट अनवरत वैचारिक चिंतन को बोलकर लिखवाया गया था और इसलिए उसमें न उस तरह के शीर्षक थे न उस तरह का विभाजन जो प्रायः पुस्तकों में मिलता है। जब छपने की बात होने लगी तो सबको यह लगा कि इस रूप में यह किताब छप नहीं सकती। विभाजन तो होना ही चाहिए और शीर्षक भी। यह काम भी नीलिमा ने अपने ऊपर लिया। उन्हीं की सहायता से इसके शीर्षक और अध्याय विभाजन किया गया।

परिशिष्ट की कहानी अलग है। इनमें ईसा पूर्व के एक हजार वर्षों में विकसित दर्शन के इतिहास का रंगीन ग्राफिक के माध्यम से चित्रण किया गया है। इसको तैयार करने में शंकरलाल शर्मा का बहुत बड़ा हाथ है और यह ग्राफ इस बात को स्पष्ट रूप में पेश करता है कि इन हजार सालों में भारतवर्ष में बौद्ध दर्शन का बोलबाला था शेष सब दर्शन तो उसके सामने गिने-चुने मालूम होते हैं। बहुत से लोगों को यह बात नागवार गुजरी है, खासकर उन लोगों को जो वेदान्ती हैं और

यह समझते हैं कि हिन्दुस्तान में वेदान्त का ही हमेशा बोलबाला था। पर जो सच है वही सच है उससे इन्कार कैसे किया जा सकता है। और, जो सही रूप में दार्शनिक है, उसकी बुद्धि तो निस्संग होती है—वह न बौद्ध होता है, न वेदान्ती, न कुछ और। जिनको इस तस्वीर से शिकायत हो वे नए तथ्य पेश करें। तस्वीर अपने-आप बदल जाएगी।

दयाकृष्ण

1

भारतीय दार्शनिक चिंतन का स्वरूप और उसकी परंपराओं के मूलस्त्रोत

भारतीय दर्शन पर अगर आप कोई भी किताब पढ़ेंगे तो अधिकतर आपको यही पढ़ने को मिलेगा कि भारत में दो तरह के दर्शन होते हैं - एक आस्तिक और दूसरे नास्तिक । 'आस्तिक' और 'नास्तिक' का यह प्रयोग बड़ा अजीब सा है, क्योंकि आस्तिक का मतलब यहाँ इस बात से नहीं है कि वे ईश्वर में विश्वास करते हैं, बल्कि इस बात से है कि वे वेद को परम प्रमाण के रूप में स्वीकार करते हैं या नहीं । इसी तरह 'नास्तिक' का अर्थ यही होता है कि वे वेदों के प्रामाण्य को स्वीकार नहीं करते, न कि यह कि वे ईश्वर की सत्ता को नहीं मानते । बौद्ध, जैन और चार्वाक दर्शन इसी कोटि में आते हैं तथा न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग तथा पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा पहली कोटि में रखे जाते है । इसी तरह यह भी कहा जाता है कि भारतीय दर्शन की विशेषता यह है कि वह 'दर्शन' है, न कि शुद्ध बौद्धिक विचार या विमर्श । इसमें जो सत्य है वह विचार का विषय न होकर, साक्षात्कार का विषय है । कहने का मतलब यह है कि उसका हम उसी प्रकार अनुभव करते हैं जैसे कि इन्द्रियों से किसी प्रत्यक्ष विषय का । या कहें, तो उससे भी अधिक निकटता और आत्मीय या आत्मस्थ रूप में । कहा भी है कि 'गूंगे का गुड़ है भगवान' और जिस प्रकार गुड़ के स्वाद का शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, उसे केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, उसी प्रकार जो परम सत् है उसको भी अनुभव के द्वारा ही जाना जा सकता है, बुद्धि के द्वारा नहीं ।

ये सब बातें करीब-करीब पहले ही कुछ पृष्ठों में कही जाती हैं, परन्तु उसके बाद जिस प्रकार से भारतीय दर्शन की चर्चा जाती है उसका इन सबसे कोई सम्बन्ध नहीं है। असल में तो यह सवाल उठाया ही नहीं जाता कि आखिर दर्शन की इतनी लम्बी परम्परा इस देश में क्यों और कैसे बनी तथा उसमें उसके इतने सम्प्रदाय किस प्रकार से हुए और यदि बुद्धि की या तर्क की कोई स्थिति ही नहीं थी तो इतना खण्डन-मण्डन क्यों हुआ । यही नहीं, यह भी सोचने की बात है कि खाली नाम गिनाने से इन मत-मतान्तरों के 2000 साल से भी अधिक के इतिहास का लेखा-जोखा कैसे समझा जायेगा। आख़िर न्याय अगर वही है, जो न्याय सूत्र में लिखा गया था, तो उसके लगभग 2000 साल की या उससे भी अधिक की परम्परा का क्या अर्थ है, और आज हमारा दर्शन की इन विभिन्न परम्पराओं से क्या सम्बन्ध है या होना चाहिए ? क्या हमारा काम केवल समझना ही है, उसके आगे हमारा कोई कर्तव्य रह ही नहीं जाता ? क्या सब कुछ सोचा जा चुका है व समझा जा चुका है और क्या यह विचार कि दर्शन की ये विविध परम्पराएं [illegible] वीं या

18 वीं शताब्दी तक समाप्त हो चुकी थीं, ठीक है और अगर ऐसा है तो वे क्या कारण थे कि तब तक तो उन परम्पराओं में बराबर विस्तार होता रहा और नए विचारक प्रकट होते रहे, पर एकाएक वह प्रवाह बन्द हो गया और लोगों को यह लगने लगा कि अब आगे कुछ कहने को नहीं है ।

असल में बात ऐसी नहीं है, और न यही सच है कि दार्शनिक विचार की धारा अवरुद्ध हो गई है । दर्शन के इतिहास के लिखने के तरीके ने ही यह भ्रान्ति उत्पन्न की है कि जो कुछ कहना था, सोचना था, वह सब कहा या सोचा जा चुका है, और भारत की दार्शनिक परम्पराएं इन ९ गिने-गिनाए नामों में आबद्ध हैं, और इसमें भी कुछ नया नहीं है, केवल जो इनके मूल ग्रन्थों या सूत्रों में लिखा गया था उसका सिर्फ़ विस्तार मात्र है ।

थोड़ा भी परम्परागत ग्रन्थों के देखने से पता चलेगा कि यह बात सच नहीं है । दार्शनिक चिन्तन की परम्पराएं सतत प्रवाहमान रही हैं और उसमें नये-नये विचारकों का योगदान होता रहा है । यही नहीं बल्कि समय-समय पर ऐसे महान दार्शनिक उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने भारतीय चिन्तन को नया मोड़ दिया और आगे आने वाले दार्शनिकों के लिए नये आयाम खोले । इन्होंने अपने से पहले किए गए चिन्तन को पूरी तरह स्वीकार भी नहीं किया । असल में तो इनकी दृष्टि उन नये सवालों या समस्याओं पर था जो इनके सामने उपस्थित हुए थे और जिनका जवाब या समाधान ढूंढने की कोशिश में ये थे । दर्शन की परम्परा, या कहें तो बौद्धिक चिन्तन की परम्परा का स्वरूप ही यह है कि जब तक बुद्धि के सामने कोई उलझन पैदा नहीं होती या सवाल नहीं उठता, या समस्या खड़ी नहीं होती, तब तक बौद्धिक प्रक्रिया जागृत ही नहीं होती । सोचने का पहला संशय है, ऐसा ध्यान से देखने पर गौतम के न्याय सूत्रों में निहित दिखाई देगा । प्रमाण-प्रमेय-व्यापार संशय के बाद प्रारम्भ होता है, हालांकि गौतम ने प्रथम सूत्र में प्रमाण-प्रमेय को संशय से पहले रखा है । पर, शायद उन्होंने इसलिए ऐसा किया कि वे प्रमाण-प्रमेय व्यापार को दर्शन का केन्द्र बिन्दु बताना चाहते थे । और, यह एक प्रकार से सच भी है, क्योंकि यदि संशय का समाधान प्रमाण के द्वारा न किया जाय तो वह दर्शन नहीं कहलाएगा । जो लोग शुद्ध विश्वास की बात करते हैं या कहते हैं कि केवल अनुभव ही सत्य तक पहुंचाता है । उन्हें दर्शन की राह पर चलने की इच्छा नहीं होती, न शायद उन्हें उसमें कोई रुचि ही है । यह ठीक है कि गीता में यह कहा गया है कि 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' पर वहाँ जिस प्रकार के ज्ञान की बात कही गई है उसका दार्शनिक ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं है और अगर है भी तो कम से कम सीधा न होकर कुछ टेढ़ा-मेढ़ा ही हो सकता है । एक प्रकार से गहराई से देखें तो श्रद्धा और संशय में इतना विरोध नहीं है जितना कि पहली दृष्टि में दिखाई पड़ता है । संशयवान को भी आशा है कि उसका संशय समाप्त होगा, कि उसे ज्ञान मिलेगा, कि उसका विश्वास जगेगा । और यदि वह मनुष्य है तो उसे निश्चय नहीं होता कि वास्तव में जो वह विश्वास करता है वह सच ही है । हो सकता है कि उसमें कोई कमी हो, वह गलत हो । आख़िर वह कोई सर्वज्ञ तो है नहीं और यदि वह मनुष्य है तो उसका ज्ञान अधूरा ही होगा ।

बहुत से पश्चिमी विचारकों ने भारतीय दर्शन को इस आधार पर 'दर्शन' कहने से इंकार किया है कि वह तर्कनिष्ठ न होकर शब्द-प्रमाण पर आधारित केवल श्रद्धा या विश्वास मात्र है । पर, यह सत्य नहीं है । भारतीय दार्शनिक परम्परा बुद्धिनिष्ठ ही नहीं है, बल्कि बुद्धि के स्वरूप को अपने में इस प्रकार समाहित करती है जिस प्रकार पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता । आखिर बुद्धि का स्वरूप क्या है? क्योंकि जब तक हम यह नहीं जानें, हम बुद्धिनिष्ठता की बात ही नहीं कर सकते । पश्चिम के वे दार्शनिक जो बुद्धिनिष्ठता की बात करते हैं और कहते हैं कि फ़िलसफ़ा वही होता है जो बुद्धिनिष्ठ हो, वे भी यह स्पष्ट नहीं करते कि आख़िर बुद्धिनिष्ठ होने का अर्थ क्या होता है । अगर गहराई से सोचें तो बुद्धि का स्वरूप ही यह प्रतीत होता है कि हम सहज रूप से यह सवाल उठाएं कि आख़िर इसमें कोई दोष या भ्रान्ति तो नहीं है, क्या इसका जो विपरीत पक्ष है वह तो सत्य नहीं है । क्या उसके लिए कोई अधिक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत नहीं किया जा सकता । संक्षेप में, क्या जो हम मान रहे हैं वह हमें मानना चाहिए या यदि कोई इसके विरोध में खड़ा होता है या इसके बारे में संशय करता है तो हमारे पास इसको सिद्ध करने का कोई आधार है ।

यदि हम बुद्धि का यह स्वरूप मानें तो इसमें कोई संशय नहीं है कि भारत की दार्शनिक परम्परा इसी रूप में प्रस्तुत होती रही है । विभिन्न दर्शनों के मूल ग्रन्थ समझे जाने वाले सूत्रों से ही यह साफ़ तौर पर दिखाई पड़ने लगता है । उदाहरण के लिए, न्याय और मीमांसा सूत्र दोनों में पूर्व पक्ष और उसका खण्डन इन ग्रन्थों में परिपक्व रूप में मिलता है । मीमांसा सूत्र में तो प्रायः उन लोगों के नाम भी दिये गये हैं जिन्होंने पूर्व पक्ष के रूप में दिए गए मत के सिद्धांतों को मान्यता प्रदान की थी । यही नहीं, जैसा कि सर्वविदित है, बहुत से दार्शनिक मतों का तो हमें इन पूर्व पक्षों के द्वारा ही पता चलता है । सूत्रों से पहले के ग्रन्थों में भी इस प्रकार की परिपाटी देखने को मिलती है। यास्क का निरुक्त, जो वैदिक वांगमय के बाद करीब-करीब पहले पाया जाने वाला ग्रन्थ है, में भी इस तरह की बात परिलक्षित होती है ।

बहुत बार तो पूर्व पक्षों के भी पूर्व पक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं और विचारक अपनी बुद्धि का परिचय पहले उनका खण्डन करने में दिखाता है और बाद में जिस पूर्व पक्ष की स्थापना उसने उस खण्डन के द्वारा की थी उसका भी खण्डन करता है । कहने का सीधा तात्पर्य यह है कि बुद्धि का स्वरूप ही यदि खण्डन-मण्डन को लिया जाय और संदेह को उसका केन्द्र बिन्दु माना जाये तो भारतीय दार्शनिक परम्पराओं ने यही रूप अपनाया है और इस प्रकार कोई भी उसकी बुद्धिनिष्ठता पर संदेह नहीं कर सकता । इसके विपरीत पाश्चात्य दर्शन की परम्परा ने इस स्वरूप को स्वीकार नहीं किया है । ऐसा नहीं है कि वहाँ खण्डन-मण्डन नहीं होता है, परन्तु दर्शन को प्रस्तुत करने के तरीके में इसको सहज और अनिवार्य रूप में अपनाया नहीं गया ।

ऐसा कहा जा सकता है कि वास्तव में बुद्धि का स्वरूप खण्डन-मण्डन न होकर संवाद है, जो बुद्धि अपने से ही करती है, या कभी-कभी किसी अन्य से । और, यदि पश्चिमी दार्शनिक परम्परा को प्लेटो से शुरू हुआ मानें तो यह सत्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि प्लेटो ने अपने

दार्शनिक ग्रन्थ संवाद के रूप में ही लिखे थे । परन्तु एक तो पश्चिमी दर्शन की परम्परा ने इस प्रथा को अपनाया नहीं, हालांके प्लेटो में इसका उत्कृष्टतम उदाहरण मिलता था । अगर ध्यान से देखें तो दार्शनिक ग्रन्थों के लिखने की विधि के संदर्भ में पश्चिम का आदर्श प्लेटो न होकर अरस्तू रहा है । इसलिए यदि कोई संवाद को बुद्धि का सहज रूप माने भी, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी दर्शन ने यह विधि किसी खासतौर पर अपनाई है । दूसरी ओर पूर्व पक्ष के खण्डन और सिद्धांत की स्थापना में, और जिसे संवाद कहते हैं उसमें, कोई विशेष अन्तर नहीं है । भारतीय दर्शन ने वाद, जल्प और वितण्डा में भेद किया है । यह भी इस पर आधारित है कि वाद में किसी व्यक्ति का अपना कोई सिद्धांत होता है और वह उसमें प्रवृत्त इसलिए होता है कि वह उस सिद्धांत की पुष्टि के लिए तैयार है और उसके सब विरोधी पूर्व पक्षों का खण्डन करने के लिए भी तैयार है । जल्प में व्यक्ति यह जानते हुए भी कि जो वह कह रहा है वह गलत है, उसके लिए वह तर्क करता है तथा दूसरी ओर वितण्डा में उसका कोई सिद्धांत ही नहीं होता और वह केवल बहस करने के लिए बहस करता है । हालांकि न्याय सूत्र में जल्प और वितण्डा की बुराई की गई है और कहा गया है कि ऐसे लोगों से कोई बहस नहीं करनी चाहिए, पर नागार्जुन जैसे बौद्ध विचारक और श्री हर्ष जैसे दार्शनिकों ने यह विधि अपनाई है और अगर सोचें तो सहज चिन्तन की भी यही प्रक्रिया है । सिद्धांत तो बाद में बनता है, पहले तो बुद्धि चिन्तन और मनन के द्वारा सत्य को खोजती है और विभिन्न मतों की परीक्षा करती है । किसी बात को थोड़ी देर के लिए मान लेती है और अगर उसमें दोष दिखाई देता है तो उसे छोड़ देती है या उसमें परिष्कार करती है ।

चिन्तन एक सतत प्रक्रिया है, और अगर वह जीवन का अंग है तो उसे ऐसा होना भी चाहिए । किसी सिद्धांत को पकड़े रहना और यह समझना कि पूर्ण रूप से सत्य प्राप्त हो गया है, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है । दर्शन का इतिहास हमको यही बताता है, फिर वह इतिहास पश्चिमी दर्शन का हो या भारतीय इतिहास दर्शन का ।

भारतीय दर्शन को सही रूप में फ़िलसफ़ा नहीं मानने का एक और कारण पश्चिमी विचारक यह बताते हैं कि वह पूर्ण रूप से बुद्धिनिष्ठ या तर्कनिष्ठ न होकर किसी अन्य पूर्व मान्यता को सिद्ध करने के लिए ही होता है या किसी अन्य प्रयोजन के लिए जिसका बुद्धि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है । पहली बात उसके उस स्वरूप की ओर इशारा करती है जहाँ वह किसी पूर्व प्रतिपादित विश्वास को तर्क का आधार देने की कोशिश करता है और यह बताने की, कि जो श्रद्धा और विश्वास पर आधारित है वह तर्क सिद्ध या बुद्धि के द्वारा भी प्रमाणित हो सकता है । इस प्रकार के दर्शन को पश्चिमी परम्परा में 'थियॉलोजी' का नाम दिया जाता है और इस प्रकार का दर्शन वहाँ बहुतायत से पाया भी जाता है । और, यही कारण है कि पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में जिन दार्शनिकों ने इस बात का खुलकर विरोध किया और यह माना कि बुद्धि तर्क द्वारा स्वयं सत्य का निर्धारण कर सकती है या सत्य को पा सकती है, उन्हें ही सच्चा दार्शनिक माना गया । यही नहीं, बल्कि उनके इतिहास में इस प्रकार के पराबौद्धिक विश्वास या श्रद्धा का मूल केवल ईसाई सम्प्रदाय के विश्वासों में था जिनका आधार जो ईसा ने कहा था और जो बाइबिल में प्राप्त होता है, केवल उनमें ही प्राप्त होता था, इसलिए उनकी परम्परा में दर्शन के केवल दो ही प्रकार

होते हैं । एक वह जो इसाई धर्म में श्रद्धा और भक्ति के आधार पर मान्य सत्यों को बुद्धि और तर्क द्वारा प्रतिपादित करने की चेष्टा करता है और दूसरा वह जो इससे हटकर स्वयं सत्य की खोज करता है । दर्शन की भारतीय परम्परा पर इस प्रकार की बात लागू करना एक दुराग्रह मात्र है, क्योंकि एक तो यहाँ उस प्रकार का स्थान किसी एक धर्म का नहीं है जैसा स्थान पश्चिमी परम्परा में ईसाई मत का है । अगर यह माना भी जाय कि वेद का स्थान कुछ-कुछ उसी प्रकार का है जिस प्रकार कि ईसाई परम्परा में बाइबिल का है, तब भी उसमें और बाइबिल में जमीन आसमान का अन्तर है । श्रुति की मान्यता उस प्रकार की नहीं है जिस प्रकार की बाइबिल की । वेद की प्रामाणिकता को सीधे रूप में और पूरी तरह मानने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय भारतीय परम्परा में केवल दो हैं, एक मीमांसा और दूसरा वेदांत । कुछ लोग पहले को पूर्व मीमांसा कहते हैं और दूसरे को उत्तर मीमांसा । और, यह ठीक भी है कि इन दो परम्पराओं में श्रुति की प्रधानता है और उसमें दिए गए सत्य को बुद्धि द्वारा सिद्ध करने का आग्रह भी । जैसा कि हम बाद में देखेंगे यह भी उस प्रकार की 'थियॉलोजी' से पूर्णतः भिन्न है जिसका पश्चिमी परम्परा में बाहुल्य है और जो अक्सर वहाँ पायी जाती है । पर, इन दो दार्शनिक धाराओं के अतिरिक्त भारत में बहुत सी अन्य धाराएं भी हैं, और उनमें से कुछ तो स्पष्ट तौर पर वेदों की प्रामाणिक को अस्वीकार करती हैं और कुछ ऐसी हैं जो उसकी प्रामाणिकता को मानते हुए भी यह नहीं मानती कि केवल वेद मात्र ही प्रामाणिक ग्रन्थ हैं और कोई अन्य नहीं ।

इस तरह ध्यान से देखने पर यह साफ़ मालूम होता है कि पश्चिमी विचारकों की यह मान्यता कि भारतीय दर्शन प्रधानतः शुद्ध दर्शन न होकर एक प्रकार से जिसे वे अपनी परम्परा में 'थियॉलोजी' कहते हैं उसका ही एक अन्य रूप है, गलत है । यह मान्यता कितनी भ्रमपूर्ण है यह तो इससे ही सिद्ध हो जाता है कि भारतीय दर्शन की परम्परा में ईश्वर का स्थान बहुत ही गौण है। यहाँ तक कि बहुत सारे दर्शन तो ईश्वर की सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते और जो करते हैं वे भी उसे गौण रूप में ही करते हैं । मनुष्य-केन्द्रित विचार किसी भी संस्कृति में इतना गहरा और व्यापक नहीं हुआ है जितना कि भारतीय संस्कृति में, हालांकि यह कहना भी ठीक होगा कि मनुष्य के आध्यात्म या पारमार्थिक पक्ष पर जितना बल भारतीय चिन्तन में दिया गया है उतना शायद किसी अन्य परम्परा में नहीं । दार्शनिक लोग भी जिस संस्कृति और समाज में पले होते हैं उसी की प्रचलित चिन्तन धारा से आबद्ध रहते हैं । पश्चिम के दार्शनिक अपनी संस्कृति के परम्परागत दार्शनिक रूपों और आयामों से उतने ही आबद्ध प्रतीत होते हैं जितना कि दूसरी संस्कृतियों के । उन्हें शायद यह बात समझ में ही नहीं आती कि कोई दार्शनिक परम्परा ईश्वर को माने बगैर भी अध्यात्म केन्द्रित हो सकती है और उनको यह भी समझाना मुश्किल लगता है कि श्रुति-प्रामाण्य या आगम-प्रामाण्य या शब्द-प्रामाण्य उससे बिल्कुल भिन्न है जो उनकी अपनी परम्परा में बाइबिल या कुरान की मान्यता में पाया जाता है ।

वैसे तो ये दार्शनिक अपनी परम्पराओं को ही ध्यान से देखें तो उसमें इन्हें ऐसी परम्पराएं ढूंढ़ने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए जो भारतीय दार्शनिक परम्पराओं से इस विषय में काफ़ी हद तक मिलती जुलती हैं । स्टॉइक तथा 'एपिक्यूरियन' दार्शनिक सम्प्रदाय चेतना की उस स्थिति

को सर्वश्रेष्ठ मानते थे जो या तो किसी भी अन्य चीज़ से प्रभावित न हो या सदैव सुखी या आनन्दमय रहे और इस प्रकार की चेतना की प्राप्ति वह चरम लक्ष्य के रूप में स्वीकार करते थे। यही नहीं, यदि प्लेटो के दर्शन में परम पुरुषार्थ की बात करें तो वह भी उसी प्रकार का है जैसा अनेक भारतीय दर्शनों में पाया जाता है। वास्तव में शुद्ध बौद्धिकता एक प्रकार से भ्रम ही है क्योंकि बुद्धि को विचार के लिए कुछ विषय चाहिए जो अनुभव द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह अनुभव इन्द्रियों के द्वारा हो सकता है या आत्मनिरीक्षण से प्राप्त चित्त की अवस्थाओं से भी। इसके अलावा भी अनुभव के अन्य आयाम हैं जो हमें उन मानवीय कृत्यों के द्वारा प्राप्त होते हैं जो या तो स्वयं अर्थवत्व लिए होते हैं या किसी ऐसे 'अन्य' की ओर इंगित करते हैं जो उनसे गहरे रूप में सम्बद्ध है। कला और साहित्य कुछ इसी प्रकार के होते हैं, और अध्यात्म साधना के क्षेत्र में तो इसका प्रचुर बाहुल्य है ही। कहने का आशय यह है कि 'अनुभव' अनेक प्रकार से होता है और बुद्धि इन सब को अपने चिन्तन का विषय बनाती है। कौनसा अनुभव अधिक महत्व का है यह एक प्रकार से संस्कृति सापेक्ष और व्यक्ति सापेक्ष दोनों होता है और इसी से शायद दार्शनिक परम्पराओं का वैशिष्ट्य और वैभिन्न्य प्रसूत होता है कि वह किस प्रकार के अनुभव को प्रधानता देती है।

पर, जहाँ एक ओर बुद्धि अनुभव के अनेकों आयाम पर चिन्तन करती है, दूसरी ओर वह चेतना के स्वचेतन रूप पर भी विचार करती है और विचार का यह विषय दर्शन को कुछ अन्य दिशाओं में ले जाता प्रतीत होता है। इसके अलावा दर्शन का एक अन्य केन्द्र बिन्दु वह है जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, पर जो वास्तव में दर्शन का वह गर्भस्थल है जिसके बगैर दर्शन 'दर्शन' कहलाने का अधिकारी ही नहीं होगा और वह बुद्धि का. बुद्धि को उसके स्वचेतन रूप में देखना है, और इससे जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं उनको इस प्रकार महसूस करना कि वह व्यवहार जगत की या उन अनेक अन्य जगतों की समस्याओं से भी अधिक प्राणवान और मूल्यवान लगने लगें कि जिनको सुलझाए बगैर जीवन जीना वृथा प्रतीत हो। इसीलिए दार्शनिक कहलाने वाला, या समझा जाने वाला, व्यक्ति कुछ ऐसी समस्याओं में उलझा प्रतीत होता है जो दूसरों को बिल्कुल बेमाने लगती हैं। बुद्धि का जो यह क्षेत्र है और इसकी जो समस्याएं हैं उनके प्रति जो जागरूक नहीं है या जिसको इनमें आनन्द नहीं आता वह कभी भी दार्शनिक नहीं हो सकता और जिन संस्कृतियों ने दर्शन की व्यापक परम्पराओं को जन्म दिया है उनमें बुद्धि के इस स्वायत्त जगत को स्वीकार ही नहीं किया है, बल्कि उसको मनुष्य की महत्वपूर्ण उपलब्धि भी माना है। पर, जहाँ इसने बौद्धिक जगत को एक स्वंतत्र स्वायत्तता प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर इसने यह भी समस्या उत्पन्न की है कि उन अधिकांश लोगों को जो इस क्षेत्र को या तो बिल्कुल ही स्वीकार नहीं करते हैं, या इसको केवल व्यवहारिक साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, उनको इसकी अर्थवत्ता कैसे समझायी जाय? अधिकांश मनुष्य तो बुद्धि का प्रयोग केवल साधन रूप में ही अपने विभिन्न लक्ष्यों की पूर्ति के लिए करते हैं जिनमें अधिकांश पुरुषार्थ अर्थ या काम की कोटि में ही आते हैं। बहुत हुआ, तो समाज, राज्य, धर्म, भौतिक या व्यवहारिक ज्ञान आदि के संदर्भ में भी इनकी उपयोगिता मान लेते हैं कुछ लोग आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसकी जरूरत कम से कम

वहाँ तक स्वीकार कर लेते हैं जहाँ तक उन्हें दूसरों के मत का खण्डन करने की जरूरत पड़े या दूसरे मतावलम्बियों को गलत सिद्ध करने की आवश्यकता महसूस हो। पर, ये सब लोग बुद्धि को बुद्धि के जगत में स्वतंत्र रूप में साध्य और मूल्यवान, और सहज पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने से अचकचाते हैं और यही कारण है कि शायद ही किसी संस्कृति ने बुद्धि के स्वतंत्र पुरुषार्थ की चर्चा की हो और यह उन संस्कृतियों में भी नहीं मिलता जहाँ बुद्धि का वैभव अपने चरम विस्तार पर रहा हो या जहाँ दर्शन और दार्शनिकों की काफ़ी प्रतिष्ठा रही हो। बिचारे दार्शनिक को इसलिए हमेशा यह कहना पड़ा है कि दर्शन उसका चरम साध्य न होकर केवल किसी अन्य पुरुषार्थ का साधन है, पर यह वास्तव में केवल कहने की बात है क्योंकि यदि उसके लिए कोई अन्य पुरुषार्थ, पुरुषार्थ मात्र होता तो उसको इस सब पचड़े में पड़ने की जरूरत ही नहीं होती। सीधे-साधे अर्थ, काम, यश, शक्ति, मोक्ष आदि के प्रलोभन में पड़कर उन्हें सीधे-सीधे ही साधता। पर, दार्शनिक तो दार्शनिक इसीलिए होता है कि उसे इस क्षेत्र में सहज आनन्द प्राप्त होता है और उसकी इसी में सहज गति होती है। और, यदि आपको किसी दार्शनिक में ऐसा न लगे तो समझ लीजिए कि वह नकली दार्शनिक है, या बिचारा ज़बरदस्ती दर्शन के क्षेत्र में ढकेल दिया गया है, जैसाकि आजकल के अधिकांश विश्वविद्यालयों में दर्शन के अध्यापक होते हैं जिनका बस चले तो वे उससे एकदम छुट्टी लेलें।

वास्तव में अधिकतर लोग बुद्धि को साधन के रूप में ही स्वीकार करते हैं, साध्य के रूप में नहीं। अनेक लोग जिनकी बौद्धिक क्षेत्र में कोई विशेष रूचि नहीं होती वे भी अर्थ, काम, शक्ति आदि अर्जित करने के लिए बुद्धि का साधन के रूप में प्रयोग करते हैं और उसकी सफलता इस रूप में ही स्वीकार करते हैं कि वह इन सबको प्राप्त करने में सहायक होती है। इस सब के लिए वह व्यक्ति जो बुद्धि को केवल साधन के रूप में ही स्वीकार नहीं करता, बल्कि कुछ हद तक साध्य रूप में भी उसकी अर्थवत्ता को स्वीकार करता है। उसे बुद्धि को शुद्ध साधन के रूप में मानने वाले लोग कुछ-कुछ पागल-सा ही समझते हैं। एक प्रकार से देखें तो साधारण मनुष्य मात्र की समझ में आनेवाले पुरूषार्थ केवल दो ही हैं जिनको परम्परागत विचार में अर्थ और काम का नाम दिया गया है। संस्कृतियों में इनके अतिरिक्त भी कुछ स्वत: सिद्ध मूल्य माने जाते हैं जिनका एक उदाहरण भारतीय संस्कृति में अध्यात्म के नाम से पहचाना जाता है जिसके अनेकों पर्याय हैं जिनमें मोक्ष, निर्वाण, कैवल्य, नि:श्रेयस, अपवर्ग आदि सर्वविदित हैं। इसलिए यदि बुद्धि का प्रयोग अर्थ और काम के लिए न हो तो उसे अध्यात्म के इन विशिष्ट पुरुषार्थों का साधन होना चाहिए। और अगर ऐसा नहीं है तो कुछ पागलपन ज़रूर है।

पर, बुद्धि का भी अपना एक अलग क्षेत्र होता है और उसका भी अपना पुरुषार्थ होता है जो अधिकतर ज्ञान की संज्ञा से इंगित किया जाता है। यहाँ ज्ञान का अर्थ उस ज्ञान से है जो अध्यात्म का विषय न होकर किसी भी क्षेत्र का सत्य जानने की चेष्टा करता है। अधिकतर इसी प्रकार का ज्ञान भी अन्य लोगों के लिए साधन रूप में ही मूल्यवान होता है, क्योंकि वह उसके द्वारा अपने लक्ष्य पाने में सफल होते हैं। यही नहीं, ऐसा ज्ञान तकनीक को जन्म देता है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि करते हैं और अपने जीवन को सफल मानते हैं। इसके विपरीत अधिकतर

वे लोग, चाहे उनकी संख्या बहुत ही कम क्यों न हो, जो किसी ज्ञान को पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं, उन्हें उस ज्ञान के प्रयोगात्मक पहलू के बारे में कोई विशेष रुचि नहीं होती, हालांकि आज सभ्यता ने जो नया रुख लिया है उसमें ज्ञान की खोज करने वाले अधिकांश लोग भी उसकी सार्थकता को इसी रूप में देखने लगे हैं । यही नहीं, आज तो हर चीज़ अर्थ की तराज़ू पर तोली जाने लगी है और उससे कितना पैसा मिल सकता है इसी से उसका मूल्य निर्धारित होता है । दर्शन ज्ञान को शुद्ध पुरुषार्थ रूप में मानने के समीप होते हुए भी उससे भिन्न है, क्योंकि यहाँ बुद्धि किसी विशिष्ट क्षेत्र के ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा नहीं करती पर ज्ञान के स्वरूप पर ही विचार करती है और अपने से यह पूछती है कि आख़िर यह ज्ञान की प्रक्रिया क्या है और कोई ज्ञान सत्य है या नहीं इसका आधार क्या है, और इसका निश्चय कैसे हो सकता है ? यही नहीं दर्शन में बुद्धि जीव के समस्त क्षेत्रों और अंशों के बारे में सोचती है और उनमें निहित आदर्शों या मूल्यों पर चिन्तन करती है । वास्तव में तो दर्शन शुद्ध बुद्धि का क्षेत्र है जहाँ बुद्धि मनुष्य के और जगत के समस्त सम्बन्धों के ऊपर आत्मनिरीक्षण करती हुई उन सब समस्याओं को देखती है जिनसे मानव चेतना ग्रसित और व्यथित दोनों रहती है । पर, बुद्धि को उनको देखने, समझने और सुलझाने की कोशिश करने में जो आनन्द आता है उसी का नाम दर्शन है ।

इस तरह से देखें तो दर्शन एक प्रकार से मनुष्य का बुद्धि में प्रतिबिम्बित होने वाला स्वरूप ही है और दर्शन का इतिहास मनुष्य की चेतना का बुद्धि के दर्पण में दिखाई देने वाला इतिहास है । परन्तु मनुष्य की इस चेतना का इतिहास एक ओर जहाँ उसकी संस्कृति के इतिहास से आबद्ध होता है वहीं दूसरी ओर मनुष्य के अनेकानेक आयामों के खण्ड-खण्ड रूपों से भी बँधा दिखाई देता है । परन्तु मनुष्य केवल बौद्धिक प्राणी ही नहीं है । उसके और भी अनेकों आयाम हैं जिनमें वह विभिन्न जगतों का सृष्टिकर्ता है और उन अपनी ही सृष्ट की हुई दुनियाओं में जीता है । उन सब विभिन्न सृष्ट जगतों के उपादान और माध्यम प्रत्यय या विचार होता है जिनका एक दूसरे से सम्बन्ध तार्किक आधार पर किया जाता है । साहित्य के जगत का उपादान प्रत्यय न होकर बिम्ब होते हैं, हालांकि दोनों का माध्यम भाषा ही होती है और भाषा के बगैर उनकी संरचना असम्भव होती है । अन्य कलाओं के उपादान या माध्यम भाषा न होकर कुछ और होते हैं पर वे सब मनुष्य को मूल रूप में भाव-केन्द्रित ही मानते हैं और मनुष्य को भोक्ता रूप में ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं । मनुष्य के सुख-दुःख के आधार पर अनेकानेक भाव-जगत की सृष्टि होती है, जिसमें रस का आस्वादन-रूप प्रधान होता है ।

ज्ञान और भाव या भावना के अलावा मनुष्य कर्म-जगत का भी प्राणी है जिसमें उसकी चेतना विषय को इस रूप में नहीं देखती कि वह क्या है या उससे उसे सुख-दुःख होता है, बल्कि उसे इस संदर्भ में देखती है कि क्या वह ऐसा है जैसा उसे होना चाहिए । एक प्रकार से वस्तु या विषय जो ज्ञात होता है वह सुख-दुःख का कारण भी होता है और चूँकि मनुष्य यह चाहता है कि सुख हो और दुःख न हो, इसलिए वह जिस वस्तु से सुख होता है उसको बनाए रखने और जिससे दुःख होता है उसे हटाना सहज रूप में चाहता है और उसके लिए प्रयत्न भी करता है । इसलिए बहुत से लोग यह मानते हैं कि कर्म केवल सुख पाने या दुःख से बचने के लिए ही किया जाता है।

परन्तु कर्म की उत्पत्ति को केवल सुःख - दुःख के सन्दर्भ में ही देखना मनुष्य के साथ अन्याय करना होगा क्योंकि कर्म का स्रोत केवल सुःख - दुःख न होकर एक ऐसी मूल्य--चेतना है जो मनुष्य को बार-बार इस बात से प्रेरित करती है कि वस्तुस्थिति वैसी नहीं है जैसी उसे होना चाहिए । और इसके लिए वह कम से कम कुछ हद तक उत्तरदायी अवश्य है क्योंकि उसमें उसे परिवर्तित करने की क्षमता है ।

ज्ञान, भावना और कर्म के ये सब आयाम दर्शन में बुद्धि के विषय बनते हैं और मनुष्य की इन सब क्षेत्रों में जो सहज गति होती है, उस पर स्वचेतन प्राणी होने के नाते आदमी सोचता है और विचार करता है कि आख़िर इन सब का सत् क्या है, स्वरूप क्या है और इनके आपस में सम्बन्ध क्या हैं । दर्शन में इस तरह से मनुष्य के सभी आयाम प्रतिबिम्बित होते हैं लेकिन वैसे ही नहीं जैसे प्रथम स्तर पर ये मनुष्य को परिचालित करते हैं या दूसरे स्तर की चीज़ है जहाँ मनुष्य इन प्रथम स्तर की बातों पर एक अन्य सिरे से चिन्तन करता है । उसमें सहज भाव से प्रश्न करने का या सवाल उठाने की प्रवृत्ति होती है । आख़िर ये सब क्या है और क्यों हो रहा है क्या सब वैसा ही है जैसा कि होना चाहिए । मनुष्य की इस मूलभूत जिज्ञासा का नाम ही दर्शन है और विभिन्न संस्कृतियों में इस जिज्ञासा ने विशिष्ट रूप लिया है । पर, चूँकि मानव मानव है और कुछ सहज प्रवृत्तियों और उसके जगत में जो मूलभूत परिस्थितियाँ हैं उनमें साम्य होने के कारण दर्शन की समस्याओं में कुछ-कुछ समानता और कुछ वैषम्य होना स्वाभाविक है। और ऐसा दर्शन में ही नहीं मनुष्य के सभी अन्य क्षेत्रों में भी मिलता है और ऐसा मिलना एक तरह से उसके मनुष्य की पहचान ही है ।

वैदिक परम्परा

भारतीय दर्शन या दार्शनिक चिन्तन की वह प्रक्रिया जो भारत में लगातार कम से कम तीन हज़ार वर्ष से विकसित हुई है उसका मूल उस सभ्यता में है जिसे आज हड़प्पा या मोहनजोदड़ो की सभ्यता कहा जाता है । यह सभ्यता सिंधु नदी की घाटी में फैली हुई थी और इसका पता कुछ ही वर्षों पहले इस शताब्दी के प्रारम्भ में मिला था । 1924 के आसपास इसका पहले पता लगा था और तब से आज तक अनेक खोजों के बावजूद इसमें जो लेख मिलते हैं वह अभी तक सही रूप में पढ़े नहीं जा सके हैं । कोशिश अभी तक जारी है पर उसमें कहाँ तक सफलता मिल पाएगी यह कहना मुश्किल है । परन्तु, जहाँ इस क्षेत्र में कोई विशेष सफलता नहीं मिली है वहीं दूसरी ओर इस सभ्यता का विशाल विस्तार और इसकी अनेक क्षेत्रों में व्यापक कार्यकुशलता अधिकाधिक पता चली है । पर, अचम्भे की बात तो यह है कि जहाँ एक ओर यह संस्कृति अपने अनेक अवशेषों में बहुत कुछ कहती प्रतीत होती है पर चूंकि इसकी लिपि को अब तक कोई समझ नहीं पाया है इसलिए यह एक प्रकार से उस गूँगे व्यक्ति के समान है जो बहुत तरह से अपने को अभिव्यक्त करता है पर जिसकी बात दूसरों की समझ में कम ही आती है । इससे शायद बड़ा उदाहरण कम ही मिलेगा यह बताने के लिए कि भाषा किसी भी संस्कृति को समझने में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है और जिसको समझे बगैर हम मनुष्य को समझ ही नहीं सकते । यह नहीं है कि इस सभ्यता ने अनेकानेक अन्य चीज़ें नहीं छोड़ी हैं । चित्र हैं, विशाल नगर हैं, समुद्र

पर बंदरगाह हैं, खाने-पीने के सामान हैं । एक तरह से सब कुछ है, पर वह सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं-सा है और इसलिए यह मानते हुए भी कि भारत में जो कुछ भी आज है उसका मूल इस सभ्यता में ज़रुर होगा इसके आगे या इसके अलावा कुछ और कहना मुश्किल होता है । इस सभ्यता का युग ईसा के तीन हज़ार या ढ़ाई हज़ार वर्ष पूर्व के करीब माना जाता है। इस सभ्यता के व्यापारिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध उसी काल की अन्य सभ्याताओं से पाए जाते हैं। पर भारतीय दर्शन के इतिहास की दृष्टि से तो हमें इन्तज़ार ही करना पड़ेगा उस वक्त का जबकि इसमें लिखी हुई लिपि को कोई समझ पाएगा या समझ पाने का तरीका पता लगा संकेगा ।

पर जहाँ इस विशाल नागरिक या नगर-केन्द्रित सभ्यता का पता लगता है वहीं भारत ही नहीं विश्व के सबसे पुराने लिखे हुए ग्रन्थ जिनको वेद कहा जाता है वाणी में मुखर हैं और उनको भारत में कम से कम तीन-साढ़े तीन हज़ार साल से सुरक्षित रखा गया है अपने उस शुद्ध मौखिक रूप में जैसाकि वे शुरू में थे । उनको समझना-समझाना कितना ही कठिन क्यों न हो पर उनके बारे में वह समस्या नहीं है जो मोहनजोदड़ो की लिखी हुई मोहरों (सील) के बारे में है । उनमें भारतीय दर्शन की मूल प्रवृत्ति सहज और सजग रूप में मिलती है । वास्तव में यह कवि और मनीषियों की रचनाएं हैं । जहाँ एक ओर इसके रचयिता इस पर गर्व करते हैं कि उन्होंने इन मंत्रों की कविता के रूप में रचना की है वहीं दूसरी ओर उनको यह भी सतत् महसूस होता है कि असल में वे इसके रचनाकार नहीं हैं, पर केवल माध्यम मात्र हैं और कोई पराशक्ति उन के द्वारा सत्य को उद्भासित या उद्घोषित कराती है । यह बात कोई अजीब नहीं है । न इन दोनों में कोई विरोध ही है। प्रत्येक रचनाकार यह जानता है कि कोई पराशक्ति उसको कुछ देती है उसके माध्यम से कुछ अभिव्यक्त करती है और वास्तव में वह केवल एक निमित्त मात्र है । और मनुष्य की दुविधा ही यह है कि उसको प्रयत्न तो करना पड़ता है, पर जो कुछ भी वह करता है उसका किया नहीं होता पर उसके द्वारा किया हुआ होता है । जो भी हो वह सब जिसे आज 'वेद' कहते हैं या मोहनजोदड़ो की सभ्यता । यह दोनों हमारी संस्कृति में एक ही तरह से व्याप्त हैं, पर एक मुखर है और दूसरा निस्तब्ध।

वेद के बारे में पहली समझने की बात तो यह है कि वे सब एक साथ ही रचित नहीं हुए हैं, न केवल एक व्यक्ति के द्वारा ही । कहने का अर्थ यह है कि चाहे हम उनको मनुष्य द्वारा रचित या जिसको संस्कृत में अपौरुषेय कहते हैं वैसा, या मनुष्य के द्वारा रचित न होकर केवल उसके माध्यम से प्रकाशित चिरंतन सत के रूप में मानें, दोनों अवस्थाओं में वे कुरान की तरह किसी एक ही व्यक्ति के माध्यम से प्रकाशित या रचित नहीं हुए हैं । उनके लिखने वाले अनेक ऋषि हैं जिनके नाम स्वयं वेदों में दिए गए हैं और बहुत सारे जिन गोत्रों के वे ऋषि थे वे आज भी भारत में पाए जाते हैं । वशिष्ठ, भारद्वाज गोत्र आदि इसी प्रकार के हैं । दूसरी ओर, इनके रचनाकार एक ही समय के मालूम नहीं होते बल्कि इनकी रचनाओं में अन्तराल कई विद्वान तो हज़ार से भी ज्यादा वर्ष का मानते हैं । कहने का अर्थ यह है कि जो रचनाएं या मंत्र वेद के नाम से जाने जाते हैं वे अनेकों काल तक रचे गए और यह काल इतना लम्बा था कि इसमें किसी एक स्रोत को ढूँढ़ना

असम्भव ही माना जाएगा। एक तरह से यह बात हर उस रचना के लिए लागू होती है जिसके होने में बहुत काल बीतता है, फिर चाहे वह रचना पौरुषेय हो या अपौरुषेय । कुरान की आयतें मौहम्मद साहब की ज़िन्दगी के अनेक वर्षों में उनके माध्यम से प्रकाश में आईं, यह बात स्वीकार करते ही सवाल उठता है कि आख़िर इतने लम्बे समय में जो बात कही गई थी उसमें संगति क्या है । ईसा ने जो कहा है उसके बारे में तो समस्या और भी है क्योंकि जहाँ तक बाईबिल के नए टेस्टामेंट का सवाल है उसमें तो ईसा के चार शिष्यों ने उनके जीवन की घटनाओं और जो उन्होंने विभिन्न अवसरों पर कहा था उसका वर्णन किया है । यह बात एक आदमी की न होकर चार आदमियों की है और उन लोगों ने भी मौहम्मद की तरह तभी उनका वर्णन नहीं किया जब वह उनके सामने घटीं थीं, पर ईसा की मृत्यु के बाद उन्हें स्मृति रूप में संकलित किया । एक तरह से यही बात भगवान बुद्ध और महावीर के वचनों के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है क्योंकि उनके वचनों का संकलन भी उनके शिष्यों ने ही किया और यह संकलन तो उनकी मृत्यु के कई वर्ष बाद किया गया । एक फ़र्क ज़रूरी है कि ऐसा कहा जाता है कि भगवान बुद्ध और महावीर के शिष्य जो भी वे कहते थे उसको उसके तुरन्त बाद ही उसी दिन दोहराते थे और एक प्रकार से उन्होंने उसको उसी रूप में याद रखने की अनेक विधियाँ खोजीं और अपनाईं । परन्तु प्रारम्भ से ही इसके बारे में उनमें कुछ कठिनाई तो थी ही इसीलिए बाद में उनके शिष्यों में बार-बार कुछ विरोध हुआ । पर अगर ऐसा न भी हो तो भी अपने लम्बे जीवनकाल में बुद्ध और महावीर ने जो कहा उसमें संगति की तलाश तो 'तलाश' ही होगी । वह कहाँ तक मिल पाएगी या मिल भी सकती है या नहीं यह एक विवादास्पद प्रश्न रहेगा ।

वेदों के बारे में भी यही बात सच है और ऐसा कहा जाता है कि वेदों को उसके मूल रूप में रखने के लिए याद रखने की अनेक विधियाँ अपनाई गईं । और, इन विधियों के द्वारा प्रत्येक मंत्र का वर्ण और स्वर पाठ जैसा शुरू में था वैसा ही उसे सुरक्षित रखने की कोशिश की गई । और, यह काम वेदों की अनेक शाखाओं के ज़िम्मेदार लोगों पर छोड़ा गया । आज भी जब आप द्विवेदी, त्रिवेदी, चतुर्वेदी नाम सुनते हैं तो उससे कुछ-कुछ ऐसा ही आभास होता है कि ये दो-तीन या चार वेदों के याद करने वाले हैं या, और ठीक तरह से कहें, कि ये उस कुल की परम्परा में हैं जिसके पूर्वज कभी इस प्रकार से वेदों की मौखिक रूप में रक्षा करते थे । एक तरह से यह बात भी उतनी ठीक नहीं है जितनी कि प्रथम दृष्टि में नज़र आती है क्योंकि एक तो इसमें खाली किसी एक वेद को जानने वाले की चर्चा नहीं है । दूसरी ओर यह इस भ्रान्ति पर आधारित है कि वेद केवल चार हैं, हालांकि यह भ्रान्ति काफ़ी व्यापक है क्योंकि किसी से भी पूछिए तो वह यही कहता है कि चार वेद होते हैं- ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद । पर, जो लोग यह कहते हैं उनसे यदि आप पूछें कि यजुर्वेद क्या है तो वे आपको खाली यजुर्वेद जैसे किसी ग्रन्थ को नहीं दे पाएंगे । जो भी ग्रन्थ यजुर्वेद के नाम से उन्हें पता है वह या तो शुक्ल यजुर्वेद होगा या कृष्ण यजुर्वेद । और हालांकि दोनों यजुर्वेद के नाम से जाने जाते हैं परन्तु एक दूसरे से काफ़ी भिन्न ग्रन्थ हैं, हालांकि उनके भेद को केवल यह कहकर अक्सर टाला जाता है कि एक में मंत्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं जबकि दूसरे में वे अलग-अलग मिलते हैं । पर, यह बात सच होते हुए भी पूर्ण

रूप से इनके भेद को ठीक-ठीक नहीं बताती क्योंकि ऐसा नहीं है कि इन दोनों यजुर्वेद कहे जाने वाले वेदों में जो मंत्र हैं वे एक से ही हैं, और उनमें कोई खास फ़र्क नहीं है । अगर, दोनों के मंत्रों की तुलना करें तो बहुत से ऐसे मंत्र हैं जो केवल एक में पाए जाते हैं दूसरे में नहीं ।

इन मंत्रों की संख्या इतनी अधिक है कि वास्तव में उनको दो स्वतंत्र ग्रन्थ मानना अधिक ठीक होगा । यही नहीं, ये एक ही वेद की दो शाखाएं भी नहीं कही जा सकतीं क्योंकि इनमें से प्रत्येक की स्वतंत्र शाखाएं भी हैं । यदि हम **कृष्ण यजुर्वेद** की **तैत्तिरीय संहिता** को लें और **शुक्ल यजुर्वेद** की **वाजसनेयी संहिता** से तुलना करें तथा **कृष्ण यजुर्वेद** के ब्राह्मण भागों और **शुक्ल यजुर्वेद** के **शतपथ ब्राह्मण** की तुलना करें तो यह स्पष्ट होता है कि **कृष्ण यजुर्वेद** के बहुत से मंत्रों का ब्राह्मण भाग **शुक्ल यजुर्वेद** और **शतपथ ब्राह्मण** में नहीं मिलता । **तैत्तिरीय संहिता** के कुल 651 मंत्र और ब्राह्मण भागों में से केवल 392 ही **वाजसनेयी संहिता** और **शतपथ ब्राह्मण** में मिलते हैं । यदि हम ब्राह्मण भाग को छोड़ दें (अलग कर दें) तथा केवल दोनों के उस मंत्र भाग की ही विवेचना करें जो समान हैं तो उनकी संख्या बहुत कम होगी । **शुक्ल यजुर्वेद** की **वाजसनेयी संहिता** के कुल मंत्रों की संख्या 3988 है जबकि कण्डिकाओं का योग 1975 है । इसके विपरीत कृष्णयजुर्वेद की **तैत्तिरीय संहिता** तथा ब्राह्मण भाग का कुल योग 651 ही है । अत: केवल मंत्रों की कण्डिकाओं की संख्या निश्चित रूप से और भी कम होगी । अत: **यजुर्वेद** की दोनों शाखाओं कृष्ण और शुक्ल के मंत्रों में किसी समानता की संभावना और भी कम हो जाती है । कहने का अर्थ यह है कि दोनों ग्रन्थ जो यजुर्वेद के नाम से प्रसिद्ध हैं और जिनको सारे लोग एक ही वेद मानते हैं उनमें ज़मीन आसमान का फ़र्क है । वास्तव में उनको भिन्न-भिन्न वेद ही मानना चाहिए । **शुक्ल यजुर्वेद** में **कृष्ण यजुर्वेद** से बहुत ही अधिक मंत्र हैं । इस सम्बन्ध में एक और भी ध्यान देने की बात है जिस पर प्रसिद्ध वेद विद्वान गोंडा ने हमारा ध्यानाकर्षण किया है । उसके अनुसार **शुक्ल यजुर्वेद** की **वाजसनेयी संहिता** में कालक्रम में बहुत सी चीज़ें बाद में जोड़ी गईं । वास्तव में तो शुरू के 18 अध्याय ही ऐसे हैं जो शुक्ल यजुर्वेद के पुराने कहे जाने वाले भागों से मिलते हैं। यही नहीं इन्हीं पर **शतपथ ब्राह्मण** के पहले नौ अध्यायों में चर्चा हुई है । पर अगर गोंडा की बात ठीक है, और उस पर अविश्वास करने का कोई प्रश्न नहीं उठता, तो **वाजसनेयी संहिता** के चालीस अध्यायों में से बाइस अध्याय ऐसे हैं जो बाद में जोड़े गए हैं और जिनके ऊपर उस संहिता के ब्राह्मण में कोई विशेष चर्चा नहीं की गई है । फिर इस **शुक्ल यजुर्वेद** की संहिता को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है ?

कहने का तात्पर्य यह है कि, इन एक ही समझे जाने वाले वेदों को वास्तव में अलग-अलग मानना होगा । यही नहीं जहाँ तक **सामवेद** का प्रश्न है उसके बारे में तो अक्सर सभी लोग यह मानते और जानते हैं कि उसके अधिकांश मंत्र **ऋग्वेद** से ही लिए गए हैं और अगर ऐसा है तो मंत्र की दृष्टि से उसको अलग वेद मानने का औचित्य ही क्या होगा ? **ऋग्वेद** के मंत्र केवल **सामवेद** में ही नहीं बल्कि अन्य वेदों में भी वैसे के वैसे ही पाए जाते हैं, और अगर ऐसा है, तो फिर इन मंत्रों को उन वेदों का भाग कैसे माना जाय ? अगर हम ऋग्वेद को ही आदि वेद या मूल वेद के रूप में स्वीकार करें तो उन्हीं मंत्रों को बार-बार अलग-अलग वेदों में पाए जाने

से जो समस्या उत्पन्न होती है वह समस्या एक प्रकार से स्वयं ऋग्वेद पर भी लागू होती है, क्योंकि ऋग्वेद में स्वयं ही अनेक मंत्र बार-बार दोहराए गए हैं, जैसा कि ब्लूमफील्ड ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक '**ऋग्वेदिक रेपिटीशंस**' में दिखाया है ।

इसके अलावा एक दो और बातें भी ऐसी हैं जिन पर वेद क्या है इसकी चर्चा के संदर्भ में ध्यान देना उचित होगा । पहली बात तो, प्रत्येक वेद की विभिन्न शाखाओं की है, वास्तव में एक ही वेद जो विभिन्न शाखाओं के रूप में मिलता है वह इस प्रकार का नहीं है कि उसको एक ही माना जाय, हालांकि शाखा कहने पर ऐसा प्रतीत अवश्य होता है । यदि हम उदाहरण के लिए **कृष्ण यजुर्वेद** को ही लें तो उसकी केवल **तैत्तिरीय संहिता** ही नहीं है जिसकी हमने अब तक चर्चा की है, इसकी अन्य संहिता भी हैं जो **काठक**, **कपिष्ठल** और **मैत्रायणी** संहिताओं के नाम से जानी जाती है । इस प्रकार से यह सब कृष्ण यजुर्वेद की ही शाखाएं हैं, परन्तु ज्यादातर **तैत्तिरीय संहिता** को ही लोग **कृष्ण यजुर्वेद** के रूप में मानते हैं और बाकी तीनों को उसकी शाखाओं के रूप में स्वीकार करते हैं । लेकिन इसको मानने के लिए कोई विशेष आधार प्रस्तुत नहीं किया जाता और यदि हम इन चारों को ही **कृष्ण यजुर्वेद** की शाखा मानें तो उन सबको एक ही वेद की शाखा मानने में कठिनाई अवश्य स्पष्ट दिखाई देगी । अगर हम इनको एक दूसरे से मिलाकर देखें तो **तैत्तिरीय संहिता** सात काण्डों में बंटी हुई है और प्रत्येक काण्ड में प्रपाठक हैं जिनका विभाजन अनुवाकों में किया गया है । इनमें मंत्र और ब्राह्मण दोनों सम्मिलित हैं । **काठक संहिता** में इसके विपरीत केवल स्थानक हैं जिनकी संख्या 40 है और इनको अनुवाकों में बाँटा गया है जिनमें मंत्र हैं । **कपिष्ठल संहिता** जो कुछ लोगों के अनुसार काठक लोगों की ही है, अपने में 47 अध्याय रखती है जिनके अनेक भाग हैं । **मैत्रायणी संहिता** में कुल चार काण्ड हैं जिनके अपने प्रपाठक और अनुवाक हैं और जिनमें मंत्र दिए हुए हैं । इस प्रकार प्रथम दृष्टि में ही कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन संहिताओं के, जो सब कृष्ण यजुर्वेद की शाखा मानी जाती हैं, प्रारूप भिन्न-भिन्न हैं । परन्तु यही नहीं इनमें मंत्रों और अनुवाकों की अनुपूर्वी भी अलग-अलग है । अगर हम कीथ का दिया हुआ उदाहरण लें तो **तैत्तिरीय संहिता** की 651 कण्डिकाओं में से **काठक संहिता** में केवल 490 मिलती हैं, **मैत्रायणी** में केवल 417 और **कपिष्ठल** में सिर्फ़ 229 । इस प्रकार **काठक** में **तैत्तिरीय संहिता** से 161 कण्डिका कम हैं, जबकि **मैत्रायणी** में उनकी संख्या 234 और **कपिष्ठल** में 422 कम हैं । अगर दोनों में इतना भेद है तो फिर इन्हें एक ही वेद की शाखाएं कैसे माना जा सकता है ? गोंडा ने तो यहाँ तक कहा है कि वास्तव में हमारे पास मूल **यजुर्वेद संहिता** है ही नहीं, और चूंकि आज उपलब्ध शाखाओं में इतना भेद है, हम उनके आधार पर उसका पुनर्गठन भी नहीं कर सकते, केवल कुछ अध्यायों को छोड़कर जिनका सम्बन्ध अश्वमेघ से है । असल में अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि प्रत्येक वेद के कालक्रम में अनेक शाखाएं बनती रहीं तो यही इस बात का प्रमाण है कि उस काल के ऋषि लोगों ने वेद को उस प्रकार से नहीं देखा था जिस प्रकार से आज हम देखते हैं, यानि उसमें कुछ घटाया बढ़ाया नहीं जा सकता है । अगर हम प्रचलित धारणा में विश्वास करेंगे तो **यजुर्वेद** की 101 शाखाएं मानी जाती हैं, **सामवेद** की 1000 , **अथर्ववेद** की 9 और **ऋग्वेद** की 21 । यह

ठीक है कि बहुत-सी शाखाओं के ग्रन्थ आज मिलते नहीं हैं, परन्तु पतंजलि के समय में वेदों की शाखाओं के बारे में इस प्रकार की बात प्रसिद्ध थी और उससे ही यह सिद्ध होता है कि उसके काल में वेदों के बारे में जो मान्यता थी वह आज की मान्यता से मूलतः भिन्न है ।

शाखा भेद से जो संहिता भेद उत्पन्न होता है उसकी ओर अभी तक ध्यान कम ही दिया गया है क्योंकि उस पर ध्यान देने से जिसे हम श्रुति कहते हैं उसके प्रामाण्य के बारे में अनेक समस्याएं उत्पन्न होती हैं जिनका निराकरण असम्भव सा ही लगता है। किन्तु परम्परा में जो लोग इस ओर ध्यान नहीं देते उन लोगों की यह तो समस्या है ही कि चारों संहिताओं में आपस में क्या सम्बन्ध है क्योंकि यह तो सर्व विदित ही है कि सामवेद में उसका अपना कोई स्वतंत्र मंत्र नहीं है और जहाँ तक अथर्ववेद का प्रश्न है अन्य तीन वेदों की अपेक्षा उसका स्थान अन्य तीनों वेदों से कम ही माना जाता है । आज भी अगर हम हौंडा की बात को सच मानें तो भारत में कुछ स्थानों पर वेदपाठी ब्राह्मण अथर्ववेद के मानने वाले ब्राह्मणों से शादी आदि का व्यवहार नहीं करते । यह अपने आप में इतनी हास्यास्पद बात है कि मूल वैदिक संहिता को मानने और जानने वाले ब्राह्मण स्वयं में ही इतना भेदभाव करते हैं और अपने में ही ऊंच-नीच का इस हद तक व्यवहार करें कि आपस में विवाह आदि भी करना अच्छा नहीं मानें । यह उस श्रुति में शामिल होने वाले वेदों की महिमा को कैसे अक्षुण्ण रख सकता है ?

वेद की समस्या खाली संहिताओं तक ही सीमित नहीं है हालाकि उनके सम्बन्ध में जो हमने ऊपर कहा है उससे भी गहरी समस्या मंत्र को लेकर है जो वेद का प्राण ही समझा जाता है । मंत्र का क्या लक्षण दिया जाए, किसको मंत्र कहा जाये, इस बारे में सहमति नहीं है । सायण ने, जो विजयनगर राज्य के प्रसिद्ध विद्वान थे, इस प्रश्न पर गहरा विचार करके अपना अंतिम मन्तव्य भी यही दिया था कि वास्तव में मंत्र का कोई लक्षण दिया ही नहीं जा सकता, क्योंकि जो भी लक्षण देखें उसमें या तो अतिव्याप्ति दोष होंगे या अव्याप्ति दोष । कहने का मतलब यह है कि कोई भी लक्षण मानने या बनाने पर या तो ऐसे वाक्यों को मंत्र कहना पड़ेगा जो मंत्र हैं ही नहीं या जो स्पष्ट रूप में मंत्र हैं उनको भी मंत्र की कोटि से हटाना पड़ेगा । अपने प्रसिद्ध ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में उन्होंने इस पर गहरा विचार करके आख़िर में यही कहा कि जिसे याज्ञिक मंत्र कहते हैं वही मंत्र है । पर, यह तो हार मानने जैसी बात है, समस्या का कोई निराकरण नहीं है । इससे तो श्रुति के मूल पर ही आघात होता है और ऐसा लगता भी है क्योंकि संहिताओं के अलग-अलग सम्पादित किए हुए ग्रंथों को देखने पर पता चलता है कि उनमें दिए गए मंत्रों की संख्या एक ही नहीं है, बल्कि भिन्न-भिन्न है । और यह भेद इसी कारण उत्पन्न होता है कि हम किस स्थान पर एक मंत्र समाप्त हुआ है और दूसरा मंत्र प्रारम्भ, यही निश्चय नहीं कर पाते और सम्पादक जिसने सम्पादन किया है उसने अपनी मर्ज़ी से ही यह फैसला किया है कि मंत्र का कहाँ प्रारम्भ समझा जाए और कहाँ समाप्ति । इससे जो समस्या उत्पन्न होती है उसके बारे में परम्परा में कोई विशेष चर्चा नहीं हुई प्रतीत होती है और आज भी करीब-करीब वैसी ही बात है क्योंकि विद्वान लोग अधिकतर ऐसी बातों को स्वयं करने से कतराते हैं जिनसे किसी संस्कृति की मूल मान्यताओं पर

भी गहरा आघात होता है । पर समस्या केवल संहिताओं की ही नहीं है, वह तो ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों तक भी फैली हुई है ।

पहली समस्या तो यह है कि जो ग्रन्थ ब्राह्मण आरण्यक या उपनिषदों के नाम से जाने जाते हैं उनमें कोई स्पष्ट भेद करना कठिन है क्योंकि बहुत से ग्रन्थ एक से अधिक कोटि में परम्परा द्वारा ही रखे जाते हैं । जैसे जैमिनीय ब्राह्मण उपनिषद् या बृहदारण्यक उपनिषद् जिनके नाम में ही ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों सम्मिलित हैं, इसी तरह से कुछ ग्रन्थ जो शुद्ध रूप में ब्राह्मण समझे जाते हैं उनमें अनेकों चर्चाएं इस प्रकार की हैं जो उपनिषदों में मिलती हैं । मिसाल के तौर पर, जैमिनीय ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य से अनेक प्रश्न पूछे जाते हैं जो कुछ-कुछ वैसे ही हैं जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलते हैं । यही नहीं बहुत सारे उपनिषद् वास्तव में संहिताओं या ब्राह्मण या आरण्यक का ही भाग है जिन्हें अलग करके उपनिषद् का नाम दे दिया गया है । ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यक का ही एक हिस्सा है और यही बात कई अन्य उपनिषदों के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है । ईशोपनिषद् जैसा सर्वविदित है, शुक्ल यजुर्वेद का ही भाग है । इस प्रकार से उपनिषद् वास्तव में एक संकलन हैं जो किसी न किसी समय ब्राह्मणों, आरण्यकों या संहिताओं से अलग किये गए थे, परन्तु अधिकांश लोग आज उनको स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते प्रतीत होते हैं । यदि हम उन ग्रन्थों को देखें जिनमें से वे संकलित किए गए हैं तो कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि संकलनकर्ता ने उन अंशों को जानबूझकर छोड़ दिया है जो मूल ग्रन्थ में अपने को उपनिषद् के नाम से कहते हैं । ऐतरेय उपनिषद् के साथ कुछ ऐसा ही हुआ है क्योंकि एतरेय आरण्यक का वह अंश जो अपने को विशिष्ट रूप में उपनिषद् कहता है उसको संकलनकर्ता ने ऐतरेय उपनिषद् में जानबूझकर शामिल नहीं किया और कुछ अन्य अंशों को जिन्हें वहाँ उपनिषद् कहने की बात ही नहीं उठती, उनको ऐतरेय उपनिषद् के नाम से जाने जानेवाले ग्रन्थ में शामिल किया गया है ।

उपनिषद् कहे जाने वाले ग्रन्थों के बारे में तो एक और भी समस्या है जिसकी ओर विद्वानों ने बहुत कम ही ध्यान दिया है और वह यह कि उपनिषद् कहे जाने वाले ग्रन्थ करीब-करीब 13 वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे हैं, जिसका आशय यही है कि परम्परा में उपनिषद् की कोटि में रखने वाले ग्रन्थों पर कोई पाबन्दी नहीं थी और जिसकी भी मर्ज़ी आती थी वह उपनिषद् की रचना कर सकता था और इस पर किसी को कोई विशेष आपत्ति नहीं थी ।

यह बात उन लोगों के लिए और भी परेशान करने वाली हो सकती है जो उपनिषदों को श्रुति की कोटि में ही नहीं रखते बल्कि उनको वेद के संहिता भाग से भी अधिक महत्त्व देते हैं ।

उपनिषदों को ही श्रुति के रूप में स्वीकार करने वाली परम्पराओं के सामने अनेक प्रश्न उठते हैं । पहला तो यह कि किन उपनिषदों को श्रुति का अंग माना जाये, क्योंकि उपनिषदों की संख्या 108 तक मानी जाती है और इनमें से कुछ उपनिषद तो 13वीं शताब्दी तक लिखे गए हैं । इन उपनिषदों के लिखने की परम्परा से ही ऐसा मालुम होता है कि उपनिषदों को श्रुति का स्थान सब को स्वीकार्य नहीं था, वरना लोग उपनिषद नामक ग्रन्थ क्यों लिखते रहते और ऐसा भी नहीं मालुम होता कि इस लेखन के खिलाफ़ कोई जोरदार आवाज़ उठाई गई हो । यह बात इस संदर्भ

में और भी महत्व की जान पड़ती है कि यह तो आश्चर्य की बात रहेगी ही कि आचार्य शंकर के बाद भी कम से कम 600 साल तक उपनिषद लिखे जाते रहे हैं और उनकी गणना उपनिषदों में की जाती रही है ।

इन सब तथ्यों से कम से कम इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वेद को भारतीय दर्शन का आदि मूल ग्रन्थ मानने वाले लोगों ने इन बातों पर अधिक ध्यान नहीं दिया और इससे जो समस्याएं उत्पन्न होने वाली हैं उनकी ओर अपने पाठकों को एक तरह से या तो पूर्णरूपेण अनभिज्ञ रखा है या गुमराह किया है । ज़रूरत इस बात की है कि वेदों के नाम से अभिहित होने वाले ग्रन्थ-परिवार नये सिरे से सम्पादित किए जाएं और उनको ऐसे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया जाय जिसमें कालक्रम और विषयवस्तु दोनों का विचार सम्मिलित हो । पर जब तक ऐसा नहीं होता तब तक ऐसी कुछ बातें तो साफ़ हैं ही, जो उन दृष्टियों से सम्बन्धित है जिन्होंने एक प्रकार से भारतीय संस्कृति को दिशा दी है और इस तरह जो भारतीय दर्शन के मूल में भी काफी हद तक व्याप्त मानी जा सकती हैं ।

पहली बात जो किसी भी मूल संहिता को पढ़ने वाले को आश्चर्य में डाल देती है, वह है वेद का खुलापन और उसका स्वतंत्र चिन्तन । ऋग्वेद के 10 वें मण्डल में ऐसे कई प्रसिद्ध स्थल हैं जो किसी को भी आश्चर्यचकित किये बगैर नहीं रह सकते । 'नासदीय' सूक्त को ही लें , तो जरा सोचिए कि वह यह बात करता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से पहले क्या था; सत् था या असत् । पर वेद का ऋषि जो इस प्रकार का चिन्तन कर रहा था उसे सहज रूप में यह लगा कि न तो हम उसको सत् कह सकते और न असत्, क्योंकि उसे सत् कहने पर तो यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि के पहले भी कुछ था । पर, हम तो सृष्टि के प्रारम्भ की ही बात कर रहे हैं, इसलिये ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? लेकिन इसलिए क्या उसे असत् कहा जा सकता है? ऐसा भी कहना मुश्किल है क्योंकि उसमें सृष्टि को उत्पन्न करने की क्षमता तो माननी ही पड़ेगी । इसलिए वेद का ऋषि कहता है कि न वह सत् है और न असत्, या कम से कम हम उसको इन कोटियों में नहीं रख सकते। इस प्रसिद्ध ऋचा का अंत तो और भी आश्चर्य में डाल देने वाला है क्योंकि वह यह कहकर समाप्त होता है कि जो सत्-असत् के परे है या जिसको हम परम् सत् कह सकते हैं, शायद वही जानता होगा कि सृष्टि के प्रारम्भ से पूर्व क्या था। पर इतना कहने के बाद ऋषि अपने चिन्तन को यह कहकर समाप्त करता है कि शायद वह भी नहीं जानता । ज़रा सोचिए कि एक मूल श्रुति के रूप में माने जाने वाले ग्रन्थ में इस प्रकार का चिन्तन हो और यह बात कि भाषा उस चरम सत् के बारे में जो भी कहेगी वह अपूर्ण ही नहीं, बल्कि भ्रम पैदा करने वाला भी होगा भारतीय मानस में इतना गहरा पैठ चुका है कि आज भी वह चरम सत् के बारे में किसी भी वर्णन को लक्षणा या व्यंजना के रूप में मानता है, अभिधा के रूप में नहीं और सारे लक्षण उसे, जैसे हम बाद में देखेंगे, तटस्थ रूप में ही स्वीकार होते हैं ।

'नासदीय' सूक्त कोई अकेला नहीं है । 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्' से प्रारम्भ होने वाली ऋचा में भी वही ध्वनि प्रतिध्वनित होती है कि हम किस देवता को हवि दें या किसकी

आराधना करें या किसकी पूजा करें? यह प्रश्न उठाने वाला ऋषि भी कुछ-कुछ वैसा ही लगता है जैसा सृष्टि के प्रारम्भ के पहले क्या था, यह जानने की चेष्टा करने वाले ऋषि । यह ठीक है कि पहले ने अपने चिन्तन का अंत एक चरम प्रश्नचिन्ह में समाप्त किया था, दूसरे ने एक निश्चित उत्तर देने की कोशिश की और यह कहा कि जो प्रजापति है उसको हमें हवि देनी चाहिए या उसकी आराधना या पूजा करनी चाहिए । पर, अगर हम सोचें कि प्रजापति का अर्थ क्या है तो ऐसा लगेगा कि दूसरे ऋषि भी कुछ बहुत अलग बात नहीं कह रहे हैं क्योंकि प्रजापति का अर्थ यह होता है कि जो प्रजा यानि सृष्टि है या जो सृष्ट है उसका कर्ता, यानि वही जिसे न सत् से इंगित किया जा सकता है, न असत् से । पर एक भेद अवश्य है । 'नासदीय' का ऋषि जानना चाहता है। वह दार्शनिक है, उसके मन में दर्शन का आदि स्रोत है क्योंकि यदि जिज्ञासा नहीं हो तो दर्शन नहीं हो सकता और शंका/संदेह न हो तो भी दर्शन नहीं हो सकता । इससे भिन्न दूसरा ऋषि जानना नहीं चाहता वह तो यह पता लगाना चाहता है कि हम किसकी आराधना करें, किसकी पूजा करें या किसको हवि दें और वह इस बात की ओर इशारा करता है कि मनुष्य में केवल जानने की इच्छा ही नहीं है, बल्कि यह भी है कि वह अपने को किस के लिए समर्पण करे या कोई जो उससे भी परे है उसके प्रति जो कुछ भी उसके पास अच्छा है, शिव है, सुन्दर है उसे उसके चरणों में समर्पित करे और यह भावना इतनी बलशाली है जितनी जानने की । दोनों को मिलाकर ही मनुष्य सम्पूर्ण बनता है । पर केवल इन दोनों से ही काम नहीं चलेगा क्योंकि मनुष्य का एक पक्ष क्रियापरक या कर्म परक भी है । जिसकी चर्चा हम अभी करेंगे पर इस संदर्भ में यह जो समर्पण करने की भावना है इसका अंत कम से कम संदेह या शंका में नहीं हो सकता। इसका उत्तर तो वही होगा जो ऋषि ने दिया था । जो भी है, और कुछ तो है ही उसी के प्रति हम अपना समर्पण करें। कोई यह कह सकता है कि हवि की बात केवल पूजा आराधना की नहीं है, शुद्ध समर्पण की नहीं है, बल्कि कुछ ऐसा देने की बात है जिसके बदले में मनुष्य उस परम शक्ति से कुछ चाहता है । यह ठीक भी है । वेद में वर्णित अनेकानेक यज्ञ अनेक ऐसी वस्तुओं की प्राप्ति के लिए बताए गए हैं जो मनुष्य की सुख-सुविधा से सम्बन्धित हैं । पर यह सब ठीक होते हुए भी, यह भी उतना ही ठीक है कि मनुष्य के गहरे से गहरे प्रश्न में एक उस चरम सत् से सम्बन्ध स्थापित करने की लालसा है जो विश्व के पीछे या परे प्रतीत होती है और काफी हद तक ऋषि का चिन्तन उसकी ओर इशारा करता है और फिर आदमी मांगे भी तो किससे? जो चरम रूप में उसका सृष्टा है, जिसको वह माता-पिता कहकर सम्बोधित करता है उसी से तो मांगेगा, तो इस गौण अर्थ में ऐसी कोई खास गलती नहीं है । दोनों ही तरह से 'कस्मै देवाय हविषा विधेम्' मनुष्य की दोनों ही तरह की लौकिक और पारलौकिक, ज़रूरतों की ओर इशारा करता प्रतीत होता है ।

शुद्ध जिज्ञासा जो मनुष्य को यह सवाल उठाने पर मजबूर करती है कि आख़िर यह सृष्टि जो निरन्तर परिवर्तनशील है उसके मूल में क्या है और जब मनुष्य की चेतना में उस अचिन्तनीय विराट का आभास होता है तो उसके प्रति जो भावनाएं उसके मन में उदय होती हैं उन दोनों के अलावा एक कर्म करने की ऐसी प्रबल प्रवृत्ति है जिसपर चिन्तन का मूल भी हमें वेदों में मिलता है । कर्म पर चिन्तन शायद सब से अजीब चीज़ है क्योंकि कम से कम ज्ञान यह पूर्व

मान्यता करता है कि स्व-रूप कोई विषयवस्तु है जिसके ज्ञान की मनुष्य इच्छा करता है और जिसके अपने स्वयं के रूप से उसके ज्ञान की सत्यता या असत्यता निर्धारित होती है । कर्म में तो ऐसा बिल्कुल नहीं है क्योंकि कर्म तो किसी ऐसी वस्तुस्थिति को चरितार्थ करने की चेष्टा या प्रयत्न है जो उस प्रयत्न या चेष्टा के बगैर उत्पन्न हो ही नहीं सकती । न्याय की शब्दावली में कहें तो मनुष्य का संकल्प ही उसका करण है, वह चाहे शुद्ध 'निमित्त' ही क्यों न हो । पर संकल्प के अलावा मनुष्य में एक ऐसी कल्पना शक्ति भी माननी पड़ेगी जो किसी ऐसी वस्तुस्थिति का चिन्तन करती है जो वास्तव में अभी प्रतिफलित नहीं हुई है और जो एक तरह से उसे 'प्रेय' और 'श्रेय' दोनों लगती है । इन दोनों में विरोध हो सकता है, पर मनुष्य की इच्छा तो यही है कि जिसे वह कर्म के द्वारा चरितार्थ करता है वह प्रेय और श्रेय दोनों ही हो ।

वेद के अनुसार कर्म के द्वारा ही मनुष्य अपने को उस चरम सत से जोड़ता है जिसको जानने की जिज्ञासा सहज रूप में उसके ज्ञान पक्ष में उदय होती है और जिससे वह भावना के द्वारा भी सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है । पर कर्म का यह सम्बन्ध बड़ा अजीब सा है क्योंकि कर्म पर 'औचित्य' और 'श्रेय' दोनों का समान अधिकार प्रतीत होता है । पर ये दोनों ही मनुष्य को उसको उपलब्ध साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं होते क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान जो कि दो शक्तियाँ मनुष्य के पास किसी भी चीज़ को जानने की होती हैं वह न तो कर्म का औचित्य ही स्थापित कर सकती हैं और न यह कि श्रेय क्या है । इसलिए या तो मनुष्य में ही कोई ऐसी शक्ति माननी पड़ेगी जो उसको यह बता सके कि उचित क्या है और श्रेय क्या, या फिर प्रत्यक्ष और अनुमान के अलावा ज्ञान का कोई अन्य स्रोत मानना पड़ेगा जो उसे यह बता सके । वेद में इस प्रश्न को अनेकों प्रकार से उठाया गया है और ऐसा कहने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य के अन्तर में जो देवता हैं वह मनुष्य को औचित्य और श्रेय का ज्ञान देते रहते हैं और उन्हीं के द्वारा मनुष्य को यह पता लगा है कि उसे क्या करना चाहिए । आगे चलकर लोगों ने 'वेद' को ही इस तरह के ज्ञान का स्रोत माना और उसको 'शब्द' प्रमाण कहकर इंगित किया ।

कर्म पर विचार का एक नया क्रम जो वेदों में मिलता है वह यज्ञ के नाम से सुपरिचित है । यज्ञ का विधान वेदों में मिलता है और ये यज्ञ अनेकों प्रकार के हैं, परन्तु यज्ञ रूप में कर्म का लक्षण यही माना जा सकता है कि वह मूल रूप में एक ऐसी सार्वजनिक क्रिया है जिसमें सब लोग मिलकर कुछ 'देते' हैं और जिसका 'फल' ऐसा है जो उसमें भाग लेने वाला कोई भी व्यक्ति अपनी खुद की कोशिश से नहीं पा सकता था । त्याग की भावना और मिलकर काम करना यज्ञ के दो ऐसे अंग हैं जो कर्म पर चिन्तन के लिए विशेष महत्व रखते हैं । यज्ञ का दूसरा एक अंग यह भी माना जा सकता है कि इस प्रकार का कर्म एक विशेष रूप लिए हुए होता है जिसमें कर्मों के विभिन्न अंग एक ऐसी संरचना करते हैं जो स्वयं में मनुष्य को ऐसी पूर्णता का आभास दे जिसमें सत, शिव और सुन्दर तीनों का समावेश मिलता है । पर यह सब ठीक होते हुए भी इस संदर्भ में यह नहीं भूल जाना चाहिए कि बहुत सारे यज्ञ मनुष्य की छोटी-छोटी कामनाओं की सिद्धि के लिए किए जाते थे । यहाँ तक कि अपने शत्रु को मारने के लिए भी वेद में यज्ञ की विधि बताई गई है । दूसरी ओर अन्य ऐसे कई यज्ञों में पशु की बलि भी दी जाती थी । इसके संदर्भ में बाद में यह

बहस बहुत हुई कि जब वेद में हिंसा की निन्दा है तो फिर वही वेद हिंसा को कैसे स्वीकार कर सकता है । आज के कुछ लोग तो यह भी नहीं मानते कि यज्ञ में जो पशु बलि का विधान है वहाँ 'पशु' से वास्तव में अर्थ जीते-जागते पशु से लिया गया या किसी अन्य से ।

पर, यह मान भी लें कि पशु के अर्थ में आने वाले शब्दों का वास्तव में अर्थ कुछ और ही है तब भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि जैमिनि से लेकर सायण तक बहुत से लोग यह मानते थे कि बहुत से यज्ञों में पशु बलि का विधान वेद करते हैं और इसी को सच मानकर वे यज्ञों में पशु बलि भी करते थे । यह बात इससे और भी पुष्ट होती है कि इस संदर्भ में हिंसा के बारे में जो वाद-विवाद हुआ उसमें यह कहा गया कि यज्ञ के संदर्भ में की गई हिंसा वास्तव में 'हिंसा' है ही नहीं ।

यज्ञ के संदर्भ में केवल 'हिंसा' की ही बात नहीं है, बल्कि जो और भी महत्व की बात है वह यह है कि यज्ञ की विधि क्या है ? क्योंकि यज्ञ तभी सफल माना जा सकता है, जब वह ब्राह्मण ग्रन्थों में बताई गई विधियों के अनुसार किया जाए । इस विधि में कोई भी कमी हो तो यज्ञ का फल मिलने में बाधा हो सकती है । यही नहीं कुछ लोग तो ऐसा भी कहते हैं कि ऐसा होने से उसका फल उल्टा भी हो सकता है । इसी संदर्भ में जैमिनि के मीमांसा सूत्रों का महत्व माना जाता है क्योंकि वहाँ यज्ञों की विधि के बारे में सम्पूर्ण रूप से विचार किया गया और अनेक स्थानों पर मूल ग्रन्थों में पाए जाने वाले अन्तर्विरोधों को दूर करने की कोशिश की गई । यही नहीं उन्होंने प्रत्येक यज्ञ की विधि को भी निश्चित रूप दिया और इसलिए वेद की कर्मकाण्ड व्याख्या की जिसके कि वे प्रधान स्रोत माने जाते हैं और चूंकि यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण होता है इसलिए यज्ञ में वर्णानुपूर्वी स्वरानुपूर्वी और क्रियानुपूर्वी एक तरह से अनिवार्य हैं क्योंकि इनके बगैर यज्ञ का फल मिलना अनिश्चित है । परन्तु जैमिनि ने अपने मीमांसा सूत्रों में यज्ञों की विधियों को एक सुनिश्चित रूप देने के संदर्भ में उन अन्य विधियों का खण्डन किया जो उनके पूर्ववर्ती ऋषि मानते थे और जिनका नाम उन विधियों से यहाँ तक जुड़ा हुआ था कि जैमिनि ने उनका नाम लेकर ही उन विधियों का खण्डन किया है । पर, अगर ऐसा है तो यह मानना पड़ेगा कि जैमिनि के पहले जो यज्ञ किए जाते थे वे उनके अनुसार ठीक नहीं थे और जिन लोगों ने किया वे पाप के भागी हुये, या कम से कम उन्हें उस फल की प्राप्ति नहीं हुई जिसकी वजह से उन्होंने वे यज्ञ किए थे । एक बात और जो ध्यान देने की है वह यह कि मंत्र क्या है इसमें भी भेद है और सायण ने अपने ऋग्वेद भाष्य की भूमिका में यहाँ तक कह डाला है कि मंत्र का कोई लक्षण दिया ही नहीं जा सकता क्योंकि जो भी लक्षण देंगे, उसमें अव्याप्ति या अतिव्याप्ति दोष होंगे । इसलिए जिसे याज्ञिक मंत्र कहते हैं वही मंत्र है या उसे ही मंत्र माना जाना चाहिए ।

पर याज्ञिकों की बात करते ही एक अन्य समस्या उत्पन्न होती है, और वह यह कि याज्ञिक कौन है? वास्तव में जो यज्ञ करते हैं या कराते हैं वे कोई ग्रन्थों को मानने वाले नहीं होते । वह तो वही विधि स्वीकार करते हैं जो उनके अपने वर्तमान में स्वीकृत होती है । कुछ दिन पहले इस विषय के प्रसिद्ध विद्वान फ्रिटज स्टॉल ने केरल में एक परम्परा गत यज्ञ आयोजित किया था जिसका उन्होंने अपने ग्रन्थ 'अग्नि' में वर्णन किया है और जिसकी फिल्म भी बनाई थी । यह यज्ञ

केरल के प्रसिद्ध नम्बूदरि ब्राह्मणों द्वारा कराया गया था और स्टाल के अनुसार जब वहाँ उन लोगों को यह बताया गया कि उनकी अपनाई गई विधि और वह विधि जो श्रौत सूत्रों में वर्णित है उसमें भेद है तो वे अपनी विधि को ही ठीक मानकर यज्ञ करते रहे ।

इससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक यज्ञों की असली विधि तो वह थी जो याज्ञिक अपनी परम्परा के अनुसार करते थे, न कि वह जो श्रौत सूत्रों में बताई गई थी और चूंकि ये परम्पराएं देश, काल और कुल के भेद से अलग-अलग रही होंगी इसलिए इनके अनुसार होने वाले यज्ञ, वैदिक यज्ञ कहे जाने पर भी एक से नहीं होंगे । विधियों की यह विविधता यज्ञ के 'श्रुतिपरक' होने पर कहाँ तक असर डालती है, यह सोचने की बात है । पर इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि खुद श्रौत सूत्रों में भी कुछ ऐसी विधियों का वर्णन है जो नियमों के संदर्भ में भिन्न प्रकार की कही गई हैं । बौधायन श्रौत सूत्र का वह अंश, जो द्वैध सूत्रों के नाम से जाना जाता है, उन विधियों का वर्णन करता है जो उसकी अपनी बताई गई विधियों से भिन्न है, परन्तु जो उस सूत्र की परम्परा को मानने वाले कुछ अन्य लोग उसके स्वयं के अनुसार पालन करते हैं । इससे ज्यादा अचम्भे की बात क्या हो सकती है कि बौधायन की अपनी परम्परा में ऐसे लोग हों जो उसकी बताई गई विधियों को नहीं माने और कुछ अन्य विधियों का पालन करें और इन विधियों का वर्णन स्वयं बौधायन श्रौत सूत्र में सम्मिलित किया जाय। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि ये विधियाँ विकल्पों के रूप में नहीं दी गई हैं यानि उस रूप में जहाँ श्रुति के अनुसार कई स्थानों पर स्वयं विकल्प की व्यवस्था दी गई है । जैसा कि जैमिनि ने कई बार कहा है, पर यह तो विकल्प नहीं होकर ऐसी विधियों का वर्णन है जिन्हें कुछ अन्य लोग अपनाते थे कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार की जैमिनि ने अनेक अपने पहले के ऋषियों की यज्ञ से सम्बन्धित विधियों का वर्णन किया है और जिनका उसने अपने मीमांसा सूत्र में खण्डन भी किया है ।

अवैदिक परम्परायें

इस सब से जो एक बात स्पष्ट होती है वह यह कि वेद शब्द से बताए जाने वाले ग्रन्थ और उनमें कही गई बातों के बारे में न साम्य है और न कोई निश्चितता । और इसलिए जो लोग श्रुति-प्रामाण्य या वेद प्रामाण्य की बात करते हैं वे सब इसको भुलाकर ही कर पाते हैं । सच तो यह है कि वेद केवल शब्द मात्र रह गया है और कोई यह जानने की भी चेष्टा नहीं करता कि परम्परा में इसका प्रयोग किस तरह से किया गया है, और किन स्वार्थों की सिद्धि के लिए । 'स्वार्थ' का अर्थ यहाँ आज के प्रचलित अर्थ में न होकर केवल उस 'अर्थ' से है जो 'स्व' को स्वीकार हो या मान्य हो । 'वेद' शब्द से इंगित किए जाने वाले इस विशाल साहित्य के किस अंश को प्रामाण्यता दी जाय और उसको किस अर्थ में लिया जाय, यह हरेक के 'स्व' पर निर्भर करता प्रतीत होता है। शायद भारतीय परम्परा की यही महत्ता है कि उसके प्रारम्भ से प्रामाणिक माने जाने वाले ग्रन्थ के विषय में भी इतनी छूट दे दी गई । जो न बिचारे कुरान को मिली है, और न बाईबिल को । इसलिए जो लोग 'वेद' को इनके जैसा मानते हैं, वे 'वेद' के सम्बन्ध में इस मूलभूत भेद को भुला कर ही ऐसा कहते हैं ।

पर, वेद के बारे में कितनी ही अनिश्चितता हो इतना तो निश्चित ही है कि प्रारम्भ से ही कई परम्पराएं अपने को अवैदिक मानती थीं और उनसे सम्बद्ध परम्परा का खुलकर विरोध करतीं थीं। बुद्ध और महावीर इन अवैदिक परम्पराओं के प्रणेता माने जाते हैं और इनका समय ईसा की छठी शताब्दी पूर्व समझा जाता है । इन्होंने बौद्ध और जैन परम्पराओं का प्रवर्तन किया और बौद्ध और जैन दर्शन के रूप में मानी जाने वाली परम्पराओं को 'नास्तिक' दर्शन का नाम दिया जाता है। इनमें से जैन परम्परा तो महावीर के पहले से ही प्रचलित मानी जाती है जबकि बौद्ध परम्परा का जन्म बुद्ध से ही प्रारम्भ समझा जाता है । महावीर से पहले भी अनेक तीर्थंकर हुए थे और उस परम्परा के सब से पहले तीर्थंकर, जिनको ऋषभदेव कहा जाता है, का वर्णन स्वयं वेद में मिलता है । स्वयं महावीर के समय में उनके पहले के तीर्थंकर जिनका नाम पार्श्वनाथ था उनके अनुयायियों का प्रसंग मिलता है । परन्तु यदि यह सत्य है तो अवैदिक परम्परा का प्रारम्भ महावीर से बहुत पहले मानना होगा और अगर ऋषभदेव का वर्णन स्वयं वेद में है तो वेदो में ही अवैदिक धाराओं के वर्णन मिलते हैं, ऐसा मानना होगा । यह ठीक है कि वेद में ऋषि और मुनि का भेद किया गया है। परन्तु इस भेद को वैदिक अवैदिक रूप में स्वीकार करने का कोई आधार नहीं मिलता । महावीर से पूर्व की जैन परम्परा क्या थी और उसका वैदिक परम्परा से क्या सम्बन्ध था इस बारे में किसी विश्वस्त आधार के अभाव में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता, पर जहाँ तक बुद्ध और महावीर के समय से प्रारम्भ होने वाले युग की बात है उसके बारे में इतना तो निश्चित ही है कि उस से एक ऐसी परम्परा का प्रारम्भ होता है जो अपने को अवैदिक मानती है और जो वैदिक परम्परा के प्रधान स्तम्भ माने जाने वाले यज्ञ और वर्ण व्यवस्था का विरोध करती है, ये परम्पराएं श्रमण परम्परा के नाम से भी जानी जाती हैं क्योंकि यह विश्वास किया जाता था कि चरम सत्य की खोज गृहस्थ और समाज को छोड़कर ही की जा सकती है । स्वयं बुद्ध और महावीर ने गृहस्थ आश्रम का ही त्याग नहीं किया, परन्तु राज्य और समाज की जिम्मेदारी को भी छोड़ा था । बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण अपने आप में जगत प्रसिद्ध ही है परन्तु महावीर ने भी ऐसा ही किया था वे दोनों ही क्षत्रिय कुल के राज परिवार में जन्मे थे और समाज तथा राज्य का पालन करना उनका जन्मजात उत्तरदायित्व था। यही नहीं, उन्होंने विवाह भी किया था और उनकी संतानें भी थी, परन्तु इन सब धर्मों का त्याग कर सत की खोज में उन्होंने गृहस्थ, समाज व परिवार इन तीनों का त्याग किया और इसी प्रकार उन्होंने ऐसी परम्परा को जन्म दिया जिसमें यह सहज स्वीकार था कि चरम सत्य की खोज इन सब को छोड़कर ही की जा सकती है । इसके विपरीत वेद परम्परा में ऐसी कोई परिपाटी नहीं थी । यह ठीक है कि याज्ञवल्क्य ने अपनी दो स्त्रियों मैत्रेयी और कात्यायिनी से यह कहा था कि अब वे संसार छोड़ना चाहते हैं और इसलिए वे अपनी सब चीज़ों का उन दोनों के बीच बंटवारा करना चाहते हैं । परन्तु गृहस्थाश्रम का यह त्याग किस सत्य की प्राप्ति के लिए था, क्योंकि उनको तो सत्य का ज्ञान पहले ही हो चुका था और उपनिषद की कथा के अनुसार तो वह मैत्रेयी को यह ज्ञान भी प्रदान करते हैं क्योंकि उसने उनसे उस ज्ञान को मांगा था जिससे अमृत की प्राप्ति हो ।

यद्यपि बुद्ध और महावीर दोनों एक ही समय हुए थे, महावीर बुद्ध से कुछ बड़े थे और दोनों ने ही वेद विरोधी परम्पराओं का आरम्भ किया, लेकिन उन दोनों में भी बहुत गहरा मतभेद था। यह आश्चर्य की बात है कि यद्यपि दोनों एक ही समय में हुए थे और करीब-करीब एक ही देश में अपने-अपने मतों का प्रचार करने के लिए घूमते थे, परन्तु ऐसा कोई वर्णन नहीं मिला कि उन्होंने आपस में कभी कोई अपेक्षा की हो। हाँ उनके शिष्यों में परस्पर वार्तालाप की बात तो आती है, पर वह एक दूसरे के समुदाय के निन्दा के सम्बन्ध में मिलती है। यही नहीं बुद्ध तो महावीर के प्रति अनेक बार अवज्ञासूचक वचन भी कहते हैं और ऐसा भी कहते हैं कि पिछले अनेक जन्मों में उसने उनका विरोध किया था। इसके विपरीत कम से कम जो कथाएं उपलब्ध हैं उनमें महावीर ने कभी बुद्ध के बारे में कहा हो ऐसा प्रमाण नहीं मिलता। इससे भी अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि यद्यपि दोनों ने संस्कृत भाषा को त्यागकर आम लोगों की बोलचाल में आने वाली भाषा का प्रयोग किया था, पर दोनों के वचन आज जिन भाषाओं में उपलब्ध हैं वे अलग-अलग है। बुद्ध वचन पाली भाषा में मिलते हैं जबकि महावीर के वचन प्राकृत में पाए जाते हैं। इस भेद के लिए कोई ऐसा उत्तर नहीं मिलता जो बुद्धि को सहज रूप में स्वीकार हो। यही नहीं उन्होंने जो उपदेश दिये थे उनमें भी गहरा भेद प्रतीत होता है। बुद्ध ने जहाँ एक ओर किसी भी स्थायित्व तत्व की सत्ता का खण्डन किया था और अभी-अभी के रूप में दिखने वाली अनेक वस्तु के सम्पूर्णत्व को यह कहकर खण्डन किया था कि वे वास्तव में अवयंवों यानि अपने अनेकानेक अंगों के संघात मात्र है और उनमें जो एकत्व दिखाई देता है वह वास्तव में यह न दिखने के कारण है कि वे किन अवयवों के संयोजन से बने हैं। वास्तव में अगर सोचें तो साधारण अनुभव की बात है अगर किसी भी चीज़ को स्वयं उसके अपने ऊपर छोड़ दिया जाय तो वह धीरे-धीरे खण्ड-खण्ड रूप में नष्ट हो जाती है और फिर उसका ऐसे स्थान में विलय हो जाता है जिसके बारे में यह कहना कठिन है कि वह क्या है। उसका कोई रूप ही नहीं प्रतीत होता। इसके विपरीत महावीर ने द्रव्य और पर्याय का भेद किया और देश काल भी इसी द्रव्य को मान केवल पर्याय में ही परिवर्तन माना। एक प्रकार से वेद चिन्तन की धारा में द्रव्य अर्थात् चरम सत की प्रधानंता है, परन्तु उसमें उस सत के स्थायित्व में और उसकी विभिन्न कर्मों में होने वाले परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई है जबकि महावीर ने द्रव्य और पर्याय का सम्बन्ध कुछ इस प्रकार से माना प्रतीत होता है कि द्रव्य बिना पर्याय के हो ही नहीं सकते। इसमें एक समस्या तो यह है कि क्या द्रव्य का ज्ञान पर्यायों के बगैर हो सकता है। कहने का अर्थ यह है कि द्रव्य को जानना एक प्रकार से उसके पर्यायों को ही जानना है और उसकी मान्यता केवल इस बात पर है कि पर्यायों का आधार स्वयं न मानकर हमको किसी अन्य वस्तु में मानना पड़ता है, पर इस 'मानना' की ज़रूरत क्या है इस पर लगता है कि जैन दर्शन में महावीर ने कोई विचार नहीं किया और ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध ने यह कहा कि आखिर जिसका ज्ञान हो ही नहीं सकता उसको आधार रूप में मानने की आवश्यकता क्या है।

कुछ-कुछ ऐसी बात पश्चिमी दर्शन में 'लॉक' और 'बर्कले' जो इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध दार्शनिक हैं उनके बीच हुई थी। लॉक ने द्रव्य को गुणों के आधार के रूप में स्वीकार किया था

और यह कहा था कि वह स्वयं में क्या है इसके बारे में हम कुछ भी नहीं जान सकते क्योंकि 'जानने' का अर्थ ही किस गुण विशेष को जानना होता है, पर हालांकि हम उसको सिद्धांततः अभी जान नहीं सकते, पर फिर भी हमको उसे गुणों के आधार रूप में मानने की आवश्यकता प्रतीत होती है और इसी अनिवार्यता के आधार पर हम एक ऐसे जड़ द्रव्य की कल्पना करते हैं जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों जो चेतना में नहीं पाए जाते और इसके विपरीत एक ऐसे आत्म द्रव्य को स्वीकार करने की आवश्यकता महसूस होती है जिसमें वे सब गुण विद्यमान हों जो सहज रूप में हमें चेतना, वस्तु के गुण प्रतीत होते हैं यानि जिनको हम कभी भी किसी जड़ वस्तु का गुण नहीं मान सकते पर बर्कले ने इसके विरोध में कहा था कि हमको ऐसे जड़ द्रव्य के मानने की आवश्यकता क्यों महसूस होती है जिसका कभी कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता और उसने इस अनिवार्यता को अस्वीकारा, पर फिर भी उसने चेतन द्रव्य को तो माना ही और शायद उसने ऐसा इसलिए किया कि 'आत्म' की स्वचेतना अवश्य सहज रूप में होती है, परन्तु बर्कले के बाद आने वाले प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने इस अनिवार्यता को भी अस्वीकार किया और कहा कि जब कभी भी मैं अपनी चेतना का निरीक्षण करता हूँ तब मुझे वहाँ कोई 'गुण' ही प्राप्त होता है, न कि कोई आत्म द्रव्य। इसलिए वास्तव में जो सत् है वह तो केवल चेतना का प्रवाह मात्र है जिसमें अनेकानेक गुणों का अनुभव होता है इसके बहुत बाद में एक आधुनिक प्रसिद्ध दार्शनिक जिनका नाम बर्ट्रेण्ड रसेल था उन्होंने ह्यूम के इसी मत का परिष्कार करके एक नया रूप दिया और यह कहा कि जो अनुभूत है वह तो केवल गुण मात्र ही है, परन्तु उससे हम दो विभिन्न द्रव्य जगत की सृष्टि करते हैं जो एक ओर जड़ जगत के नाम से जानी जाती है और दूसरी ओर चेतना जगत से। उनका कहने का अभिप्राय यह था कि चाहे जड़ की बात हो या चेतन की वास्तव में तो हम उसकी सत्यता की पहचान इसी आधार पर करते हैं कि वह हमारे सत् अनुभव जगत में किस प्रकार रूपान्तरित होकर अनुभूत होती है। यह सद् अनुभूत जगत उनके अनुसार न चेतन ही कहा जा सकता है और न जड़, परन्तु इसके आधार पर ही हम दो जगतों की सृष्टि करते हैं जिनके स्थायित्व-अस्थायित्व की परख इसी कसौटी पर होती है।

रसेल के इस सिद्धांत का आधुनिक दर्शन पर बहुत अधिक प्रभाव हुआ और इसके मूल में उनकी यह दृष्टि थी कि वास्तव में जिसको भी हम वस्तु के रूप में मानते हैं वह एक शुद्ध 'तार्किक संरचना' होती है। हालांकि हम उसको इस रूप में अधिकांशतः नहीं देखते। प्रत्यक्ष जगत में प्रतीत होने वाली वस्तु भी उनके अनुसार अगर ध्यान से देखें तो 'तार्किक संरचना' ही दिखाई देगी क्योंकि उनके होने का अर्थ यह होता है कि हमें कुछ सहज इन्द्रिय संवेद्य अनुभूति प्राप्त हो यह बात इससे सिद्ध होती प्रतीत होती है कि कोई व्यक्ति जो जन्म से अंधा हो उसको यदि दृष्टि मिल जाय तो वह संसार को उस रूप में नहीं देखता जिस रूप में हम देखते हैं उसके लिए मेज, कुर्सी, पेड़, आकाश आदि ऐसे नहीं होते जैसे हमें दिखाई देते हैं और उसको इस तरह से 'देखना' उसी तरह से 'सीखना' होता है जैसे कोई बालक भाषा को सीखता है।

पर हमारा यहाँ इरादा रसेल को या पश्चिमी दर्शन में इस संदर्भ में जो विचार हुआ है उसको समझने का नहीं है। हम तो भगवान बुद्ध की दृष्टि को समझने की चेष्टा कर रहे थे और

उनका इस विषय में महावीर से जो भेद था उसको भी समझने की। द्रव्य को स्वीकार करना चाहे वह जड़ हो या चेतन और उसको माने बगैर अनुभव को समझने की चेष्टा भारतीय परम्परा में जैन और बौद्ध दर्शनों के साथ प्रारम्भ से ही जुड़ी हुई है । हालांकि जैसा कि हम बाद में देखेंगे, यह भेद केवल उन्हीं के चिन्तन में ही नहीं पाया जाता, वह और जगह भी मिलता है। बुद्ध ने जहाँ एक ओर किसी अवयवी के संघात मात्र होने की बात ही नहीं कही इस बात की भी चर्चा की कि वास्तव में हर अवयव स्वरूप एक अवयवी है और इसे विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर विश्लेषण समाप्त कैसे होगा । यह कहना कठिन है, पर इसके अलावा एक और बात जिसकी ओर ध्यान दिलाया था वह यह है कि प्रत्येक अवयव भी अपने आप में कोई स्थायित्व लिये नहीं होता वह भी एक सतत प्रवाह मात्र होता है जहाँ एक क्षणिक सत्ता दूसरी क्षणिक सत्ता को जन्म देती है। उसमें स्थायित्व उसी प्रकार भ्रम मात्र है जिस प्रकार किसी वस्तु को उसका विभिन्न हिस्सों का संघात न देखकर उसको अपने ही रूप में देखना और उसको अखण्ड मानना । वास्तव में तो वह खण्ड-खण्ड ही है । खण्ड-खण्ड के रूप में देखने की भ्रान्ति है इसी तरह वह खण्ड-खण्ड ही नहीं है, बल्कि क्षणिक भी है । और हमारा जो वस्तुओं से रागात्मक सम्बन्ध उत्पन्न होता है वह इस भ्रान्ति के कारण ही होता है कि हम उनमें एक स्थायित्व नित्यता और चिन्तनता को आरोपित करते हैं, पर अनुभव हमें यह बताता है कि हमारा यह आरोप मिथ्या है और वस्तु बदलती रहती है । यदि हम उन्हें यथार्थ रूप में रखने की कोशिश न करें तो वे स्वत: नष्ट हो जाती हैं, पर हमारी यह कोशिश भी अंत में नाकाम ही साबित होती है क्योंकि जो यह कोशिश करता है और जिसके लिए यह कोशिश की जा रही है वे दोनों नष्ट हो जाते हैं। इतिहास यही बताता है व अनुभव भी यही बताता है, पर इस सत्य के आधार पर जीवन कैसे जिया जा सकता है ।

इसके अलावा बुद्ध और महावीर ने दार्शनिक प्रश्नों के बारे में जो दृष्टिकोण अपनाया था वे भी महत्व रखते हैं क्योंकि जहाँ एक ओर बुद्ध ने दार्शनिक प्रश्नों की जीवन की मूल समस्याओं के संदर्भ में प्रासंगिकता की बात की और दार्शनिक को मानव की मूलभूत समस्याओं का निवारण करने के निदान के रूप में देखा, जो अत्याधुनिक दर्शन की परम्परा में विड्गिनस्टाईन और लेज्ञरविट्स आदि जैसे आधुनिक पश्चिमी दार्शनिकों ने भी मिलकर दर्शन को एक भाषाजन्य बीमारी के रूप में देखा और दार्शनिक का काम उस बीमारी में फंसे लोगों को उस तरह मुक्त कराना आज एक प्रचलित मत के रूप में कई विद्वानों द्वारा सहज स्वीकार है । एक तरह से बुद्ध ने भी यही कहने की चेष्टा की थी कि मूलभूत दार्शनिक प्रश्नों का न तो कोई उत्तर ही दिया जा सकता है और इसलिए उनके बारे में चिन्तन बेकार है दूसरी ओर वे मनुष्य का ध्यान उसकी मूलभूत समस्याओं से हटाते हैं और उसको उनका निराकरण करने के मार्ग में बाधा के रूप में उपस्थित होते हैं । बुद्ध को परम्परा में कुछ का महाभेषज कहा गया है और इसका अर्थ यही है कि वे महावैद्य डॉक्टर के भी डॉक्टर हैं । अंग्रेजी में इस दृष्टिकोण से दर्शन को देखने को थैरेपी या रोग निदान और रोग उपचार के रूप में कहा जाता है दूसरी ओर महावीर ने दर्शन को एकान्तिक दृष्टियों का भण्डार बताकर यह कहने की चेष्टा की कि एकान्तिक दृष्टि ही सब भ्रमों का मूल कारण है और मनुष्य जो आपस में झगड़ते रहते हैं वे इसी कारण से कि वे सत्य को एकान्तिक रूप

में ही देखते हैं, अनेकान्तिक रूप में नहीं । आज के दार्शनिक माहौल में यह बात इस तरह तो सर्वमान्य नहीं है । परन्तु इससे मिलता जुलता ही उसने एक दूसरा रूप धारण किया है । आज अनेक दार्शनिक लोगों का यह मत है कि वास्तव में वस्तुओं का सत्व नहीं होता और इसलिए यह कहना की वस्तु ऐसी ही है, किसी अन्य प्रकार की नहीं, भ्रान्ति के कारण होते हैं । हम यह मानते हैं कि वस्तु का वास्तव में एक ही रूप है । दूसरी ओर आज यह भी काफ़ी हद तक कहा जाता है कि हमें परिप्रेक्ष्य की ओर ध्यान देना होगा किसी संदर्भ में व्यक्ति द्वारा जाने बगैर ना तो बात सत्य होती है न झूठ बात के सच होने की बात ही कहीं जा सकती क्योंकि निर्भीक रूप में कोई बात सच होती है और न झूठ । और इस तरह की बात बहुत कुछ महावीर की दृष्टि से मेल खाती है । एक तरह से देखें तो बुद्ध का यह कहना कि वस्तुओं का कोई स्वरूप नहीं होता इससे यह बात भी सच होती दिखाई देती है कि अगर ऐसा है तो उसके बारे में एक ही बात सच हो ऐसा नहीं कहा जा सकता, पर यह ठीक होने पर भी परम्परा में बौद्ध और जैन दृष्टियों में बहुत मौलिक भेद माना गया है और उनमें जो साम्य था या जो साम्य उत्पन्न हो सकता था उसको देखा ही नहीं गया ।

उस बौद्ध और जैन धर्म के उदय के बाद भारतीय दर्शन की विभिन्न आधारों में बँटते दिखाया है । एक वे जो प्रधानत: वेद परम्परा से उत्पन्न होती हैं और दूसरी वे जो बौद्ध और जैन परम्पराओं से निकलती है । स्वयं बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अनेक अन्य दार्शनिक परम्पराओं का वर्णन है जो बुद्ध और महावीर के समकालीन दार्शनिकों से सम्बद्ध मानी जाती थी । इनमें शायद सब से प्रसिद्ध नाम गौशालक का था लेकिन इसके अलावा भी अन्य नाम हैं । दूसरी ओर वैदिक परम्परा में भी अनेक ऋषियों के नाम आते हैं ।

जिनमें शायद सबसे प्रसिद्ध नाम याज्ञवल्क्य का है जिसके अनेक संवाद बृहदारण्यक उपनिषद में वर्णित हैं । इनके जनक की सभा में शास्त्रार्थ और मैत्रेयी से संवाद को एक प्रकार से उपनिषद में वर्णित दार्शनिक दृष्टान्त माने जाते हैं लेकिन इनके अतिरिक्त भी अनेक स्थल हैं जो दर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । यह प्रधानत: छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषद में मिलते हैं लेकिन इनके अलावा केन, कठ आदि अन्य उपनिषदों में भी इनकी चर्चा है लेकिन ये प्रधानत: दर्शन की उस धारा को ही जन्म देते हैं जो वेदान्त के नाम से जानी जाती है और जिसका मूल स्रोत उपनिषदों की उन कथाओं में ही प्रधानत: पाया जाता है । इसको वेदान्त नाम देने में शायद एक मूल भ्रान्ति यह रही है कि ***'उपनिषद' नाम से जाने वाला ग्रन्थ वास्तव में 'वैदिक' साहित्य का अंतिम भाग है जो जैसा कि हम पहले कह चुके हैं वास्तव में सच नहीं है*** । दूसरी ओर इसका अर्थ यह भी लगाया जाता है कि वेदान्त नाम से जाने वाले दर्शन ही वेद का असली सार हैं जो तभी ठीक माना जा सकता है जब हम वेद का अर्थ बताने वाली दूसरी परम्पराओं जो यज्ञ और कर्म प्रधान हैं उसको बिल्कुल भुला दें । वेदांत शब्द का अर्थ यह भी दिया जाता है कि यह वेदों का वह अंग था जो व्यक्ति को उसके अध्ययन काल समाप्त होने पर पढ़ाये जाते थे पर, ऐसा भी सत्य प्रतीत नहीं होता । क्योंकि अध्ययन समाप्त होने पर तो व्यक्ति अपने घर वापस लौटता है और गृहस्थाश्रम में लौटने की तैयारी करता है और अगर ऐसा है तो वेदांत कहे जाने वाला दर्शन उसके कोई विशेष काम का नहीं हो सकता । पर कुछ भी हो इसमें तो कोई शक नहीं है कि

उपनिषदों में जिस दर्शन की चर्चा है वह भारतीय दर्शन के स्रोतों में एक स्रोत अवश्य रहा है और जिस प्रकार मीमांसा सूत्रों में वैदिक परम्परा को एक प्रकार का अर्थ देने की चेष्टा की गई उसी प्रकार ब्रह्म सूत्रों में उपनिषदों में व्याप्त दृष्टि को एक सुनिश्चित सशक्त रूप देने की चेष्टा हुई इसलिए यह जरूर कहा जा सकता है कि वैदिक परम्परा से निकलने वाली ये दो प्रधान दार्शनिक धाराएं हैं — एक जो मीमांसा सूत्र में आबद्ध हैं और दूसरी ब्रह्म सूत्र में। लेकिन ये दो धाराएं एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत हैं और विरोधी भी। हालांकि आज के बहुत सारे विद्वानों ने इनके विरोध को नकारने की कोशिश की है । मीमांसा और ब्रहम सूत्र के आपसी विरोधों की चर्चा हम बाद में करेंगे लेकिन कम से कम इतना तो स्पष्ट होना ही चाहिए कि दर्शन की अन्य धाराएं, जो बौद्ध और जैन परम्पराओं से भिन्न हैं, वे वैदिक परम्परा में कम से कम उस प्रकार से नहीं रखी जा सकती जिस प्रकार से उन परम्पराओं को सहज रूप में देखा जा सकता है जो मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र से प्रभावित होती है। गौतम का न्याय सूत्र, कणाद वैशेषिक सूत्र, पतंजलि का योग-सूत्र और सांख्य का सृष्टि तंत्र उस प्रकार से वैदिक परम्परा से निकले हुए नहीं कहे जा सकते जिस प्रकार मीमांसा सूत्र या ब्रह्म सूत्र ।

कणाद का **वैशेषिक सूत्र** दार्शनिक सूत्रों की परम्परा में मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र के बाद लिखा हुआ माना जाता है और अधिकतर उसको लोग वेद परम्परा में रखते हैं पर आश्चर्य की बात तो यह है कि कणाद जिनको वैशेषिक सूत्रों का रचयिता माना जाता है वे अपने वैशेषिक सूत्रों का प्रधान विषय वहीं बताते हैं जो मीमांसा सूत्र में बताया था । वहाँ भी धर्म का स्वरूप बतलाने की चेष्टा थी और वैशेषिक सूत्र का रचयिता भी यह दावा करता है कि वह अपने सूत्रों में धर्म की व्याख्या करेगा और उसका सही स्वरूप बताएगा। पर अगर यह बात ठीक है तो एक तरह से यह मानना होगा कि कणाद को जैमिनी की व्याख्या मान्य नहीं थी और उन्होंने उसके विरोध में धर्म की एक स्वतंत्र व्याख्या करने की कोशिश की क्योंकि यह मानना तो मुश्किल होगा कि कणाद को मीमांसा सूत्रों का पता ही नहीं था और अगर हम यह मान भी लें तो इससे यही नतीजा निकलेगा कि वैदिक कही जाने वाली दार्शनिक परम्पराएं एक दूसरे के बारे में जानती भी नहीं थी दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि कणाद न उपनिषदों की व्याख्या कर रहे हैं और न वेद के उन अन्य अंशों की जो यज्ञ से सम्बन्धित हैं । उनका ग्रन्थ स्वतंत्र लगता है । पर, उसमें एक नई बात जरूर परिलक्षित होती है, वह यह कि वह अपने सूत्रों में यह कहने की चेष्टा करते हैं कि धर्म के द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होगी या दूसरी तरह से कहें तो धर्म वह है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्राप्त होते हैं । मीमांसा सूत्र के रचयिता ने कोई भी दावा नहीं किया था उसके लिए तो वेदों में बताए हुए यज्ञ और उनसे मिलने वाले जो विभिन्न फल थे वे ही धर्म का प्रयोजन कहे जा सकते थे । प्रधानतः उस फल का नाम 'स्वर्ग' था । हालांकि अनेकानेक अन्य फल जैसे- पुत्र, वृष्टि, धन-धान्य, शत्रु नाश, आदि विशिष्ट यज्ञों से मिलने वाले फल कहे जाते हैं इन सब को शायद 'अभ्युदय' में शामिल किया जा सकता है । दूसरी ओर ब्रह्म सूत्र के रचयिता ने ऐसा दावा नहीं किया था कि ब्रह्म ज्ञान से कुछ प्राप्त होगा। उसने तो केवल यही कहा था कि उसके सूत्र ब्रह्म की जिज्ञासा को शांत करने के लिए है या दूसरे शब्दों में

कहा तो अगर किसी को ब्रह्म का स्वरूप जानने की इच्छा है तो उसके सूत्र ब्रह्म के स्वरूप को समझने में उसको सहायक होंगे । ब्रह्म को 'जानने' से क्या मिलेगा । ऐसा उसने कुछ नहीं कहा है पर ऐसा माना जा सकता है कि उसके लिए ब्रह्म का ज्ञान स्वयं साध्य था साधन नहीं । इस दृष्टि से देखें तो शायद कणाद यह कहना चाहता था कि धर्म वह है जो उसे वह सब देता है जो मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र दोनों मनुष्य को दिलवाने की कोशिश करते हैं, दिलवाने का दावा करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार धर्म केवल अभ्युदय ही नहीं देता बल्कि निःश्रेयस की ओर भी ले जाता है। निःश्रेयस का अर्थ एक प्रकार से पूर्ण रूपेण तह तो नहीं माना जा सकता जो ब्रह्म ज्ञान से लक्षित होता है पर वह कुछ-कुछ वैसा ही है जिसमें शायद किसी को अस्वीकार न हो । पर अगर हम यह मान भी लें कि कणाद अपनी व्याख्या से वह सब देने का दावा करते हैं जो मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र अलग-अलग देने की कोशिश करते हैं तो भी यह तो आश्चर्य की बात होगी ही कि वह इन सब की प्राप्ति का साधन कुछ ऐसी बौद्धिक कोटियों के ज्ञान को बताते हैं जिनका ब्रह्म से न कोई नाता है और न यज्ञ से कोई रिश्ता । 'द्रव्य' गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय कणाद के वे तत्व हैं जिनका ज्ञान उनके अनुसार धर्म को धर्म का ज्ञान देता है और वह धर्म मनुष्य को अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों प्राप्त कराता है । यह कैसी बौद्धिक कोटियाँ हैं और इसका ज्ञान कैसे धर्म को उत्पन्न कर सकता है और उससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति कैसे हो सकती है । यह एक ऐसा जटिल सवाल है जिसका उत्तर बहुत कम लोगों ने देने की चेष्टा की है । यही नहीं यह भी सब लोग मानते हैं कि कणाद ने अपने वैशेषिक सूत्रों में शब्द को प्रमाण नहीं माना और अगर यह ठीक है तो फिर उन्होंने वैदिक परम्पराओं के मूल पर ही आघात किया क्योंकि वह परम्परा तो वेद को ही प्रमाण मानती थी, फिर चाहे वह ब्रह्म ज्ञान के लिए हो या यज्ञ-मूलक 'धर्म' के लिए है। वैशेषिक सूत्रों के रचयिता को वैदिक परम्परा के साथ जोड़ना उसके साथ अन्याय करना है । वह स्वयं चिन्तक है और अपनी नई बात कहने की चेष्टा करता है उसको जब तक हम इस रूप में नहीं देखेंगे उसके दार्शनिक विचार को नहीं समझ पाएंगे ।

वैशेषिक सूत्रों के बाद अक्सर ऐसा माना जाता है कि गौतम ने अपने न्याय सूत्रों की रचना की । उनके विषय प्रमाण-प्रमेय आदि हैं । इन्होंने भी यह दावा किया कि इस प्रमाण-प्रमेय व्यापार का ज्ञान मनुष्य को तत्वज्ञान की प्राप्ति कराएगा जिससे उसे निःश्रेयस की सिद्धि होगी । लगता है कि भारत में कुछ समय कोई ऐसी सांस्कृतिक 'हवा' थी कि सब को अपनी बात मनवाने के लिए यह कहना पड़ता था कि उससे निःश्रेयस, अपवर्ग या निर्वाण आदि की प्राप्ति होगी क्योंकि यदि वे ऐसा नहीं कहते तो लोग उनकी बात भी सुनने को तैयार नहीं होते । अन्यथा प्रमाण-प्रमेय, संशय दृष्टांत, सिद्धांत अवयव आदि के ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति कैसे होगी, यह समझना कठिन है । ऐसा लगता है कि गौतम की भी वही मजबूरी थी जो कणाद ने महसूस की थी । आखिर उनके पहले आने वाले दार्शनिक को 'स्वर्ग' 'ब्रह्मज्ञान' 'निर्वाण', 'सर्वज्ञता' आदि दिलाने का वादा कर चुके थे तो फिर यह विचारे पीछे कैसे रह सकते थे । पर जिस प्रकार कणाद एक अन्य प्रकार के ज्ञान की बात करते हैं जो बौद्धिक कोटियों से सम्बन्धित है, उसी प्रकार गौतम मनुष्य की बुद्धि के अन्य आयाम को समझने की चेष्टा करते हैं जो तर्कनिष्ठ

है और जो हमेशा यह पूछता है कि जो किसी ने कहा है उसका आधार क्या है। अगर कणाद बुद्धि के स्वरूप का ही वर्णन करने की कोशिश करते दिखाई देते हैं तो दूसरी ओर गौतम बुद्धि के व्यापार को समझने की चेष्टा करते हैं। **बुद्धि का स्वरूप और बुद्धि का व्यापार** ये दोनों दर्शन की मूलभूत समस्याएं रही हैं। परन्तु भारतीय दर्शन परम्परा ने कणाद और गौतम के प्रयास को इस रूप में नहीं देखा है । इसका कारण एक तो यह था कि उन्होंने स्वयं इस स्वरूप और व्यापार को समझने की चेष्टा की। लेकिन अपवर्ग निःश्रेयस आदि से जोड़कर दार्शनिकों का ध्यान उनके मौलिक प्रयत्न की ओर से हटा दिया वहीं दूसरी ओर ऐसा भी लगता है कि उनके इस स्वरूप और व्यापार को समझने की कोशिश खुद उस बौद्धिक और सांस्कृतिक परिवेश से प्रभावित थी जिसमें एक ओर तो ब्रह्म ज्ञान की चर्चा थी जो स्वयं तर्क और बुद्धि से परे था दूसरी ओर उस यज्ञ केन्द्रित कर्म की चर्चा थी जिसका आधार वेद माने जाते थे और दूसरी ओर इससे हटकर वे श्रमण परम्पराएं थीं जो संसार और उसके समस्त व्यापार को ही त्याग कर सत्य को पाने की चेष्टा करती थीं। कणाद ने तो शब्द को प्रमाण नहीं माना था पर ऐसा लगता है कि वैदिक परम्परा का प्रभाव गौतम तक आते-आते इतना बढ़ गया था कि उनको शब्द को प्रमाण रूप में मानना पड़ा । पर ऐसा लगता है कि उन्हें यह बात जबर्दस्ती ही स्वीकार करनी पड़ी क्योंकि जहाँ एक ओर उन्होंने शब्द को शब्द प्रमाण रूप में 'वेद' को माना है वहीं दूसरी ओर शब्द प्रमाण का उदाहरण आयुर्वेद जैसे शास्त्र को भी दिया है जो स्पष्टतः उस रूप में प्रमाण नहीं माना जा सकता जिस रूप में मीमांसा या ब्रह्म सूत्रों के रचयिता वेदों को प्रमाण मानते थे । यही नहीं उन्होंने मीमांसा के विरुद्ध शब्द की अनित्यता को माना और उसकी नित्यता का खण्डन किया, जिस नित्यात्मकता के आधार पर मीमांसा ने वेदों के अपौरुषेयत्व की स्थापना की थी । जो कुछ भी हो, इसमें कोई शक नहीं कि कणाद और गौतम ने भारतीय दर्शन में बुद्धि के स्वरूप और बुद्धि के व्यापार की मौलिक गवेषणा प्रारम्भ की ।

इसी समय या गौतम के कुछ ही बाद प्रसिद्ध बुद्ध दार्शनिक नागार्जुन का काल माना जाता है । नागार्जुन बौद्ध महायान के प्रसिद्ध दार्शनिक ही नहीं थे परन्तु उन्होंने बुद्धि के उस चरम तार्किक विरोध की परम्परा को प्रारम्भ किया जिसमें बुद्धि स्वयं यह कहती है कि वह चरम सत् को जानने में कभी भी सक्षम नहीं हो सकती । कुछ हद तक उपनिषदों ने भी ऐसा कहा था । भगवान बुद्ध ने तो चरम प्रश्नों पर मौन धारण करके यह संकेत दिया था कि इनका बुद्धि के द्वारा कोई उत्तर नहीं दिया जा सकता । पर भारतीय परम्परा में नागार्जुन ही ऐसे दार्शनिक थे जिन्होंने खुलकर यह कह कर सिद्ध करने की चेष्टा की थी कि बुद्धि ऐसा क्यों नहीं कर सकती ।

नागार्जुन और गौतम का आपसी सम्बन्ध क्या था यह कहना कठिन है उनके कार्य का निर्धारण ठीक-ठीक नहीं मिलता। अगर हम यह माने कि नागार्जुन गौतम के बाद में हुए थे तो ऐसा लगता है कि उन्होंने गौतम के प्रमाण सूत्र की स्थापना के मूल में ही आघात करके यह दिखाने की चेष्टा की कि सारा प्रमाण व्यापार स्वयं व्याघात से ग्रसित है । दूसरी ओर अगर यह मानें कि गौतम नागार्जुन के बाद में हुए हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने नागार्जुन के विरोध में यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि, प्रमाण-प्रमेय व्यापार बुद्धि का सार्थक कर्म है और इस व्यापार के द्वारा प्रमेयों

की सिद्धि हो सकती है । अतः हम अपने तर्क में कोई गलती न करें और इस सम्बन्ध में वहाँ यह विस्तार से बताने की कोशिश की कि मनुष्य अपने तर्क व्यापार में क्या गलतियाँ करता है और यह भी कि उनसे कैसे बचा जा सकता है ?

इसी काल में ऐसा कहा जाता है कि सांख्य दर्शन के प्रथम ग्रन्थ **षष्ठि तंत्र** की रचना हुई। वैसे तो सांख्य पहले भी पाया जाता है । कुछ लोग तो **छान्दोग्य उपनिषद्** में भी सांख्य की चर्चा पाते हैं लेकिन सुव्यवस्थित रूप में शायद **षष्ठि तंत्र** से पहले सांख्य का वर्णन नहीं मिलता । **षष्ठि तंत्र** का अर्थ ही यह है कि उसमें 60 तत्वों की चर्चा की गई है । अगर यह सच है तो इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय में तत्व की चर्चा बहुत थी और गौतम जिन तत्वों और पदार्थों की चर्चा करते हैं वह उस परिवेश से प्रभावित था । परन्तु सांख्य के विचार को वैदिक परम्परा में मुश्किल से रखा जा सकता है और अधिकतर कोई ऐसा करता भी नहीं है । यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि सांख्य परम्परा में सूत्रों की रचना बहुत बाद में हुई और सांख्य सूत्र के नाम से जाना जाने वाला ग्रन्थ शायद केवल इसीलिए लिखा गया कि अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने-अपने मूल सूत्र थे । यह ठीक है कि सांख्य से सम्बन्धित योग दर्शन का अपना स्वयं सूत्र है जो योग सूत्र के नाम से जाना जाता है और जिसके रचयिता पतंजलि कहे जाते हैं लेकिन इस सूत्र में दर्शन बहुत कम है क्योंकि ये प्रधानतः उस योग की क्रिया से सम्बन्धित हैं जिसके द्वारा चित्त की साधारण वृत्तियाँ वृत्तों का विरोध करके सत्य का साक्षात्कार किया जाता है । योग के लिए तो प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों ही बेकार हैं क्योंकि उनसे कोई तत्वज्ञान नहीं हो सकता और जहाँ तक शब्द का सवाल है वह भी केवल इसी रूप में सहायक हो सकता है कि वह मनुष्य को उस ओर प्रवृत्त करे जहाँ चित्त की वृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं और चेतना अपने में सहज रूप में अवस्थित हो जाती है ।

वैदिक परम्परा से निकलने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय इन्हीं 6 कोटियों में बँट जाते हैं । मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग। पर जैसे हमने देखा है इसमें से केवल दो ही को वैदिक परम्परा का अभिन्न अंग माना जा सकता है। उनमें भी परस्पर गहरा विरोध है पर बहुत लोगों ने उस विरोध को कम करने की चेष्टा की है और यह कहा है कि वास्तव में वे अलग न होकर एक ही मीमांसा के दो अंग हैं । एक पूर्व मीमांसा है और दूसरी उत्तर मीमांसा । एक का सम्बन्ध कर्म से है दूसरे का ज्ञान से । और जब पहली समाप्त हो जाती है तब दूसरी प्रारम्भ होती है इस प्रकार वे एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं । यही नहीं यह भी कहने की चेष्टा की है कि दोनों को बीच में मिलाने वाला एक देवता काण्ड या संकर्षण काण्ड था जिसमें विभिन्न देवताओं की उपासना की विधि बताई गई थी और इस प्रकार वैदिक योग के बाद जो एक पूर्ण रूपेण बाहरी क्रिया थी जो किसी फल की प्राप्ति के लिए, देवताओं की उपासना द्वारा चित्त की शुद्धि की जाती थी जिसके बाद मनुष्य ब्रह्म ज्ञान का अधिकारी होता था। पर यह सब कितना ही रोचक लगे, यह नहीं बता पाता कि अगर ऐसा था तो फिर मीमांसा और वेदान्त में इतना विरोध क्यों हुआ और दोनों ने आशा की कि स्वरूप को क्यों भिन्न प्रकार से समझा। यही नहीं एक के लिए जो अर्थवाद है वह दूसरे के लिए चरम सत है और जो उसके लिए अर्थवाद है वह दूसरे के लिए ही असली वाद है । मीमांसा और वेदान्त में विरोध यहीं तक सीमित नहीं है वह तो करीब-करीब हर बात को

लेकर है । और जो लोग 'उपासना' की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि आचार्य शंकर ने 'उपासना' को 'कर्म' की कोटि में रखा और इस आधार पर उसको ब्रह्म ज्ञान दिलाने में अक्षम माना था । यह ठीक है कि स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में और आरण्यकों में भी यज्ञ का अर्थ ढूंढ़ने की कोशिश है पर आज भी जब कोई वैदिक यज्ञ करता है तो वह उस को उसी रूप में करता है जैसे याज्ञिक उसे करने को कहते हैं । जो लोग यज्ञ के अन्तर्भूत सांकेतिक अर्थ की बात करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि राजसूय और अश्वमेघ जैसे यज्ञ चेतना के आन्तरिक रूप से संबंधित नहीं किए जा सकते । ऐसा ही काफ़ी हद तक दर्श पूर्णमास और ज्योतिष्टोम के बारे में भी सत्य प्रतीत होता है। और अगर ऐसा नहीं होता तो जैमिनी मीमांसा सूत्र में विस्तार से यज्ञ की विधियों की चर्चा क्यों जाती है और यह क्यों कहा जाता है कि कौन-सी विधि ठीक है जिसके कारण से ही कुछ विशेष फल की प्राप्ति होगी जिसके लिए यज्ञ किया जाता है ।

दार्शनिक परम्परायें और उनका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इस प्रकार इन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रस्थान सूत्र, के मूल सूत्र जिनसे इन दार्शनिक सम्प्रदायों का प्रारम्भ माना जा सकता है, करीब-करीब ईसा की शताब्दी के शुरू में रचे जा चुके थे । इसके बारे में यह ठीक-ठीक कहना कि इसकी रचना कब हुई थी मुश्किल है लेकिन फिर भी इतना तो साफ ही है कि मीमांसा सूत्र सब से पहले रचे गए थे और ब्रह्म सूत्र उसके बाद। कुछ लोग वैशेषिक सूत्रों की रचना मीमांसा सूत्र से भी पहले मानते हैं । लेकिन अधिकतर लोग इसे स्वीकार नहीं करते । इसके बाद वैशेषिक सूत्र की रचना मानी जाती है और उसके बाद न्याय सूत्र । योग सूत्र की रचना सबसे से बाद में हुई है ऐसा जान पड़ता है और जैसा कि हम सांख्य के बारे में बहुत पहले कह चुके हैं,उसका आदि ग्रन्थ जो **षष्ठि तंत्र** के नाम से जाना जाता है उसको सूत्र की संज्ञा नहीं दी गई है ।

जो लोग केवल दर्शन के ग्रन्थ ही पढ़ते हैं या सिर्फ़ उनके बारे में पढ़ते हैं उन्हें कुछ ऐसा लगता होगा कि जैसे इन ग्रन्थों के रचयिता कहीं किसी जंगल में बैठकर संसार से अलग-थलग अपने आशय के साथ इन सब बातों की चर्चा करते थे । पर वास्तव में ऐसा नहीं था क्योंकि यदि हम उस समय के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को देखें तो हमें आश्चर्य होगा कि उस समय की संस्कृति एवं सभ्यता कितनी समृद्ध थी ? यह ठीक है कि मौर्य साम्राज्य खत्म हो चुका था । अशोक, जिसके प्रसिद्ध शिला लेख अब भी भारत के कोने-कोने में पाए जाते हैं, उसका राज्य भी समाप्त हो गया था । पर यह बात ध्यान में रखने की है कि अशोक के काल में बौद्ध धर्म का भारत में ही नहीं भारत के बाहर भी प्रचार हुआ था उसके समय में स्वयं उसके पुत्र और पुत्री बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए सिंघल द्वीप गए थे जो आज श्रीलंका के नाम से जाना जाता है । बौद्ध धर्म का यह अन्तर्राष्ट्रीय पक्ष कभी भुला नहीं देना चाहिए और इसके साथ ही यह भी याद रखना चाहिए कि अशोक ने बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों का भी संरक्षण किया था। यह वास्तव में भारत की पुरानी परम्परा के अनुकूल ही था जहाँ राजा का धर्म ही यह माना गया था कि वह अपने राज्य में सब सम्प्रदायों को अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार अध्यात्म साधना करने की स्वतंत्रता दे,

उसमें विघ्न न डाले। वह स्वयं इसी मत को भी मानने वाले थे । पर राजा होने के नाते उसका यह धर्म भी माना गया था कि वह सब को संरक्षण भी दे ।

मौर्यकाल में भारत का राजनीतिक केन्द्र पूर्व में बिहार के आसपास बन चुका था और यह सब को पता है कि भगवान महावीर और भगवान बुद्ध दोनों इसी प्रदेश में हुए थे और दोनों ने अपने उपदेश इसी प्रदेश के प्रसिद्ध नगरों में किया था । बौद्ध और जैन मत श्रमण परम्परा में होते हुए भी नगर केन्द्रित सम्प्रदाय थे और इनके मानने वाले भी अधिकतर धनी और व्यापारी लोग थे, जिनकी अपनी 'श्रेणियाँ' थीं और जो उस समय की राज्य व्यवस्था में काफी प्रभाव रखती थीं । वे कुछ-कुछ आजकल के चैम्बर्स ऑफ़ कॉमर्स की तरह थीं । हालांकि इनका सम्बन्ध वस्तुओं के सीधे उत्पादन से गहरा जुड़ा हुआ था यह अंग्रेजी में जिन्हें 'गिल्ड' कहते हैं उसके समान थीं।

इस समय भारत का राजनीतिक केन्द्र फिर उत्तर पश्चिम में स्थापित हो चुका था। कुषाण साम्राज्य जिसका उत्तर भारत में प्रभुत्व था, उसका साम्राज्य मध्य एशिया में और पश्चिम एशिया में दूर-दूर तक फैला हुआ था और एक तरह से वह तीन बड़े साम्राज्यों के बीच स्थित था। एक तरफ चीन का साम्राज्य था दूसरी तरफ ईरान, तीसरी तरफ रोम के प्रसिद्ध साम्राज्य थे । इन सब के बीच में स्थित होने के कारण इसके व्यापारिक सम्बन्ध इन तीनों साम्राज्यों से थे और भारत के पश्चिमी किनारे पर होने वाले बन्दरगाहों में रोम और मध्य एशिया के देशों से बराबर व्यापार होता था । दूसरी ओर मध्य एशिया से आने वाले रास्तों पर चीन से बराबर सामान आया जाया करता था। रोमन साम्राज्य के अनेक सिक्के दक्षिण भारत में आज भी मिलते हैं और हालांकि उत्तर भारत में या मध्य एशिया में वे बहुत ही कम मिलते हैं इसका कारण यही बताया जाता है कि रोम के सोने के सिक्के कुषाण साम्राज्य में गलाकर उसके अपने सिक्कों में परिवर्तित कर दिये जाते थे । दक्षिण भारत में चाँदी के सिक्के ही चलते थे, इसलिए व्यापार के लिए जो रोमन साम्राज्य से सोने के सिक्के आते थे वे उन्हें वैसे ही काम में लेते थे ।

इन सब बातों का महत्त्व यह है कि इन्हीं मार्गों पर भारत से पश्चिम एशिया और मध्य एशिया और चीन में बौद्ध और हिन्दू अनुयायियों ने अपने मत का प्रचार किया। इन व्यापार मार्गों से ही बौद्ध भिक्षु अन्य देशों में जाते थे और भगवान बुद्ध भी मत का प्रचार करते थे। इन्हीं व्यापार मार्गों पर अनेक बौद्ध भिक्षुओं के संघ-स्थान मिलते हैं, जिनके अवशेष आज भी मिलते हैं। यही नहीं मौर्यकाल में तक्षशिला से पाटलिपुत्र का जो राजमार्ग बनाया गया था वह कुषाण काल में भी जारी था और उसी के द्वारा व्यापार और मध्य एशिया और पश्चिम एशिया से आई हुई अनेक चीजें देश के कोने-कोने में जाती थीं। आज भी मथुरा के संग्रहालय में इस काल की बहुत मूर्तियाँ हैं, कनिष्क की मूर्ति उस काल की याद दिलाती है । कुषाण साम्राज्य भारत में उत्पन्न हुए अनेक धर्मों को भारत के बाहर फैलाने में सहायक बना । इस संदर्भ में यह भी ध्यान में रखने की बात है। हालांकि कुषाण साम्राज्य में भी प्रधानतः बौद्ध धर्म को स्वीकारा और संरक्षण दिया गया था पर उन्होंने मौर्य राजाओं की तरह अन्य धर्मों को भी उसी प्रकार सहायता और संरक्षण दिया जैसा पहले के राजा करते थे । कुषाणों के इसी प्रदेश में शक साम्राज्य था जिनका संवत आज भी

भारत में चलता है और कुछ-कुछ ऐसा भी पता लगता है कि कुषाण काल में गुजरात प्रदेश में शकों के कुछ उत्तराधिकारी राज्य करते थे जिनमें रुद्रदमन का नाम प्रसिद्ध है और जिसने शायद कुषाण साम्राज्य का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। इस सब परिप्रेक्ष्य की चर्चा करने का यहाँ अर्थ केवल इतना ही है कि भारत की विभिन्न मूल दार्शनिक परिस्थितियों का जन्म एक ऐसे वातावरण में हुआ था जब देश की संस्कृति और सभ्यता, समृद्धि में ही थी, इसके साथ उसका चारों ओर के क्षेत्रों से गहरा सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध का केवल राजनीतिक और वाणिज्यिक स्वरूप नहीं था, बल्कि इनमें विचारों का आदान—प्रदान और कला—कौशल आदि में एक दूसरे से सहज रूप में लेन—देन की प्रवृत्ति अपनी चरम सीमा पर थी। इसके कुछ ही दिन बाद अनेक चीनी यात्री भारत में बौद्ध सम्प्रदाय के मतों को समझने के लिए आया और यहाँ से बहुत सारे ग्रन्थ अपने देश में ले गए जिनका उन्होंने वहाँ जाकर अनुवाद किया। ऐसे ही दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी हुआ। बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, थाईलैण्ड, कम्बोडिया आज भी इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। यह ठीक है कि अब तक भारतीय दर्शन के इतिहासकारों की दृष्टि वैदिक परम्परा से जुड़े हुए दार्शनिक संस्थानों में ही आबद्ध रही, पर ईसा से प्रारम्भ होने वाले 700 साल का केन्द्र तो बौद्ध दर्शन ही था और जिसका विस्तार भारत से बाहर भी हुआ इसलिए अगर हमें उस युग के दर्शन की कहानी लिखनी है तो हमारा केन्द्र-बिन्दु बौद्ध होना चाहिए न कि वैदिक परम्परा से जुड़ा दर्शन, हालांकि इसमें कोई शक नहीं कि बाद में इन दर्शनों का वैचारिक बोलबाला भारत में बौद्ध दर्शन की समाप्ति के बाद 1200 ईसवी में नालन्दा के नष्ट होने के साथ हुआ था।

जैन दर्शन का प्रारम्भ भी इसी काल में माना जाता है और उसके प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक कुन्दकुन्द शायद ईसा के बाद दूसरी-तीसरी शताब्दी में हुए थे। जैन दार्शनिकों का प्रभुत्व इतना तो नहीं था जितना कि बौद्धों का था पर पहले हजार साल में अगर जैन दार्शनिकों की संख्या गिनी जाय तो वह भारत के अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों से काफी अधिक थी। बौद्ध दार्शनिकों की संख्या तो सब से कम थी ही जो करीब-करीब 411 थीं। अगर हम पौटर द्वारा संग्रहीत दार्शनिक पुस्तकों की सूची देखें तो उससे पता चलता है कि जैन दार्शनिकों की संख्या इन हजार वर्षों में 38 के बराबर है जो बौद्धों से तो बहुत कम है पर फिर भी मीमांसा, वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग आदि के दार्शनिकों की संख्या से अधिक प्रतीत होती है। जैन दार्शनिकों का असली बोलबाला ईसा के एक हजार साल बाद प्रारम्भ होता है इसके वास्तव में क्या कारण थे यह कहना कठिन है पर प्रारम्भिक एक हजार साल में जैन दर्शन का विकास किस प्रकार हुआ इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इस हजार साल में भारत बौद्ध दार्शनिक चिन्तन दर्शन का केन्द्रबिन्दु था।

नागार्जुन जो महायान और शून्यवाद के प्रधान प्रवर्तकों में से माने जाते हैं उनके बाद असंङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्गनाग और धर्मकीर्ति जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक हुए। असंङ्ग से पहले मैत्रेयनाथ का नाम लिया जाता है और यह कहा जाता है कि उन्होंने बौद्ध परम्परा में विज्ञान वाद का प्रारम्भ किया। दर्शन के संदर्भ में यह जानना जरूरी है कि दार्शनिक समस्या कैसे उत्पन्न होती है और उसका उत्तर विभिन्न दार्शनिक कैसे देते हैं? सहज रूप में यह सब को पता है कि मनुष्य को जगत का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है और मनुष्य के पास ये पांच इन्द्रियाँ ही हैं पर साधारणतः ये

इन्द्रियाँ जानवरों के पास भी हैं और अब यह सवाल पैदा होता है कि जानवरों के ज्ञान में और मनुष्य के ज्ञान में भेद किस प्रकार किया जाए? मनुष्य क्योंकि आत्म चेतन प्राणी है इसलिए वह अपने अनुभव के सब आयामों पर सोचता है और उनको समझने की चेष्टा करता है इस समझने की चेष्टा में ही दर्शन का जन्म होता है और पशु और मनुष्य के ज्ञान में भेद किस प्रकार माना जाता है कि मनुष्य के पास बुद्धि है जिसका प्रयोग वह यह जानने के लिए करता है कि सत्य क्या है। ऐसा नहीं है कि पशु अपनी इन्द्रियों द्वारा भ्रमित नहीं होता पर उस भ्रम के होने पर उसके सामने कोई विशेष समस्या उत्पन्न नहीं होती। वह भ्रम हट जाता है तो वह उस घटना को भूल जाता है। कोई बिल्ली जब अपने आपको शीशे में अपना प्रतिबिम्ब देखती है तो उसको आश्चर्य अवश्य होता है और कभी-कभी तो आप पक्षियों को इसी प्रकार के भ्रम की अवस्था में देख सकते हैं पर इससे उनके सामने कोई मूलभूत समस्या उत्पन्न नहीं होती जबकि इसके विपरीत दार्शनिक बुद्धि के सामने यह सवाल पैदा होता है कि यदि प्रत्यक्ष के ज्ञान में उसको सहज भ्रम उत्पन्न हो सकता है तो क्या जब उसको यह लग रहा है कि यह ज्ञान सत्य है तो क्या वह भ्रमित नहीं हो सकता और आख़िर भ्रम का निवारण कैसे होता है? अगर प्रत्यक्ष से दिया हुआ ज्ञान स्वयं गलत है तो उसका निराकरण स्वयं प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकता है उसके लिए तो किसी अन्य शक्ति का सहारा लेना पड़ेगा और वह बुद्धि ही हो सकती है जो मनुष्य के सारे अनुभव पर एक स्वतंत्र चिन्तन की प्रक्रिया को प्रारम्भ करती है पर आख़िर प्रत्यक्ष का ज्ञान भी तो हमेशा नहीं होता जब मनुष्य सोता है तो उसको बाह्य जगत का कोई ज्ञान नहीं होता। हालांकि उसको स्वप्न में विषय दिखाई देते रहते हैं पर स्वप्न भी समाप्त हो जाते हैं और हम गहरी नींद की बात करते हैं जिसमें स्वप्न होते ही नहीं और अगर स्वप्न नहीं होते तो किसी विषयवस्तु का ज्ञान नहीं होता। स्वप्नों में ज्ञान तो होता है पर सच झूठ का सवाल नहीं होता। हाँ सुख-दुःख की बात जरूर होती है। हाँ,हमें डर भी लगता है,नींद भी आती है,पर कभी यह सवाल पैदा नहीं होता कि जो हम देख रहे हैं या जो हमें अनुभव हो रहा है वह सच है या झूठ। हाँ कभी-कभी ऐसा जरूर होता है,कि हम यह जानने की चेष्टा करते हैं कि स्वप्न में जो कुछ हो रहा है वह सच है या झूठ। और कई बार तो हम अपने को आश्वस्त भी कर लेते हैं। विशेषतः जबकि स्वप्न में हमें अनुभव सुखदायक हो रहा हो। दूसरी ओर जब स्वप्न की घटनाएं डरावनी होती हैं तो हम अपने से ऐसा भी कहने की कोशिश करते हैं कि यह तो असली नहीं है पर तब भी डर बना रहता है और सुख के सम्बन्ध में भी चेतना पूर्ण-रूपेण आश्वस्त नहीं हो पाती। लेकिन यह सब होते हुए भी यहाँ वही सच-झूठ का सवाल वैसा उत्पन्न ही नहीं होता जैसा कि जागृत अवस्था में होता है।

पर सच-झूठ का फैसला करने पर जागृत अवस्था के अनुभव के संदर्भ में सच-झूठ का फैसला करने के लिए अगर हम बुद्धि की शरण में जाते हैं तो क्या यह तय हो सकता है कि बुद्धि सच-झूठ का फैसला निश्चयात्मक रूप में कर सकती है क्या बुद्धि के अपने वैसे ही भ्रम नहीं हो सकते जैसे इंद्रिय —प्रत्यक्ष में होते हैं।

पर अगर हम यह मान भी लें कि बुद्धि के भी अपने स्वरूपजन्य सहज भ्रम होते हैं तो उसका पता बुद्धि को तो कभी लग ही नहीं पाएगा क्योंकि बुद्धि की प्रक्रिया के होने का मतलब ही

यह होगा कि वह भ्रम उत्पन्न हो रहा है जिस प्रकार कि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष जगत के ज्ञान होने का अर्थ ही यह होता है कि इन्द्रियों के स्वरूप से उत्पन्न जो भ्रम पैदा होते हैं वे वहाँ अनिवार्य रूप से मौजूद हैं । जैसा कि उनको ऐसी साधारण घटनाओं में दिखाई देता है । जैसा कि सूर्य का चलता हुआ दिखना या क्षितिज पर चलना और आसमान का मिलना या किसी लकड़ी का पानी में डूबा हुआ दिखना। यह भ्रमपूर्ण होते हुए भी सभी को दिखाई देते हैं और अगर बुद्धि के द्वारा यह पता भी चलता है कि असल में ऐसा नहीं है जैसा दिखाई देता है तब भी ये वैसे ही दिखाई देते रहते हैं जैसे कि उनके भ्रमपूर्ण होने का पता होने से पहले । कहने का आशय यह है कि ऐसा दिखाई देना मनुष्य की इन्द्रियों का अपना ही स्वभाव है। यदि इन्द्रियाँ होंगी तो ऐसा ही दिखेगा और इस देखने में ज्ञानी-अज्ञानी का कोई भेद नहीं होता। हाँ ज्ञानी होने का मतलब यह जरूर है कि उसको दिखता तो वैसा ही है जैसा अज्ञानी को। पर वह अपने से यह कहता है कि जैसे दिखता है वह असल में वैसा नहीं है और अगर कोई यह पूछे कि वैसा क्यों नहीं है?तो उसका वह कोई संतोषजनक उत्तर दे सकते हैं । पर अगर बुद्धि के भी अपने ऐसे भ्रम हैं तो उनका पता बुद्धि को स्वयं को कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि जिसके पास मानव जैसी बुद्धि होगी उसका विचार जगत उसे वैसा ही परिलक्षित होगा। यह समझने के लिए कि वह वास्तव में भ्रम है हमें बुद्धि के परे किसी अन्य शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी जिसकी सहायता के द्वारा ही उसका भ्रमपूर्ण होना जाना जा सकता है। पश्चिमी परम्परा के प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट ने इस समस्या की ओर इशारा किया था पर उन्होंने इसका कोई हल नहीं दिया था। उन्होंने यह बताने की चेष्टा की थी कि बुद्धि का अपना स्वरूप ही ऐसा है कि वह इन मूलभूत भ्रमों को जन्म देती है । पर उन्होंने यह भी बताया था कि इनकी 'सहज भ्रामकता' कैसे जानी जा सकती है ? प्रत्यक्ष ज्ञान की समीक्षा के संदर्भ में उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की थी कि देश और काल जो प्रत्यक्ष जगत के अनिवार्य अंग हैं और ऐसे दिखाई पड़ते हैं जैसे ये इन्द्रिय व्यापार की प्रक्रिया से स्वतंत्र विषय रूप में जगत में स्वयं स्थित हैं, परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है क्योंकि उनको वैसा मानने पर ऐसी कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं जिनका कोई निराकरण हो ही नहीं सकता क्योंकि वे दोनों (देश और काल)असीम और अनन्त दिखाई देते हैं और जो असीम और अनन्त है वह हमेशा यदि विषय रूप में लिया जाए तो हमेशा उन वैचारिक कठिनाइयों को जन्म देगा जिनका समाधान सिद्धांततः असम्भव है। इसी को आधार बनाकर उन्होंने यह कहने की कोशिश की कि जो किसी प्रक्रिया के मूलभूत स्वरूप से ही उत्पन्न होता है क्योंकि वह उसमें स्वयं में ही अन्तर्निहित है और इसलिए उसमें सहज रूप में विद्यमान है और इसी लिए विषय रूप में उपस्थित होता हुआ प्रतीत होता है। पर उसको ऐसा न जानने से ही उस सारे क्षेत्र की मूलभूत विसंगतियाँ उत्पन्न होती है जिनका निराकरण यह जानकर ही किया जा सकता है कि वे वास्तव में उस क्षेत्र के विषय नहीं है पर उस क्षेत्र के 'क्षेत्र' होने की पूर्व मान्यताएं हैं। कहने का अर्थ यह है कि,वे ही क्षेत्र को 'क्षेत्र' बनाते हैं या उसको आकार देते हैं या उसकी परिधि या रूप रचते हैं पर साधारणतः चेतना को यह प्रतीत नहीं होता कि वह उनको उसी विषय रूप में लेती है जैसे कोई अन्य विषयवस्तु। बुद्धि के संदर्भ में भी उन्होंने बुद्धि के बौद्धिक प्रक्रिया के इस स्वरूप को समझने की चेष्टा की है जो यह बताए कि बौद्धिक प्रक्रिया की पूर्व मान्यता क्या

है या दूसरे शब्दों में कहें तो उस प्रक्रिया का अपना स्वरूप क्या है ? जो साधारणतः बौद्धिक चेतना से जो जगत उत्पन्न होता है उसमें वे विषय रूप में दिखाई देते हैं बुद्धि के अपने स्वरूप में नहीं ।

कान्ट का यह विचार अत्यंत गम्भीर और विश्व दर्शन के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि उन्होंने दार्शनिक विचार को एक नई दिशा दी और उसका ध्यान एक नई समस्या की ओर मोड़ा। कान्ट ने यह सवाल उठाया कि इन्द्रिय जगत की संरचना का आकारिक स्वरूप जो प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रक्रिया में निहित है । वह तो बुद्धि ही उजागर कर सकती है पर बौद्धिक प्रक्रिया के स्वरूप में जो आकारिक पूर्व मान्यताएं हैं और जिनके आधार पर ही बौद्धिक जगत की रचना होती है, उनको कौन उजागर करेगा ? शायद उनका ख्याल था कि,बुद्धि का अपना स्वरूप ही ऐसा है कि वह विषय पर ही चिन्तन नहीं करती पर अपने आप पर भी चिन्तन कर सकती है क्योंकि वह मनुष्य की आत्म चेतना का अनिवार्य अंग है और इसलिए जहाँ एक ओर वह प्रत्यक्ष जगत पर चिन्तन करती है वहीं वह दूसरी ओर अपने पर भी सोचती है । पर अगर ऐसा है तो सवाल यह उठेगा कि आत्मचेतना का अपना स्वरूप क्या है और इस आत्मचेतना की प्रक्रिया के द्वारा जो वह जगत रचता है उसके संस्थानगत मौलिक कर्म क्या होने चाहिए? कान्ट ने यह सवाल नहीं उठाया। और उसके बाद के होने वाले दार्शनिकों ने भी इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया । लेकिन इसे एक अन्य दृष्टि से विचार करें तो ऐसा लगेगा कि मनुष्य का हर आयाम एक जगत की सृष्टि करता है और उस सृष्टि करने की प्रक्रिया की कुछ मूलभूत पूर्व मान्यताएं हैं जो वास्तव में उस सृष्ट जगत को रूप प्रदान करती हैं। ऐसा देखने पर वह जगत जो विषय रूप में प्रदत्त होता हुआ दिखाई देता है वह मनुष्य का ही अपना सृष्टि जगत है ऐसा मालूम पड़ता है। और बौद्ध विज्ञानवाद की भी यही दृष्टि है हालांकि उनके विचार ने वह दिशा नहीं ली जो कान्ट के विचार में निहित है। एक तरह से स्वप्न के संसार में मनुष्य की चेतना कुछ सृष्टि करती है ऐसा लगता है दूसरी तरह से कला जगत में मनुष्य सृष्टि करता है ऐसा भी सब को मालूम है । तीसरी ओर सामूहिक रूप से मनुष्य समाज और संस्कृति की रचना करता है जिसमें कायदे और कानून एक जगत की रचना करते हैं जिसमें मनुष्य रचयिता भी है और अपनी ही संरचना का कैदी भी है। आख़िर कानून तो आदमी ही बनाता है और उसी कानून से कभी-कभी कानून बनाने वाला स्वयं भी जेल भेज दिया जाता है । मनुष्य का यह रचना पक्ष विज्ञानवाद को जन्म देता है । पर बौद्ध विज्ञानवाद की अपने विशेषताएं हैं जिनका हम थोड़ा सा वर्णन यहाँ करेंगे।

अगर कान्ट ने मानव जगत की संरचना के मूल में कुछ बौद्धिक प्रत्ययों की कोटियों,जो स्वयं के बुद्धि के रूप में ही निहित हैं, को माना था वहाँ बौद्ध विज्ञानवाद ने मानव जगत की सृष्टि के मूल में एक अनादि और अदम्य वासना को देखा जो इन सब जगत की सृष्टि करती है । वैयक्तिक स्तर पर तो जो बात स्वप्न में साफ-साफ दिखाई देती है और जागृत अवस्था में भी काफी हद तक विचार करने पर स्पष्ट परिलक्षित होती है वह यह है कि हमारे प्रत्येक का जगत भी वही होता है जो उसकी इच्छा, रुचि और पुरुषार्थ द्वारा रचित होता है । जैसे ही हम किसी क्षेत्र में रुचि लेना बन्द कर देते हैं या हमें उसमें रस या आनन्द की अनुभूति नहीं होती, या उसके अपने निहित मूल्यों और आदर्शों को अर्थहीन मानते हैं वैसे ही वह जगत हमारे लिए एक तरह से जगत

ही नहीं रहता । और अधिक गहराई से देखें तो इसी जगत की संरचना उन सब लोगों के मिलकर जानने से उत्पन्न होती है जो उसके नियमों का पालन करते हैं और उसके पुरुषार्थ को साधने में रस और आनन्द लेते हैं उसी में जीत और हार होती है । खेल इसका सबसे पहला उदाहरण है। सोचिए हर रोज आज के युग में लाखों लोग अनेक प्रकार के खेलों में संलग्न रहते हैं और उनकी हार-जीत के बारे में लाखों दर्शक उस रस जगत का आनन्द लेते हैं यही नहीं अनेक तो उससे इतना तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं कि खेलने वाले की हार-जीत स्वयं उनकी हार-जीत हो जाती है । यहां तक कि हारने पर कई लोग तो आत्महत्या भी कर लेते हैं । अब विचार करें यह कैसा जगत है इसमें सुख-दुःख, आनन्द, इच्छा, प्रयत्न सब कुछ है । 24 घण्टे लोग इसमें लगे रहते हैं और उनके जीवन का पुरुषार्थ ही यह बन जाता है कि वे अपने खेल में दुनिया के सब से अच्छे खिलाड़ी माने जावें, पर अगर किसी को इसमें रुचि नहीं है तो उसके लिए यह जगत एक प्रकार से होता ही नहीं है । खेल तो इसका सहज उदाहरण है जो सब की समझ में आ सकता है पर अन्य क्षेत्र भी कुछ इससे कम विस्मयकारक नहीं है । शेयर बाज़ार लीजिए जहाँ लाखों का सौदा रोज होता है और कोई एक क्षण में ही रईस बन जाता है दूसरा दिवालिया । अनेकानेक क्षेत्र भी इसी प्रकार अपने-अपने जगत की रचना करते हैं चाहे वह कला के हों या शक्ति या ज्ञान के या अध्यात्म के। इन सब के मूल में इच्छा, रुचि और पुरुषार्थ होते हैं जो इन विभिन्न जगतों की रचना करते हैं। बुद्धि और अहम-भाव सृष्ट करते हैं, बनाते हैं क्योंकि ये दोनों ही उन विशिष्ट इच्छाओं, रुचियों और पुरुषार्थों का आधार होती है । जन्म के साथ ही देह का धर्म, देह, मन, बुद्धि और अहम का मनुष्य के संदर्भ में जन्म होता है और मरण पर ये सब उसके साथ रहकर एक मूलभूत जगत की सृष्टि करते हैं जिसके अन्य सब विशिष्ट जगत इच्छानुसार रुचि के अनुसार और पुरुषार्थ के द्वारा रचित होते हैं, पर बौद्ध विज्ञानवाद और एक तरह से कहें तो सम्पूर्ण भारतीय मनीषा में यह कहने की कोशिश की गई कि मनुष्य का जन्म कोई आकस्मिक चीज़ नहीं है । उसके पीछे तो ऐसी कई अनादि या अदम्य वासनाएँ हैं जो बार-बार जन्म-मरण का रूप लेती हैं । प्रसिद्ध पश्चिमी दार्शनिक शोपेनआवर ने, जो भारतीय उपनिषद दर्शन से बहुत प्रभावित थे, इसको विल टू लिव (Will to Live) का नाम दिया है । हिन्दी में इसे हम जिजीविषा कह सकते हैं । विज्ञानवाद की मूल दृष्टि यही है कि चेतना अपने जगत की संरचना करती है और इन संरचनाओं का मूल कोई ऐसी इच्छा या वासना है जिसका उसको स्वयं पता नहीं है पर अगर ऐसा है तो फिर इच्छा की निवृत्ति कब और कैसे होती है क्या एक इच्छा के समाप्त होने पर दूसरी इच्छा जन्म लेती है । क्या यह कोई अनन्त और अनिवार्य श्रृंखला है जिसका न कोई आदि है और न कोई अन्त । भारतीय मानस ने इसका अन्त हमेशा माना है । हालांकि इसको बौद्ध चिन्तकों ने अनादि रूप में स्वीकार किया है ।

एक प्रकार से बौद्ध विज्ञानवाद की यह दृष्टि बुद्ध की उस दृष्टि की व्याख्या ही कही जा सकती है जिसमें सब को 'दुःख' के रूप में देखा था और उस दःखं का मूल कारण उस तृष्णा में पाया था जो कभी शांत नहीं हो सकती । 'दुःख' का यहाँ अर्थ ही यह है कि सब नाशवान हैं । परन्तु यह तो तभी कहा जा सकता है जब इसी की पूर्व मान्यता यह हो कि जो चिरन्तन है, स्थाई

है, अनश्वर है वही सुख का कारण हो सकता है या वैसी अवस्था को ही सुख का नाम दिया जा सकता है। अगर बुद्ध की दृष्टि की यह पूर्व मान्यता है तो फिर उसमें और वैदिक परम्परा से जुड़ी हुई अधिकांश दार्शनिक दृष्टियों में क्या कोई भेद रह जाएगा ? वास्तव में यदि हम बौद्ध दृष्टि को उसके 'तत्वज्ञान' सम्बन्धी विचार के परिप्रेक्ष्य में देखें तो ऐसा लगेगा कि बुद्ध की बात को इस प्रकार से समझने में एक मूलभूत 'भूल' यह है कि उस दृष्टि में तो 'दुःख' तभी उत्पन्न हो सकता है जब हम सत के स्वरूप को ठीक प्रकार से न समझें और चूँकि सत का स्वरूप न नित्य है, न चिरन्तन और न स्थायी। इसलिए उसको ऐसा मानने पर ही मूल दृष्टि दोष उत्पन्न होता है और वही मनुष्य के 'दुःख' का कारण बनता है । हम सहज रूप में यह मानते हैं कि जो जैसा है वैसा ही रहेगा और इसी से भ्रम उत्पन्न होता है । चूँकि जैसा है वैसा नहीं रहता, इसीलिए मनुष्य हमेशा 'परेशान' नज़र आता है । इस संदर्भ में यह बात ध्यान रखने की है कि बौद्ध दर्शन के 'सत्' को इस प्रकार देखने की प्रवृत्ति ने ही क्षणिकवाद को जन्म दिया जिसका कथन यह था कि सत वास्तव में क्षणिक ही है । ऐसा जो क्षण-क्षण में परिवर्तन होने वाला है और यह भावना कि इस परिवर्तन के पीछे कोई स्थायी आधार है जो स्वयं परिवर्तित नहीं होता, मनुष्य की मूल भ्रान्ति का कारण है ।

अगर हम बौद्ध दृष्टि को इस तरह से देखें तो लगेगा कि 'दुःख' का मूल कारण यह भ्रम ही है कि सत परिवर्तनशील नहीं है । पर क्या दुख-सुख को इस प्रकार से देखना ठीक है ? वैसे तो दुःख भी होता है और सुख भी । और चेतना की ऐसी अवस्थाएं बहुत-सी होती हैं जिन्हें हम न सुख ही कह सकते हैं और न दुःख ही । और 'सुख-दुःख' भी कोई एक प्रकार के नहीं होते और यह भी सही नहीं लगता कि दोनों में सदैव इतना फर्क है कि उनका एक दूसरे से न सम्बन्ध है और न कोई मिश्रण । यह ठीक है कि सुख स्थायी नहीं होता पर अगर वह स्थायी हो तो शायद सुख ही न रहे दुःख में परिवर्तित हो जाय । दूसरी ओर दुःख भी तो स्थायी नहीं रहता और उसके होने पर यह सांत्वना होती है कि यह भी चला जाएगा । कहने का आशय यह है कि सुख-दुःख के सम्बन्ध में बौद्ध चिन्तन न उतना स्पष्ट है और न उतना सत्य जितना सब लोग मान बैठे हैं । एक प्रकार से यह बात सारे भारतीय चिन्तन के बारे में कही जा सकती है जो उसमें सुख-दुःख के सम्बन्ध में किया है । 'सत्' और सुख-दुःख के सम्बन्ध को किस प्रकार से समझें यह अपने आप में एक प्रश्न है जिस पर शायद स्वतंत्र रूप से विचार करना चाहिए ।

एक तरह से देखें तो सुख-दुःख के विचार मनुष्य को मूल रूप में भोक्ता मानता है और चेतना को एक ऐसे रूप में देखता है जैसे उसका कार्य केवल आस्वाद लेना है । उपनिषद् की प्रसिद्ध उक्ति में तो यह स्पष्ट ही कहा गया है कि एक डाल पर दो मित्र पक्षी बैठे हैं जिनमें एक फल चखता है और उसे खट्टा-मीठा लगता है और उसे उससे सुख-दुःख होता है और दूसरा पक्षी उसे केवल देखता है वह चखता नहीं है । चेतना के ये दो पक्षी ही भारतीय चिन्तन में प्रधानतः देखते हैं और इनके अनुसार या तो चेतना आस्वाद चखती है, भोगती है और या केवल देखती है । इस दृष्टि में कर्म की कहीं चर्चा नहीं है, और न ही चेतना को 'रचयिता' के रूप में देखा गया है। चेतना स्वयं सृष्टि भी कर सकती है ऐसा तो इस दृष्टि में सोचा ही नहीं गया है । हालांकि काश्मीर शैव दर्शन में 'विमर्श' को चेतना का सहज स्वाभाविक और अनिवार्य गुण माना गया है। परन्तु वहाँ

भी यह स्पष्ट नहीं है कि 'विमर्श' का अर्थ केवल 'विचार प्रक्रिया' है यॉं वास्तव में कोई सृष्ट करने की शक्ति । यह ठीक है कि बाद में 'शक्ति' की चर्चा की गई है और शिवशक्ति को समन्वित रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा भी उस दर्शन में मिलती है जिसकी भ्रान्ति शिव और शक्ति के सामरस्य की कल्पना में है पर इस सब विचार में साधारणत: शिव की भी प्रधानता है और शक्ति को शिव का सहज अन्तरंग रूप नहीं दिया गया है। हालांकि यह भी सच है कि यह कहा गया है कि शक्ति के बिना शिव तो केवल 'शव-मात्र' है । जो कुछ भी हो यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि चेतना के सृष्टा रूप पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है और जहाँ कर्म की चर्चा भी है वहाँ कर्म को या तो धर्म के परिप्रेक्ष्य में देखा गया है या काम और अर्थ के पुरुषार्थ की स्थिति के संदर्भ में, और अन्ततोगत्वा उसे बन्धन का कारण ही माना गया है । जैसा मनुष्य की परमावस्था वहीं है जिसमें कर्म क्या कर्म की संभावना भी नहीं हो। जहाँ व्यक्ति की चर्चा भी की गई है वहाँ शक्ति के सृष्टि पक्ष की ओर कम ध्यान दिया गया है और विनाशकारी पक्ष की ओर अधिक।

इस शब्द का आशय एक तरह से तो इस ओर ध्यान दिलाना है कि सुख-दु:ख केन्द्रित विचार चेतना के उन अन्य पक्षों की ओर ध्यान नहीं देता जो वास्तव में उसके अधिक गहरे और सार्थक पक्ष दिखाई देते हैं । दूसरी ओर वह सृष्टा पक्ष के संदर्भ में उत्पन्न होने वाले भावों की चर्चा नहीं करता । यह ठीक है कि भरत के नाट्यशास्त्र में इनकी विशद् चर्चा है, पर उन सब का संदर्भ नाट्य को समझने की चेष्टा है, न कि मनुष्य की चेतना को ।

एक तरह से देखें तो भरत ने भी मानव के भाव जगत को मानवीय सम्बन्धों से उत्पन्न होते हुए भी देखा है । मानव को मानव सृष्टि से उत्पन्न होते हुए नहीं । नाटक स्वयं एक 'कृति' होते हुए भी मानवीय जगत की 'अनुकृति' के ही रूप में प्रस्तुत होती है । नाटककार मनुष्य के उस भावात्मक जगत का चित्रण नहीं करता जो उसका स्वयं के कृतित्व के द्वारा निर्मित होता है और न ही किसी नाटककार ने मानवीय सम्बन्धों को एक आदर्श कृतित्व की रचना के रूप में देखा है । रामायण शायद इसका अपवाद है । पर वह भी आदर्श मानवीय सम्बन्धों को किसी पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं करती बल्कि कुछ ऐसा मानकर चलती है कि वह आदर्श मनुष्य को पूर्ण-रूपेण उपलब्ध है और उसे केवल उनको चरितार्थ करना है उनकी खोज करना नहीं । यही नहीं उसमें यह भी कहीं आभास नहीं मिलता कि मानवीय सम्बन्धों का आदर्श कृतित्व अनेक भिन्न-भिन्न रूप ले सकता है । इसलिए यह कहना अनुचित नहीं होगा कि मनुष्य की चेतना के कृतित्व पक्ष को केन्द्र में रखकर विचार ही नहीं किया गया है । यह सच है कि 'कर्म' की बात भारतीय दर्शन में बहुत की गई है और उसका धर्म से अनिवार्य सम्बन्ध देखा गया है। इस अनिवार्य सम्बन्ध की विडम्बना धर्मसंकट को कृति द्वारा पकड़ने की चेष्टा की गई है। पर कर्म का जो कृतित्व पक्ष है, और कृतित्व क्रिया में जो एक सहज आनन्द है उसकी चर्चा बहुत कम है। इसी तरह कृति, कर्म द्वारा सृजित रचना, को देखकर जो भावात्मक जगत उत्पन्न होता है उसकी चर्चा तो और भी कम है । इस संदर्भ में यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि किसी मानवीय कृति या कर्म द्वारा रचित रचना का रसास्वादन कोई उस प्रकार के 'फल' का चखना नहीं है जिसकी उपनिषद में चर्चा की गई है।

इसके लिए तो 'सहृदय' होना पड़ता है और सहृदय होने में भी परिश्रम या साधना की जरूरत होती है, इसके अभाव में कृति को समझना भी मुश्किल है और उसमें 'रस' लेना तो और भी दूर की बात है । भारतीय चिन्तन में 'लीला' शब्द से शायद यही अभिप्राय है पर वास्तव में कृति-कर्म और इनके द्वारा रचित विषय को समझना और उससे सहज रूप में उत्पन्न 'रस' या 'आनन्द' को लीला शब्द पूर्ण रूप से अभिव्यक्त नहीं करता। यहाँ इतना तो जरूरी है कि लीला शब्द में वह नकारात्मक ध्वनि नहीं है जो 'माया' शब्द के साथ अनन्य भाव से जुड़ी हुई है ।

श्रमण परंपराओं की दार्शनिक दृष्टि

बौद्ध विज्ञानवाद के संदर्भ में 'माया' या 'लीला' की बात नहीं की जाती पर यह कहना कोई बहुत गलत नहीं होगा कि बौद्ध विज्ञानवाद चेतना के जिस रूप की चर्चा करता है वह अद्वैत वेदान्त के 'माया' शब्द से इंगित किये जाने वाले तथ्यों के निकट है और जो लोग यह कहते हैं कि बौद्ध दर्शन का अद्वैत वेदान्त पर अधिक प्रभाव हुआ है वे कोई खास गलती नहीं करते ।

'माया' शब्द का प्रयोग अद्वैत वेदांत में ईश्वर के संदर्भ में किया गया है और उसी से जगत 'सृष्टि' रूप को भी समझा गया है । दूसरी ओर आत्मा के संदर्भ में माया की बात नहीं करके अविद्या की बात की गई है । अगर इससे भी ज्यादा ठीक तरह से कहें तो यह कहना उचित होगा कि ईश्वर माया से युक्त ब्रह्म का ही दूसरा नाम है जबकि अविद्या से युक्त आत्मा को 'जीव' कहा गया है । इसी संदर्भ में अद्वैत वेदांत में माया और अविद्या के दो रूपों की चर्चा की गई है जिनको 'आवरण' एवं 'आक्षेप' का नाम दिया गया है । 'आवरण' का अर्थ अक्सर ढकने से लिया जाता है और 'आक्षेप' का आरोपित करने से। यहाँ इनका अर्थ है कि अविद्या आत्मा को छिपाती है आत्मा के सत् को चेतना से छिपाती है और दूसरी ओर संसार का सृजन करती है जो स्वयं में असत् है। सत् को छिपाना आवरण है और असत् की सृष्टि करना आक्षेप है । यही अविद्या का लक्षण माना गया है। पर अगर ऐसा है तो ईश्वर के संदर्भ में भी यह मानना होगा कि 'माया' ब्रह्म का 'आवरण' करती है और जगत का 'आक्षेप' । इसका अर्थ तो यह होगा कि ईश्वर ब्रह्म के सत् को छिपाता है और जगत के असत् की सृष्टि करता है। ईश्वर और जीव की सृष्टियों में एक मूल भेद तो मानना ही पड़ेगा क्योंकि यह सच होते हुए भी कि दोनों की असत्यता एक ही प्रकार की नहीं है । जब तक ईश्वर का सृष्ट जगत असत् होते हुए भी सब अविद्याग्रस्त जीवों के लिए समान रूप से सत् है जबकि इसके विपरीत प्रत्येक अविद्या से ग्रसित जीव की सृष्टि केवल उसके लिए ही सत् है दूसरे के लिए नहीं । यह भेद कुछ-कुछ स्वप्न और जाग्रत के भेद से मिलता है । 'स्वप्न' हर मनुष्य की अपनी स्वतंत्र सृष्टि है जबकि जाग्रत में प्रतीत होने वाले जगत सब के लिए समान हैं। जीव की अविद्या से सृष्ट उसकी अपनी सृष्टि है जबकि ईश्वर की माया से जनित सृष्टि सब जीवों के लिए समान रूप से सत् है।

पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में इस प्रकार का भेद इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक जार्ज बर्कले के दर्शन में मिलता है उनका कहना था कि किसी भी विषयवस्तु की कल्पना चेतना से स्वतंत्र रूप में नहीं की जा सकती इसलिए जो वस्तु मनुष्य को अपनी चेतना से स्वतंत्र दिखाई

पड़ती है वह किसी अन्य चेतना पर आश्रित होनी चाहिए और जीव मात्र से स्वतंत्र चेतना का नाम ही ईश्वर है जिस पर वह सारा जगत जो मनुष्य की चेतना से पूर्णरूपेण स्वतंत्र प्रतीत होता है, आश्रित है। यहाँ भेद, सृष्टि को लेकर नहीं पर स्वतंत्रता को लेकर किया गया है। कुछ ऐसी वस्तुएं है जो व्यक्ति की चेतना पर स्वयं आश्रित हैं और कुछ वह जो ईश्वर की चेतना पर। दूसरी ओर भेद कुछ इस प्रकार का है, कि कुछ ऐसी विषय वस्तुएं हैं, जो व्यक्ति की चेतना के द्वारा सृष्ट होती हैं और ईश्वर उन पर आश्रित है और अन्य वह जो उसकी चेतना द्वारा सृष्ट नहीं होतीं और ईश्वर उससे स्वतंत्र है उसको प्रदत्त है पर वे किसी अन्य विशाल चेतना द्वारा सृष्ट हैं और उसी पर आश्रित हैं और उस चेतना का नाम ही ईश्वर है। बौद्ध विज्ञानवाद के संदर्भ में इन दोनों मतों को देखने पर साम्य और भेद दोनों प्रतीत होते हैं जहाँ तक आश्रित होना,सृष्ट होना आदि है वहाँ तक तो बहुत सा साम्य दिखाई देता है पर भेद इस बात को लेकर है कि बौद्ध विचार जीव और ईश्वर का भेद नहीं करता और इसलिए वह मनुष्य की सृष्टि और ईश्वर की सृष्टि में कोई मूलभूत भेद नहीं मानता। दूसरी ओर वह अविद्या का मूल अज्ञान या माया में न मानकर तृष्णा और वासना में मानता है। जो अज्ञान और अविद्या के द्वारा उत्पन्न हो सकता है पर स्वयं अज्ञान या अविद्या नहीं है।

इन तीनों परम्पराओं को एक साथ देखने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन सब में एक मूलभूत बात स्वीकार की गई है, जो अपने आप में ठीक नहीं लगती है, वह यह है कि, क्या सृष्टिकर्ता केवल मनुष्य और ईश्वर दो ही हैं और कोई अन्य नहीं ? और मनुष्य में क्या केवल अकेला व्यक्ति ही सृष्टि करता है ? मनुष्य मिलकर ऐसा नहीं करता ? फिर क्या एक मनुष्य जो अपने अज्ञान, अविद्या, वासना, तृष्णा आदि के द्वारा संसार रचता है, क्या उसका दूसरों पर प्रभाव नहीं पड़ता ? आश्रय की बात करना और आश्रय की बात के संदर्भ में क्या यह कहना उचित है कि केवल विषयवस्तु ही चेतना पर आश्रित होती है व्यक्ति एक दूसरे पर नहीं ? दूसरी ओर ईश्वर का प्रत्यय या विचार भी तो व्यक्ति की स्वयं की चेतना के अन्दर विद्यमान है। जैसा कि प्रसिद्ध फ्रेन्च दार्शनिक डेकार्ट ने कहा था, और उस प्रत्यय को क्या हम, जैसा कि उसने उससे, स्वयं ईश्वर द्वारा जनित या प्रदत्त मानें या स्वयं व्यक्ति की स्वतंत्र चेतना द्वारा सर्जित। और अगर ईश्वर ब्रह्म का 'आवरण' करता है तो किसके लिए, अपने लिए या जीव के लिए। और जगत का आक्षेप क्या ईश्वर को भी भ्रमित करता है या केवल जीव को।

कहने का अर्थ यह है कि चाहे अद्वैत वेदांत हो या बौद्ध विज्ञानवाद या बर्कले या डेकार्ट का विचार सभी एकांगी प्रतीत होते हैं और सब ने इस प्रश्न के अनेक पहलुओं को छुआ तक नहीं, देखने की बात तो और ही है।

ध्यान देने की बात यह है कि बार-बार ईश्वर का विचार इस संदर्भ में क्यों लाया जाता है। यह ठीक है कि बौद्ध दार्शनिकों ने 'ईश्वर' की बात नहीं की है पर फिर भी बौद्ध विज्ञानवाद ने 'आलय विज्ञान' जैसे प्रत्यय की कल्पना की है, हालांकि वह पूर्ण रूप से ईश्वर जैसा तो नहीं है फिर भी वह उनके दार्शनिक तंत्र में कुछ-कुछ वैसा ही काम करता है जैसे बर्कले का ईश्वर या

अद्वैत वेदांत में माना जाने वाला ईश्वर, क्योंकि वह भी एक प्रकार से जगत की विषयवस्तुओं को मनुष्य के अपने व्यक्तिगत चित्त से स्वतंत्रता प्रदान करता है। ज्ञान के संदर्भ में ईश्वर का प्रत्यय जगत की सत्ता को स्वतंत्रता व विषयनिष्ठता का आधार प्रस्तुत करता है और इस विश्वास का आधार प्रस्तुत करता है कि सब कुछ मानव की अपनी और खुद की ही कल्पना नहीं है पर ज्ञान के संदर्भ में ईश्वर की अवधारणा दार्शनिकों को कितनी ही रुचिकर लगे, साधारण मनुष्य को तो उसकी जरूरत कुछ और बातों के लिए ही होती है। उसे इस बात की कोई विशेष परवाह नहीं है, उसका ज्ञान अपने विषय की स्वतंत्र सत्ता की अपेक्षा रखता है और यह 'स्वतंत्रता' किस प्रकार से सुरक्षित की जाय वह तो अपने सुख-दुःख का साथी खोजता है और चाहता है कि संसार में कोई चरम शक्ति हो जो उसकी प्रसिद्ध साधना को सुदृढ़ आधार दे सके। उसके माने हुए आदर्शों या मूल्यों को केवल उसकी अपनी कल्पना पर ही आधारित नहीं हो और जरूरत के वक्त उसकी प्रार्थना को सुन सके और इससे भी अधिक जगत में कोई ऐसा हो जो उसे प्यार भी दे, अभय भी और संरक्षण भी। कहने का अर्थ यह है कि मनुष्य कोई केवल ज्ञाता ही नहीं है या केवल शुद्ध ज्ञान का इच्छुक नहीं है उसकी जरूरतें और भी हैं और ईश्वर 'उस' का नाम है जो उन जरूरतों को पूरा करता है।

अगर ऐसा है तो फिर बौद्ध परम्परा में जहाँ ईश्वर की सत्ता को माना ही नहीं गया है वहाँ इन जरूरतों को कैसे पूरा किया गया। बौद्ध विज्ञानवाद के आलय विज्ञान का प्रत्यय इन जरूरतों को पूरा तो नहीं करता। बौद्ध धर्म का इतिहास एक तरह से इन जरूरतों को पूरा करने के रूप में भी देखा जा सकता है। भगवान बुद्ध ने दर्शन के शुद्ध बौद्धिक प्रश्नों के बारे में कुछ कहने से इंकार यह कहकर किया था कि इनका मानव की मूल समस्या से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है किन्तु दूसरी ओर शायद उन प्रश्नों का कोई निश्चित उत्तर हो ही नहीं सकता। लेकिन बौद्ध धर्म और बौद्ध दर्शन का जो विकट विकास हुआ वह आश्चर्यजनक है और इस बात का प्रमाण है कि दार्शनिक जिज्ञासा मानवीय चेतना का मूलभूत अंग है जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। भगवान बुद्ध और महावीर दोनों ने मनुष्य को अपने आत्म प्रयत्न से अपनी समस्याओं का समाधान करने का उपदेश दिया। बुद्ध का 'आत्म दीपोभव' इसका प्रसिद्ध उदाहरण माना जाता है। जैन धर्म में तो कर्म का क्षय तपस् के द्वारा ही होता है और तपना तो खुद ही पड़ता है, पर मनुष्य की कामना तो यही रही है कि वह किसी का सहारा ले और अगर इन सम्प्रदायों में ईश्वर की बात नहीं की गई तो भी धीरे-धीरे बुद्ध और महावीर ने ही 'ईश्वर' का स्थान ले लिया और उनसे ही लोग प्रार्थना करने लगे कि वे उनकी सहायता करें। बुद्ध और महावीर के नाम का जप इसका उदाहरण है और यही नहीं कुछ देशों में तो इस प्रार्थना ने ऐसे यांत्रिक रूप भी लिए कि बजाय स्वयं 100 बार बुद्ध का नाम लेना पड़े केवल एक चक्र घुमाने से ही यह मान लिया जाता है कि वह नाम 100 बार लिया गया। तिब्बत में यह बात विशेष तौर पर है, अन्य बौद्ध देशों में भी इसका प्रचलन पाया जाता है।

यही नहीं, इसके अलावा बौद्ध महायान धर्म का जन्म और उसके अनेक सम्प्रदायों का कालक्रम में विकास मनुष्य की इन जरूरतों को पूरा करने के संदर्भ में भी देखा जा सकता है। हालांकि महायान और हीनयान का भेद किसी अन्य आधार पर किया जाता है।

साधारणत: इनमें भेद इस आधार पर किया जाता है कि एक तो मनुष्य के अपने व्यक्तिगत निर्वाण की बात करता है और व्यक्ति का सारा पुरुषार्थ उसी की प्राप्ति में मानता है वही दूसरा व्यक्तिनिष्ठ न होकर, दूसरों की चिन्ता करता है उनके श्रेय की, उनके निर्वाण की, उनके दुख निवारण की, और उसी में अपना पुरुषार्थ ढूँढ़ता है। बोधिसत्व के आदर्श को इसी वैचारिक परम्परा ने जन्म दिया और चूँकि यह सब के श्रेय की सिद्धि में ही अपना श्रेय मानता है इसी लिए इसे महा-यान कहते हैं दूसरी दृष्टि की मान्यता यह है कि प्रत्येक मनुष्य अपने लिए ही कुछ कर सकता है अन्य के लिए नहीं क्योंकि प्रत्येक अपने किए का फल भोगता है और अपने पुरुषार्थ के लिए खुद ही जिम्मेदार है।

पुरुषार्थ की यह परस्पर विरोधी धारणाएं हालांकि बौद्ध धर्म में स्पष्ट रूप में मिलती हैं पर एक तरह से यह सभी जगह परिलक्षित होती हैं और कर्म के विचार के संदर्भ में दो परस्पर विरोधी मान्यताओं की ओर संकेत करती हैं, पर दोनों ही बुद्ध के जीवन पर आधारित मालूम होती है इसीलिए एक ओर तो बुद्ध ने कहा था कि 'आत्म दीपोभव' पर अपनी स्वयं की साधना के द्वारा भी यही उदाहरण प्रस्तुत किया था कि प्रत्येक व्यक्ति को निर्वाण की खोज स्वयं करनी है और अपनी स्वयं की साधना के द्वारा ही वह उसको प्राप्त कर सकता है। दूसरी ओर बुद्ध के जीवन में यह कथा भी स्पष्ट आती है कि सम्बोधि की प्राप्ति के बाद उनके सामने यह प्रश्न उठा था कि वे इस ज्ञान को अपने तक ही सीमित रखें या दूसरों को भी दें, और उन्होंने यह निश्चय किया कि मानव के कल्याण के लिए जो उन्होंने स्वयं पाया था वह सब को देने की चेष्टा करें। और इसी को आधार मानकर उन्होंने सारे जीवनभर दूसरों को सही मार्ग दिखाने की कोशिश की और सुख की स्थापना की। बुद्ध के जीवन का यह दूसरा पक्ष महा-यान की आधारशिला है और उसका उत्कृष्टतम आदर्श बोधिसत्व के उस कल्याण में है जो अपने लिए निर्वाण प्राप्त करने से इंकार करता है जब तक कि सब को निर्वाण प्राप्त नहीं हो जाय। और चूँकि निर्वाण का एक अर्थ सब दु:खों के नाश से है इसी लिए महायान के पथ पर चलने वाले बौद्ध भिक्षु का धर्म यह भी माना जाता है कि वह दूसरों के दु:ख दूर करने में सतत प्रयत्न करता रहे। पर यह कोशिश एक तरह से अजीब-सी ही है क्योंकि दुख का कारण तो तृष्णा है, और दूसरे में जब तक तृष्णा शान्त नहीं होगी उसके दुख का निवारण कैसे हो सकता है। फिर भी महायान की यह दिशा व्यक्ति की चेतना को अन्य की ओर उन्मुख तो करती ही है, और दूसरे के प्रेय और श्रेय दोनों पर केन्द्रित करने की कोशिश करती है, न कि केवल अपने पर जैसी की हीनयान की साधना में साफ दिखाई पड़ता है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि,महायान के प्रवर्तकों में नागार्जुन का नाम लिया जाता है जो बौद्ध परम्परा में बहुत बड़े दार्शनिक माने गए हैं और जिन्हें शून्यवाद का प्रवर्तक भी माना जाता है। उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थों, जिनमें **विग्रह व्यावर्तनी** और **मूल मध्यमक कारिका** हैं, में बुद्धि के तर्क के द्वारा ही बुद्धि का खण्डन किया है और यह कहने की कोशिश की, कि बुद्धि सत्य को कभी भी नहीं पकड़ सकती; और इसीलिए बुद्धि की चारों कोटियों से जब तक मनुष्य मुक्त नहीं हो जाएगा तब तक वह सत्य को नहीं पा सकेगा। बुद्धि की कोटियों में फंसा रहना ही दर्शन के जाल में आबद्ध होना है जिसमें एक बार अगर आदमी पड़ जाए तो फिर उससे निकलना दुष्कर होता है। सत्य की प्राप्ति उसे जाल के रूप में देखकर और उससे दूर रहकर ही हो सकती है।

एक तरह से यह बात भी बुद्ध के अपने जीवन में परिलक्षित होती है, पर उस तरह से नहीं जिस तरह नागार्जुन ने कही है। बुद्ध तर्क करते ही नहीं हैं वे दार्शनिक समस्याओं के उठने पर यही कहते थे कि इससे क्या मनुष्य के दु:ख का निदान होगा ? इन समस्याओं के सम्बन्ध में वे अधिकतर मौन ही रहते थे वे न हाँ कहते थे और न ही ना। नागार्जुन ने शायद यह कहने की कोशिश की कि इन प्रश्नों का रूप ही ऐसा है कि इनका उत्तर दिया नहीं जा सकता और जो लोग इनका उत्तर हाँ में देते हैं वे भी उतनी ही गलती करते हैं जितना कि वे लोग जो इनका उत्तर 'ना' में देते हैं। इससे भी अधिक गलती तो वे लोग करते हैं जो यह समझते हैं कि इनका उत्तर 'हाँ' या 'ना' में दिया जा सकता है, और इस उत्तर देने की चेष्टा में ही सारी जिन्दगी गँवा देते हैं इस तरह की बात पश्चिमी दर्शन में कान्ट ने भी कही है और आजकल के प्रसिद्ध दार्शनिक विटगिन्सटाइन ने भी। पर कान्ट और विटगिन्सटाइन ने इनके नकारात्मक पक्ष को अपनाया, लेकिन बुद्धि की इन सीमाओं की नींव पर कोई भी विशाल कार्यक्रम बनाने की कोशिश नहीं की जो मनुष्य की भावना और कर्म को नई दिशा दे सके। महायान और शून्यवाद के प्रवर्तक नागार्जुन ने इसके विपरीत मनुष्य के भावनात्मक और कर्म सम्बन्धी पक्ष को बुद्धि के अंकुश से मुक्त करके अपने अलग पुरुषार्थों को खोजने की प्रेरणा दी। **प्रज्ञा पारमिता** के नाम से विख्यात ग्रन्थ इस स्वतंत्र पुरुषार्थ की खोज का उदाहरण है जिसमें मनुष्य फिर संसार में जो सत् है उससे भावनात्मक सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा करता है और उसके द्वारा अपने कर्मों के पुरुषार्थ की सिद्धि में सहायता माँगता है।

चूँकि मनुष्य का मन केवल शाब्दिक प्रत्ययों से संतुष्ट नहीं हो पाता और जो कुछ सोचता है उसको मूर्त रूप देने की कोशिश करता है इसलिए महायान ने अनेकानेक बुद्ध मूर्तियों को जन्म ही नहीं दिया पर अवलोकितेश्वर और मंजुश्री जैसे देवी-देवताओं की कल्पना की और बौद्ध धर्म को एक नया मोड़ दिया।

शून्यवाद और विज्ञानवाद के अतिरिक्त बौद्ध चिन्तन में दो और दार्शनिक सम्प्रदाय भी हुए हैं जिनके नाम वैभाषिक और सौत्रांतिक हैं। इनकी ख्याति इतनी नहीं है जितनी शून्यवाद और विज्ञानवाद की क्योंकि साधारणत: इनमें भेद इसी आधार पर किया जाता है, कि इनमें से

एक विषय वस्तु को जैसी वे ज्ञात होती हैं वैसी ही चेतना से पूर्णरूपेण स्वतंत्र मानते हैं जबकि दूसरा जो वस्तुओं में गुण ज्ञान के द्वारा मनुष्य को उपलब्ध होते हैं उनमें कुछ इस प्रकार का भेद करता है कुछ तो वस्तु में स्वयं अपने आप में मौजूद हैं जबकि कुछ अन्य मनुष्य के ज्ञान की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न। यह भेद कुछ-कुछ उसी तरह का है जो पश्चिमी दर्शन में Naive Realism और Critical Realism में किया जाता है। वैसे तो इस तरह का भेद सभी लोग करते हैं कोई भी यह नहीं मानता कि वस्तुओं में जो भी गुण उसे दिखाई देते हैं वे सब उन वस्तुओं के अपने ही गुण हैं क्योंकि यदि ऐसा होता तो धोखा खाने की बात ही नहीं हो सकती थी पर दार्शनिकों ने इस थोड़े से भेद को लेकर एक अपार संसार रच दिया है। और यह जानने की कोशिशें की कि वस्तु के अपने में निहित वास्तव में क्या गुण हैं ? सारी अपनी बौद्धिक चेष्टा यहाँ तक लगा दी, कि उन्हें यह निश्चय करना मुश्किल हो गया, कि क्या कोई भी गुण ऐसा है जिसको हम पूर्णरूपेण वस्तुनिष्ठ मान सकते हैं। पश्चिमी दर्शन में पहले गैलीलियो और बाद में लॉक ने इस प्रकार के भेद को निश्चित रूप देने की कोशिश की और यह कहा कि वस्तु के वे सारे गुण जो इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं वे इन्द्रिय सापेक्ष ही नहीं चेतना सापेक्ष भी हैं, क्योंकि वास्तव में वस्तुओं में कोई रंग, स्वाद आदि जैसी कोई चीज़ नहीं होती वह तो उनका इन्द्रियों से सम्पर्क होने पर उत्पन्न होती है। अगर जगत में कोई भी मानव नहीं हो तो यह कहना कठिन होगा कि ये सब गुण वस्तुओं में वास्तव में अपने आप में हैं। इसीलिए भौतिक विज्ञान का इन सब गुणों से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, वह तो वस्तु के उनके गुणों की खोज करता है जो उसमें स्वतंत्र रूप में विद्यमान हैं और जो उसमें तब भी माने जाएंगे जब जगत में कोई भी प्राणी विद्यमान न हो । इसी बात को मूल आधार बनाकर आज के भौतिक विज्ञान की रचना हुई जिसमें वस्तुओं के मूल गुणों को केवल परिमाणात्मक रूप में ही स्वीकार किया, यानि वे गुण जिनको गणित या ज्यामिति के आधार पर पकड़ा जा सकता है, क्योंकि वह देश में स्थित है उसका कुछ वजन होता है, वह स्थिर या गतिशील होता है । आज के विज्ञान को गैलीलियो ने यह रूप दिया था और लॉक ने उसका दार्शनिक आधार यह बताकर देने की कोशिश की थी कि मानव जो कुछ भी वह अपनी पाँचों इन्द्रियों से जानता है वह सब उसके अपने एक रचित संसार में है न कि उस संसार में जो उसका स्वतंत्र भौतिक जगत में विस्तृत है और जिसका ज्ञान ही वास्तव में ज्ञान है और इसीलिए उसे भौतिक विज्ञान कहते हैं । बर्कले जिसका नाम हम पहले ही ले चुके हैं उसने लॉक के इस भेद का खण्डन किया और यह कहा कि वास्तव में इस प्रकार का भेद तर्कसंगत नहीं है क्योंकि वह सब आधार जिनपर गणित और ज्यामिति की पकड़ में आने वाले गुण, और वे जो इन्द्रियों से जाने जाते हैं, उन में तर्कतः कोई भेद नहीं किया जा सकता । वे दोनों एक ही प्रकार से चेतनाश्रित प्रतीत होते हैं और उनमें इस आधार पर कोई भेद नहीं किया जा सकता । यह बात विज्ञानवाद के संदर्भ में हम पहले कर चुके हैं पर यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि मनुष्य हमेशा अपने ज्ञान में इस प्रकार का भेद करता है, कि उसमें वह कौनसा गुण है जो वास्तव में वस्तुनिष्ठ है या वस्तु में अपने आप में स्थित, और वे जो वस्तु में तभी उत्पन्न होते हैं जब उसका उसकी इन्द्रियों से या मन से या बुद्धि से या चेतना से या आत्मा से सम्पर्क होता है, स्पष्ट-अस्पष्ट की बात, या सुन्दर-असुन्दर की बात के सम्बन्ध में तो हमेशा ऐसा लगता है कि यह मानवोपेक्षित ही है यही नहीं यह तो संस्कृति, समाज या काल में

भी सापेक्ष नजर आते है । पर अन्य गुणों के बारे में साधारणतः ऐसा नहीं माना जा सकता । वस्तु में अपने आप में क्या है या वस्तु अपने आप में ही क्या है? यह प्रश्न हमेशा दार्शनिक चिन्तन का विषय रहा है और इस संदर्भ में बौद्ध दार्शनिकों की दृष्टि क्या थी यह अपने आप में एक रोचक प्रश्न तो है ही, पर इसके साथ ही भारतीय दर्शन के कुछ उन वैशिष्ट्य पहलुओं की ओर भी इंगित करता है जो उसे अन्य दार्शनिक परम्पराओं से अलग करते हैं । उदाहरण के तौर पर बौद्धों ने विषयवस्तु के बारे में जो एक प्रश्न उठाया वह लगता है कि पश्चिमी दर्शन की परम्परा में कभी भी केन्द्र रूप में नहीं उठाया गया - जो कुछ भी हम देखते हैं वह संघात मात्र है । कहने का अर्थ यह है, कि वह एक ऐसी इकाई है जिसके अनेक अंग हैं, और जिन अंगों में भेद हम स्पष्ट रूप से देखते हैं वस्तु स्वयं में इन अंगों का एक संगठित समूह रूप है जिनके बगैर उस वस्तु की कल्पना ही नहीं की जा सकती तब जब हम वस्तुओं के अपने स्वरूप की बात करते हैं तब हम किसकी बात करते हैं । उसकी अपनी या अंगों की या अंशों की जिनके सम्बन्धों में ही उसकी सत्ता है ? अंश-अंशी, अवयव और अवयवी के भेद भारतीय दर्शन की एक विशिष्ट समस्या रही है। और इससे जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं उन पर भारतीय दर्शन में गहन विचार हुआ है । इस विचार का मूल श्रेय बौद्धों को ही दिया जाएगा, क्योंकि उन्होंने बार-बार इस बात को विचार के केन्द्र में रखने की चेष्टा की और यह कहा कि वस्तु वास्तव में कुछ है ही नहीं क्योंकि इस भेद को अगर हम ध्यान से देखें तो यह पता चलेगा कि न कोई अवयव है और न अवयवी वास्तव में तो शून्य है ।

अवयव-अवयवी का भेद अनेक विचार परम्पराओं में किया गया है और वैज्ञानिक ज्ञान की परम्परा भी इसको मानकर चलती है । साधारण ज्ञान के विषय के सम्बन्ध में यह भेद किया जाता है पर बौद्ध दार्शनिकों ने जिस प्रकार से इस भेद को देखा और उसका अपनी ज्ञान और तत्व मीमांसा में उपयोग किया वह इन सब से अलग ही प्रतीत होता है । एक ओर जहाँ यह भेद अणु या परमाणु के विचार की ओर ले जाता है जिनसे मिलकर संसार की समस्त वस्तुएं बनी व दिखाई देती हैं और जो स्वयं में किसी अन्य चीज़ से बने हुए नहीं हैं, क्योंकि उनका कोई विभाजन नहीं हो सकता । इसलिए बौद्धों की परिभाषा में कहें तो वे मात्र अवयव हैं अवयवी नहीं, वहीं दूसरी ओर विचार की यह प्रक्रिया एक ऐसे अखण्ड अविभाज्य, अविश्लेष्य, सम्पूर्ण, सहज, सातत्य युक्त सत्ता की ओर ले जाती है जिसमें कोई भेद किया ही नहीं जा सकता और जिसमें भेद केवल बुद्धि इन्द्रियों या मन अपनी सीमाओं के द्वारा ही करते हैं क्योंकि अवयव अवयवी का भेद तभी किया जा सकता है जब हम जो 'शून्य' है 'रिक्त' है 'असत्य' है, यानि जो स्वयं में कुछ नहीं है, उसको सत् नहीं माने या उसे किसी प्रकार की सत्ता न दें । आख़िर भेद या विभाजन का आधार क्या होगा, बौद्ध विचार अपने आप में यह दूसरी दिशा तो नहीं लेता तथा इस ओर जरूरी बात दिखाई देती है कि यह भेद अपने आप में अंतहीन है, क्योंकि किसी ऐसे अवयव की कल्पना करना जो स्वयं अवयवी नहीं है आधारहीन प्रतीत होता है इसलिए उनके अनुसार यदि इस भेद पर पूर्णतः विचार किया जाए तो उसकी परिणति भी किसी शून्य में ही होगी ।

आज का विज्ञान इस भेद को एक अन्य रूप से देखता है और वह यह प्रश्न नहीं उठाता जो बौद्धों ने उठाया था वह तो प्रत्येक वस्तु के बारे में यही सवाल उठाता है कि आख़िर किन चीज़ों

से बनी है । अवयव-अवयवी प्रत्ययों का प्रयोग करने से ऐसा लगता है कि अवयव और अवयवी एक ही प्रकार के होंगे । पर यह कोई आवश्यक रूप में सत्य नहीं है, क्योंकि अवयव उसी तरह का भी हो सकता है और अन्य प्रकार का भी। वैज्ञानिक दृष्टि तो इसकी खोज करती है जो भी अवयव है चाहे वह अवयवी जैसा हो या किसी अन्य प्रकार के, उनके इस प्रकार मिलने से अवयवी उत्पन्न होता है । कहने का मतलब यह है, कि सवाल अवयव अवयवी का नहीं और न यह कि अवयव उसी प्रकार के हैं जैसे कि अवयवी हैं या किसी अन्य प्रकार के, पर यह कि उनके आपस में मिलने का वह कौन-सा रूप या नियम है जिसके आधार पर अवयवी की सृष्टि होती है । सारे अवयव मौजूद हों तो भी अवयवी उत्पन्न नहीं होगा, यदि वे सारे अवयव एक विशिष्ट संरचना में अर्जित नहीं हों या ख़ास तरीके से संजोए न जाएँ। इस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान हमेशा दो दिशाओं की ओर जाता है एक ओर वह इसकी खोज करता है जो विशिष्ट वस्तु हमें मिलती है वह किन चीज़ों से बनी है और दूसरा यह कि वह 'बनने' या 'संयोजन' का विशिष्ट तरीका क्या है जिसके अपनाने पर ही वह वस्तु उस प्रकार से बनती है जैसी कि वह है । इस तरह का सवाल वह भी बार-बार हर चीज़ के बारे में उठाती है उस चीज के बारे में भी जिनके द्वारा कोई विशिष्ट वस्तु जो प्रत्यक्ष में हमें प्रतीत होती है, अर्जित होती है । इस खोज में आज भौतिक विज्ञान अनेक ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थों तक पहुँचा है जिन्हें पदार्थ कहना भी मुश्किल है, क्योंकि पदार्थ होने का कम से कम भौतिक जगत के संदर्भ में अर्थ ही यह होता है कि वह किसी विशेष देश में काल के कुछ क्षणों तक तो एक रूप रहे। इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन आदि अनेक अत्यधिक सूक्ष्म कणों की सत्ता इस प्रकार की नहीं है वे देशकाल में 'स्पन्दन' मात्र प्रतीत होते हैं, पर फिर भी उनके द्वारा यह स्थूल जगत जिसमें हम रहते हैं और दृष्टि में दृष्टिगोचर होता है और जिसमें ही हम अपने सब कार्यकलाप करते हैं वह उसी से बना है ।

परन्तु वैज्ञानिकों के इस सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण से इस जगत की सत्यता पर कोई आँच नहीं आती क्योंकि हमें इस विश्लेषण के साथ ही उन नियमों का भी पता होता है जिन नियमों के आधार पर यह अणु परमाणु अनेक विभिन्न स्तरों पर अनेक विषयों की रचना करते हैं जहाँ एक प्रकार से एक सूक्ष्म विषय दूसरा अपेक्षाकृत स्थूल विषयों को मिलकर बनने में उपादान बनता है । भौतिकी का रसायन शास्त्र से गहरा सम्बन्ध है और रसायन शास्त्र का परमाणुशास्त्र से । इन सब में भी स्थूल और सूक्ष्म का भेद होता है और जहाँ एक ओर स्थूल और सूक्ष्म का भेद होता है वहीं दूसरी ओर सरल और संश्लिष्ट का भी । और आज हम जिसे वैज्ञानिक ज्ञान की संज्ञा देते हैं, उसकी सत्यता इसी से निर्धारित की जाती है कि वह अपने नियमों के आधार पर अपनी विश्लेषित वस्तुओं के द्वारा विश्लेष्य वस्तु की पुनर्रचना कर सकें । यही नहीं इस ज्ञान के आधार पर वह ऐसी नई वस्तु की संभावना भी सोच सके जो जगत में उपलब्ध ही नहीं थी, और इस संभावना के आधार पर उनकी रचना भी कर सकें । और इस प्रकार जो 'नहीं' था उसको 'नहीं' कर अपने ज्ञान की सत्यता को प्रदर्शित कर सकें ।

इसके विपरीत बौद्ध दार्शनिक अपने विश्लेषण को अवयव—अवयवी के प्रत्ययों तक ही सीमित रखता है वह उन विशेष सम्बन्धों की खोज नहीं करता जिनके द्वारा अवयव किसी

अवयवी में संरचित होते हैं और न वह देखता है कि वे ही अवयव अनेक भिन्न अवयवी विषयों की रचना कर सकते हैं । यह ठीक है कि बौद्ध दार्शनिक भी कर्म की सफलता को ज्ञान की सत्यता का लक्षण मानते हैं पर इस 'सत्यता' और 'सफलता' में सम्बन्ध किस प्रकार होता है इसकी कोई विशेष चर्चा वह नहीं करते और एक तरह से सारा भारतीय दर्शन इस बात को स्वीकार करता है पर साथ ही कुछ ऐसा भी मानता प्रतीत होता है कि यह 'सफलता' कुछ आकस्मिक ही है, क्योंकि एक ओर तो मनुष्य के बाह्य जगत में यह 'ज्ञान' उसे सफलता प्राप्त कराता दिखाई देता है । दूसरी ओर जहाँ तक इसकी मूल समस्या का प्रश्न है उसका कोई निदान प्रस्तुत नहीं करता। मनुष्य की स्थिति तो वैसी की वैसी रहती है और उसके सुख-दुःख के कारण वैसे ही बने प्रतीत होते हैं। व्यवहारिक जगत की सत्यता और उसके ज्ञान द्वारा कर्म की सफलता, इस तरह मूल रूप में भ्रममूलक ही हैं, क्योंकि वह 'ज्ञान' और 'सफलता' दोनों के बारे में भ्रान्ति ही उत्पन्न करते हैं। विचार की ये दो दिशाएं भारतीय दार्शनिक चिन्तन के मूल में सदा से विद्यमान रही है और इसमें वह आन्तरिक विरोध और उससे जो तनाव उत्पन्न होता है वह भारतीय दार्शनिक चिन्तन में हमेशा पाया जाता है। व्यवहार और परमार्थ का भेद इसी का द्योतक है, जिसका दूसरा नाम 'परा' और 'अपरा' विद्या है। जैन दार्शनिकों ने इन्हें निश्चय-नय और व्यवहार- नय का नाम दिया है पर नाम कुछ भी बात वही रहती है इसीलिए आज के वैज्ञानिक ज्ञान की असाधारण सफलता ज्ञान के परम्परागत स्वरूप को मानने वाले भारतीय दार्शनिकों को आश्चर्यचकित नहीं करती क्योंकि वे तो इसके पहले ही इसे व्यवहार ज्ञान या अपरा ज्ञान का नाम दे चुके हैं ।

बौद्ध दर्शन में जहाँ एक ओर अवयव और अवयवी का सवाल उठाया गया वहीं दूसरी ओर यह कहने की कोशिश की गई कि साधारण ज्ञान एक प्रकार से बुद्धि का विकल्प मात्र है क्योंकि वह सामान्य कृत्यों से अनिवार्य रूप में बंधा होता है और एक प्रकार से उन्हीं के द्वारा संरचित होता है। वस्तु जो स्वयं में है वह तो स्वयं पकड़ने नहीं आती, क्योंकि जैसे ही हम उसे भाषा के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं, वह नाम-रूप में आबद्ध हो जाती है और किसी 'सामान्य' का उदाहरण मात्र रह जाती है । इसलिए हम जिस ज्ञान के संसार में रहते हैं और जिसमें सत्य और असत्य का भेद करते हैं वह अपने आप में ही मनुष्य की बुद्धि की रचना मात्र होता है। प्रत्यक्ष के द्वारा भी जो हमें ज्ञान प्राप्त होता है वह चाहे कितना ही स्थूल लगे पर उसकी 'स्थूलता' का आधार केवल हमारी इन्द्रियाँ मात्र हैं क्योंकि जैसे ही हम उसको 'समझते' हैं वह भाषा की परिधि में आ जाता है और उन सब कोटियों से बंधता है जो बुद्धि उसपर आरोपित करती है ।

बौद्ध दर्शन

सत् और विकल्प का भेद दर्शन के इतिहास में बहुत पुराना है और एक तरह से कहें तो दर्शन की शुरूआत ही इस भेद को लेकर होती है। पर बौद्धों ने इसे एक नई दिशा दी जिसको समझना जरूरी है। आदमी हमेशा सत् के लक्षण की तलाश में रहता है और अपने से यह पूछता है कि आखिर जो अपने आप में सत् है उसका लक्षण क्या होगा या दूसरी तरह से कहें तो उसमें और जो पूर्ण-रूपेण असत् है उसमें हम फ़र्क कैसे करेंगे ? बहुत लोगों ने खुद सोच-विचार करके सत् का लक्षण इस बात में पाया कि अगर वह वास्तव में सत् है तो उसमें कोई परिवर्तन हो ही

नहीं सकता क्योंकि परिवर्तन होने का मतलब ही यह है कि उसमें कुछ कमी थी या अपूर्णता थी या वह किसी रूप में वह 'नहीं' था जो उसे होना चाहिए था, क्योंकि अगर ऐसा नहीं होता तो उसमें तब्दीली क्यों होती, परिवर्तन क्यों आता ? इसी के आधार पर उन्होंने जो भी दृश्यवान जगत है उसको असत् ठहराया और एक ऐसे अपरिवर्तनशील सत् की कल्पना की जो अपने आप में पूर्ण था और इसलिए जो सदैव जैसा था वैसा ही रहता है केवल, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आता या कहें तो काल में वैसा कोई सत् ही नहीं है वह तो कालातीत है जहाँ भूत, भविष्य और वर्तमान का भेद हो ही नहीं सकता ।

बौद्धों ने इसके विपरीत सत् का लक्षण उसकी कार्यत्व शक्ति में माना और यह कहा कि जो कुछ नहीं है उसका लक्षण ही यह है कि वह कुछ भी नहीं कर सकता । वह नितान्त अभाव का ही दूसरा नाम है और इसका का अर्थ ही यह है कि वह न स्वयं किसी से उत्पन्न हुआ है और न किसी अन्य को उत्पन्न कर सकता है वह तो हमेशा वैसा हीं रहता है जैसा वह है क्योंकि वह 'कुछ भी नहीं' है। सत् तो वह है जिसमें उत्पन्न करने की शक्ति है, और इस शक्ति से वह कभी भी वंचित नहीं होता, और न ही वंचित किया जा सकता है । कार्यत्व, यह कार्यकारी शक्ति ही सत् का दूसरा नाम है और अपने इसी सिद्धांत को बौद्धों ने ''अर्थक्रियाकारित्व'' का नाम दिया हैं । दूसरे शब्दो में कहें तो सत का अर्थ ही यह है कि वहाँ कोई कार्यत्व शक्ति है जो सदैव कार्यरत है क्योंकि उसका स्वरूप ही है ।

सत के इस लक्षण से बौद्धों ने जो परिणाम निकाला वह दर्शन के इतिहास में विस्मयकारी था । उन्होंने कहा कि अगर सत का लक्षण यह है तो जो सत है उसमें सतत कार्यत्व है और इसलिए वह किसी भी क्षण इस कार्यत्व से वंचित नहीं हो सकता । पर कार्यत्व का तो अर्थ ही यह है कि कुछ करना यानि कुछ उत्पन्न करना यानि किसी ऐसी चीज़ को जन्म देना जो पहले नहीं थी इसलिए जो सत है वह हर क्षण किसी न किसी नई स्थिति को जन्म देता रहता है जो स्वयं क्षणिक भी हो सकती है क्योंकि उसका कार्यत्व लक्षण ही उसे किसी दूसरे क्षण को सृजन करने के लिए मजबूर करता है और यह क्षण-क्षण में उत्पन्न करने की प्रक्रिया अनादि और अन्तहीन है क्योंकि सत का स्वरूप ही यह है, लक्षण ही यह है । बौद्ध दर्शन में यही 'क्षणभंगवाद' के सिद्धांत से जाना जाता है ।

इस सिद्धांत का अर्थ ही यह है कि सत् अपने आप क्षणिक है और हर क्षण किसी दूसरे क्षण को उत्पन्न करता है और यह प्रवाह सदैव से चला आ रहा है और हमेशा ही चलता रहेगा, क्योंकि सत् का अपना स्वरूप ही यह है । पर हमें तो स्थायीवस्तु नज़र आती है और हम अपने में भी इसी स्थायी तत्व की कल्पना करते हैं, जिसे आत्मा कहते हैं । दूसरी ओर अपने से अलग वस्तुओं में किसी ऐसे जड़ पदार्थ की कल्पना करते हैं जो अपने आप में नित्य है और जिनके मिलने से अनेकानेक वस्तुएं बनती हैं और जिनमें स्थायित्व तभी तक रहता है जब तक उनका वह संघात या संस्थान उसी रूप में बना रहता है । यही नहीं हम तो किसी ऐसे सामान्य की कल्पना करते हैं जो अपने आप में अनश्वर हैं और जिसके विविध उदाहरण विशिष्ट वस्तु में हमें मिलते

हैं । गाय तो हमें प्रत्यक्ष में नज़र आती है उसका तो जन्म-मरण होता है पर गोत्र जो जाति है और जिसके कारण, जिसके आधार पर ही हम इसी पशु को गऊ कहते हैं। अपने आप में न जन्म लेती है और न मरती है । यही बात मनुष्यत्व के बारे में भी है क्योंकि आम आदमी तो जन्म लेता है और मरता है । पर 'मनुष्यत्व' जो उसमें अभिव्यक्त होता है वह तो सदैव रहता है और उसी के लक्षणों के आधार पर हम किसी खास आदमी को 'आदमी' कहते हैं । पश्चिमी दर्शन में प्लेटो ने इस मत का विशिष्ट प्रतिपादन किया था पर वहाँ यह सब जगत में पाया जाता है । बौद्धों ने इस सब को विकल्प कहा और यह 'सामान्य लक्षण' जो हमें वस्तुओं में प्रतीत होते हैं उनको कल्पित बताया है । इसके विपरीत उनका मत था कि सत् तो वास्तव में स्वलक्षण ही है । जो हमारी कभी पकड़ में नहीं आता ।

'अर्थक्रियाकारित्व', 'क्षणभंगवाद' और सत् का स्वलक्षण होना बौद्ध दर्शन के मूलभूत सिद्धांत हैं और एक दूसरे से संबंधित हैं। इन तीनों का आधार उस बौद्ध दृष्टि में माना जा सकता है जिसे प्रतीत्य समुत्पाद कहा जाता है और जो बहुत लोगों की राय में बौद्ध दृष्टि का सब से मूलभूत वैशिष्ट्य है । ऐसा भी माना जाता है कि स्वयं बुद्ध ने ही इसका प्रतिपादन किया था । इसका अर्थ यही है कि प्रत्येक वस्तु उत्पादन होती है और किसी अन्य को उत्पन्न करती है । इसी लिए उसमें जन्म और नाश दोनों एक साथ मिले रहते हैं क्योंकि उसके जन्म का ही अर्थ यह है कि वह किसी अन्य को जन्म दे जिसका अपने आप में अर्थ उसका स्वयं का विनाश होना ही है । जन्म और मृत्यु के यह दो पक्ष एक दूसरे के अन्तर्विरोधी नहीं है जैसा कि साधारणत: प्रतीत होता है परन्तु एक ही सत्य के दो पक्ष हैं जो एक दूसरे से इस प्रकार जुड़े हैं कि उनको अलग किया ही नहीं जा सकता और उनको अलग करके देखना ही मानवीय दृष्टि की सब से बड़ी भूल है । एक तरह से देखें तो इसी से क्षणभंगवाद उत्पन्न होता है । अर्थक्रियाकारित्व : उत्पन्न होता है और स्वलक्षण का सिद्धांत भी इसमें से ही निकलता है या दूसरी तरह से कहें तो यह सब प्रतीत्य समुत्पाद के ही अलग-अलग नाम हैं और इसी में से शून्यवाद और विज्ञानवाद दोनों सत् के इस विश्लेषण से उद्भूत होते हुए माने जा सकते हैं । वस्तु अगर क्षण-क्षण बनती और नष्ट होती रहती है तो वह वास्तव में कुछ है ही नहीं जो कुछ है वह सब एक प्रकार से 'शून्य' ही है । दूसरी ओर यदि सब कुछ स्वलक्षण मात्र है तो जो कुछ भी हम जानते सुनते या करते हैं वह सब केवल विकल्प हैं ।

बहुत से दार्शनिकों ने प्रतीत्य समुत्पाद को कार्यकारण सिद्धांत का ही प्रतिफलित रूप माना है और यह कहा है कि सब को कार्यकारण के परिप्रेक्ष्य में देखने की वजह से ही प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धांत का जन्म हुआ पर उन्होंने यह नहीं देखा कि वास्तव में यह ठीक होते हुए भी कार्य-कारण सिद्धांत को केवल एक ही तरह से समझने पर प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत उत्पन्न हो सकता है । लेकिन यह सिद्धांत कुछ उस पुत्र के समान है जिसका जन्म ही उसके पिता की मृत्यु का कारण बनता है । कार्य कारण सिद्धांत की सार्थकता इस बात पर है कि यह निश्चय किया जा सके कि किसी विशिष्ट कार्य का कौनसा विशिष्ट कारण है और इसकी सत्यता इसी आधार पर सिद्ध की जा सकती है कि हम जब-जब उस कारण को उत्पन्न करें तो वह कार्य प्राप्त होगा । कार्य कारण का सिद्धांत केवल उतना भर नहीं कहता कि हर चीज़ का कोई कारण है या हर चीज़ स्वयं

कारण बनकर किसी कार्य को उत्पन्न करेगी वह तो इसके अलावा यह भी कहता है कि किसी वस्तु या वस्तुस्थिति के कारण केवल कुछ विशिष्ट वस्तु या वस्तुस्थितियाँ ही हो सकती हैं अन्य कोई नहीं ! और उन कारणों का वैशिष्ट्य ही इसमें है कि वह इस प्रकार के कार्यों का उत्पादन करे। विशिष्ट कार्य के कारणों की खोज केवल यह कहने से सिद्ध नहीं हो सकती कि हर वस्तु का कोई न कोई कारण होता है । यह बताना पड़ेगा कि इसका कौन-सा कारण है ? और उस कारण की कारणता को सिद्ध करना पड़ेगा तभी वह ज्ञान कहलायेगा । आज का सारा विज्ञान इन विशिष्ट कार्य कारण सम्बन्धों की खोज भी है और मनुष्य ने अपने लाखों साल के अनुभव से इस ज्ञान को प्राप्त करने की कोशिश की है और उसी के आधार पर वह अपने कर्म करता है । पर इसका मतलब तो यह है, कि हम किसी वस्तुस्थिति या घटनाक्रम को दोहरा सकते हैं, बार-बार परीक्षण करके पैदा कर सकते हैं, यह देखने के लिए कि क्या वास्तव में यह वस्तुस्थिति, यह घटना उसी अन्य वस्तुस्थिति को या घटना को जन्म देती है या नहीं । बौद्ध क्षणभंगवाद तो इसकी संभावना से ही इंकार करता है, क्योंकि उसके लिए सब सामान्य लक्षण विकल्प मात्र हैं । पर अगर ऐसा है तो फिर विशिष्ट कार्य-कारण का निश्चय कैसे होगा और यह कहना कि प्रतीत्य समुत्पाद वास्तव में कार्य-कारण सिद्धांत का ही प्रतिफलित रूप है, गलत लगता है। क्योंकि यदि वह सच है तो कार्य कारण का निश्चयात्मक ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता ! स्वयं बुद्ध के उपदेश के संदर्भ में अगर कोई यह कहे कि उन्हें यह कैसे पता चला कि तृष्णा दुःख का कारण है और कोई अन्य चीज़ नहीं है, तो इसका क्या उत्तर होगा ? क्योंकि बौद्ध विश्लेषण तो केवल यह कह सकता है, कि कुछ कारण अवश्य होगा, वह कभी यह नहीं कह सकता कि क्या कारण है ? दूसरे, दुःख ऐसी वस्तुस्थिति है, क्या वह भी क्षणिक नहीं है, और दुःख, दुःख को ही उत्पन्न करता है सुख को नहीं । अगर दुःख सुख को उत्पन्न करता है तो क्या उसे दुःख कहेंगे या सुख । तो यही बात सुख के बारे में भी उतनी ही सच है जितनी दुःख के बारे में । और फिर यह सुख-दुःख है क्या या बुद्ध उसकी बात भी कर सकते हैं क्योंकि एक तरह से तो बौद्ध दृष्टि में कोई बात ही नहीं हो सकती अगर सब कुछ शून्य है तो फिर उसके बारे में मौन ही रहना उचित होगा ।

इस सब में जो एक गहरा प्रश्न छिपा है वह यह है कि, क्या एक क्षण दूसरे क्षण को पूर्णरूपेण अपने अनुरूप ही उत्पन्न करता है ? या अपने से किसी भिन्न क्षण को भी उत्पन्न कर सकता है ? दोनों विकल्पों में अनेक समस्याएं हैं, पहली तो यह कि एक क्षण का दूसरे क्षण से भेद का आधार क्या होगा, क्योंकि भेद होने के लिए क्षण में किसी अन्य गुण की स्थापना करनी पड़ेगी जिसके आधार पर हम यह कहेंगे कि यह लक्षण वही है या कोई अन्य क्षण । और फिर अगर हम यह मानें कि एक क्षण अपने अनुरूप क्षण को ही जन्म दे सकता है, तो फिर चिरन्तन स्वायत्तता और क्षणभंगवाद में क्या भेद रह जाएगा ? दूसरी ओर, अगर हम यह मानें, कि एक क्षण अपने से कैसे भिन्न क्षण को जन्म दे सकता है ? तो फिर इसका आधार क्या होगा कि वह किसी भिन्न क्षण को जन्म देगा, क्योंकि उससे भिन्न क्षण तो अनगिनत हैं और उनमें से किसी एक के चयन का आधार क्या होगा ?

बौद्ध दार्शनिकों ने इन समस्याओं पर ध्यान नहीं दिया है ऐसा प्रतीत होता है, पर कार्य कारण की समस्या पर भारतीय दर्शन में गहन विचार हुआ है । यह समस्या हमेशा रही है, कि कोई कारण क्या किसी अपने से भिन्न किसी नवीन कार्य को जन्म दे सकता है ? अगर ऐसा मानें तो क्या इसका अर्थ यह नहीं होगा, कि जो 'नहीं' है उसकी उत्पत्ति हो सकती है । दूसरी ओर अगर हम यह मानें कि, कार्यकारण में पहले ही से प्रमाण होता है तो फिर उसके उत्पन्न होने या सत्ता में आने में बाधा क्या थी, और यदि कोई बाधा थी तो फिर वह बाधा हटी कैसे ? इस समस्या का समाधान अक्सर यह कहकर किया जाता है कि कार्य-कारण में संभावना के रूप में था 'वास्तविकता' के रूप में नहीं । पर यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि संभावना का अर्थ क्या है और हमको यह पता कैसे चलता है कि किस स्थिति में कारण में क्या-क्या संभावनाएं निहित हैं, क्योंकि क्या निहित है यह तो तभी पता चलता है जब वह व्यक्त होता है । और अगर हम यह कहने के लिए पता लगाने के लिए संभावना क्या थी, उसके व्यक्त होने का इंतजार करें, तो फिर इस कहने का ही क्या अर्थ है कि वह संभावना के रूप में कारण में अपनी अभिव्यक्ति से पहले उपस्थित था ?

दूसरी ओर संभावना का अर्थ ही यह होता है कि वह हो भी सकता है और नहीं भी । उसके होने में कोई अनिवार्यता नहीं पर अगर ऐसा है तो फिर यह कहना कि किसी कार्य की संभावना उसके करने में अन्तर्निहित है इसका कोई अर्थ ही नहीं होगा, क्योंकि यह तो कार्य कारण सिद्धांत के विपरीत बात होगी। आमतौर पर कार्यकारण सिद्धांत का अर्थ यह माना जाता है कि यदि कोई कारण उपस्थित हो तो 'कार्य' अवश्य होगा। यह ठीक है कि, अक्सर इसके साथ यह शर्त जोड़ी जाती है कि अगर अन्य परिस्थितियाँ उसमें बाधा न डालें, पर साधारणतः इन अन्य परिस्थितियों का भी उल्लेख किया जा सकता है, क्योंकि कार्य कारण सिद्धांत के संदर्भ में यह नहीं माना जाता कि सारी परिस्थितियाँ उसके होने में साधक या बाधक नहीं हैं । बहुत सारी परिस्थितियों का तो इस बात से कोई सरोकार ही नहीं माना जाता, कि कारण होने पर कार्य घटित हो या न हो।

कार्यकारण सिद्धांत के बारे में अनेक समस्याएं हैं पर उनमें यह समस्या भी शामिल की जा सकती है या नहीं कि, कार्यकारण के अनुरूप हो, कि कार्य कारण से अलग या नया हो, या उसके पूर्णरूपेण अनुरूप हो, मानना मुश्किल है । वैसे, इस संदर्भ में जो विचार हुआ है वह दोनों प्रकार के कार्यकारण सम्बन्ध को मानता है, यानि कार्यकारण से भिन्न नवीन हो सकता है या उसके जैसा ही । लेकिन एक ओर तो नये पुराने का सवाल उठाना तो किसी विशेष चेतना के संदर्भ में ही हो सकता है । अपने आप में पशुओं के बारे में यह सवाल उठाया जा सकता है यह कहना कठिन है । दूसरी ओर इस प्रकार से समस्या को उठाना यह मानकर चलता है, कि हमको कारण का पूर्ण पता है क्योंकि यदि ऐसा नहीं है तो हम यह कैसे कह सकते हैं, कि यह कार्य उस कारण जैसा ही है या उससे भिन्न ।

एक दृष्टि से देखें तो किसी चीज़ को 'कारण' कहना किसी परिप्रेक्ष्य या संदर्भ में ही हो सकता है, क्योंकि वस्तु का कारणत्व उन अनेक सम्बन्धों में से एक है जो किसी भी वस्तु के साथ जुड़े होते हैं, और यह सब सम्बन्ध कारणत्व की कोटि में नहीं रखे जा सकते। दूसरी ओर, वस्तु अपने सम्बन्धों से भी अलग होती है और अगर हम ऐसा मानते हैं तो यह मानना भी जरूरी होगा कि वस्तु का स्वरूप उसके 'कारणत्व' से भिन्न है ! फिर यह मानना कोई जरूरी प्रतीत नहीं होता कि कार्य उत्पन्न होने के बाद वस्तु की कोई सत्ता रहती ही नहीं या चूंकि उसने कार्य उत्पन्न किया है इसलिए उसमें कोई ऐसा परिवर्तन माना जाय जिससे उसका अपना स्वरूप ही पूर्ण-रूपेण नष्ट हो जाए। सूर्य हर क्षण सारे सौरमण्डल को ताप प्रदान करता है। और यह उसकी एक निरन्तर प्रक्रिया है पर इससे सूर्य में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं होता दिखाई देता, जिससे कि यह माना जाए कि वह सूर्य ही नहीं रहता। यह ठीक है कि, आज के भौतिक विज्ञान में सूर्य के प्रकाश, ताप और रोशनी देने का कारण उसमें सहज आणविक प्रक्रिया से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा को माना है और यह भी कहा है कि इस निरन्तर होने वाली प्रक्रिया का फल अनिवार्य रूप में इस प्रकार होता है कि सूर्य का तापमान सतत बढ़ता ही जाए जब तक कि कोई ऐसी अवस्था नहीं पहुच जाए जब उस में होने वाला आणविक द्रव ऊर्जा में इतनी मात्रा में तब्दील न हो जाए, कि वह अपने आप में क्षय होने लगे और ऐसा होने पर सूर्य की गर्मी भी कम होने लगेगी और इसके साथ ही सारे सौर मण्डल को मिलने वाली गर्मी और रोशनी समाप्त हो जाएगी। पर यह क्या ज्यादा होना सूर्य के होने पर या उसके स्वभाव या स्वरूप पर कोई ऐसा असर डालता है कि हम उसे सूर्य कहना बन्द कर दें, उचित प्रतीत नहीं होता। कहने का अर्थ यह है कि किसी वस्तु का कारण होना या कारण रूप में किसी कार्य को उत्पन्न करना, उसको नष्ट नहीं कर देता इसलिए किसी वस्तु की सत्ता या उसका सत् उसके कार्य–कारण सम्बन्धों से स्वतंत्र भी मानना पड़ेगा।

जो कुछ भी हो इस सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिकों ने कारणत्व के आधार पर अपने क्षणभंगवाद के सिद्धांत को सिद्ध करने की चेष्टा की है। पर वे भी इस बात को स्पष्ट नहीं कर पाए कि जगत में कारण श्रृंखला एक है या अनेक। और अगर एक है, तो फिर अनेक कार्य-कारण श्रृंखलाएँ क्यों दिखाई देती हैं ? और अगर अनेक हैं, तो इस भेद का आधार क्या है ? वस्तु में एक सतत क्रियाशील परिवर्तन को मानने से वस्तु का स्थायित्व नष्ट होता प्रतीत दिखाई तो देता है पर उस वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद तो नष्ट नहीं होता। ऐसा लगता है कि बौद्ध दार्शनिकों ने स्थायित्व को भ्रमपूर्ण बताने की अपनी चेष्टा में भेद की सत्यता की ओर ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि उनका अवयव-अवयवी विश्लेषण और कार्यकारित्व का विश्लेषण दोनों यह बताते हैं, कि हमें वस्तु में जो स्थायित्व दिखाई देता है, वह वास्तव में भ्रम है। भ्रम केवल स्थायित्व का हीं नहीं है भ्रम भेद का भी है, क्योंकि हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से भेद का भी अनुभव करते हैं। यह ही नहीं अपने का दूसरों से, दूसरों का अपने से और दूसरों का दूसरों से भी। यह भेद सत्य है या असत्य इस बात की चर्चा भारतीय दर्शन में अद्वैत वेदांत में केन्द्र रूप में उठाई गई। पर बौद्धों ने ऐसा किया हो यह सत्य प्रतीत नहीं होता।

कारणता की चर्चा के संदर्भ में भी बौद्धों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि मनुष्य के कार्यत्व में और अन्य वस्तुओं के कार्यत्व में एक मूल भेद यह है कि मनुष्य के कार्यत्व में संकल्प, प्रयोजन, कल्पना आदि का अनिवार्य रूप से स्थान होता है और इसीलिए मनुष्य को उसके कार्यत्व के लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है। ऐसा अन्य प्राणियों के संदर्भ में साधारणतः नहीं माना जाता और जहाँ तक जड़ वस्तु की बात है उनके बारे में तो ऐसा सवाल ही नहीं उठता। यह ठीक है कि 'कारित्व' सब में है, परन्तु इन विभिन्न 'कारित्वों' में भेद नहीं करना बौद्ध विचार की कमज़ोरी ही माना जाएगा। यह ठीक है कि बहुत हद तक मनुष्य का कार्य भी यन्त्रवत परिचालित होता है। गीता में इसी को 'यन्त्रारूढ़ानि मायया' कहकर बतलाने की कोशिश की गई है। पर मनुष्य का सारा कार्यकलाप ही यन्त्रवत् हो ऐसा नहीं माना जा सकता क्योंकि फिर मनुष्य में और यन्त्र में भेद ही नहीं रहेगा और फिर मनुष्य को अपने किए हुए कर्म के लिए उत्तरदायी मानने का औचित्य क्या होगा, विचार तंत्र में चाहे कोई कुछ माने, व्यवहार में तो यह भेद सब को करने ही पड़ते हैं। इसलिए यह आश्चर्य की ही बात है कि बौद्ध दार्शनिकों ने इस ओर बिल्कुल ध्यान ही नहीं दिया, क्योंकि अगर वे ऐसा करते तो उनके सामने मानव स्वातन्त्र्य की समस्या उठती और इस 'स्वतंत्रता' का कार्य-कारण सम्बन्ध से किस प्रकार का नाता-रिश्ता है इसकी भी चर्चा उनके दर्शन में पाई जाती। पर साधारणतः ऐसा लगता है कि उन्होंने इसकी कोई खास चर्चा नहीं की, क्योंकि यदि वे ऐसा करते तो जिन लोगों ने बौद्ध दर्शन पर विस्तार से लिखा है वे इसके बारे में जरूर कुछ लिखते।

यही नहीं कार्य-कारण सिद्धांत की बात करना कोई स्थायित्व को नकारना नहीं है, जैसा कि आमतौर पर समझा गया है। कार्य-कारण सिद्धांत तो यह बताता है कि परिवर्तन के पीछे एक नियम है, अगर आपको इस नियम का पता है तो आप ही यह जान सकते हैं कि इस परिवर्तन का 'क्रम' क्या है ? और एक स्थिति के बाद दूसरी स्थिति क्या होगी ? गर्मी के बाद वर्षा आएगी और वर्षा के बाद सर्दी पड़ने के पहले का गुलाबी जाड़ा। यही नहीं चाँद घटता-बढ़ता है और अमावस्या के बाद दूज होती है और धीरे-धीरे चांद बढ़ता है और पूर्णिमा आती है। कहने का मतलब यह है कि हर परिवर्तन के बाद पहले एक नियम है और जब आप उस नियम को जान लेते हैं तब परिवर्तन की परिवर्तनशीलता अनुभव में तो समाप्त नहीं होती पर ज्ञान में अवश्य हो जाती है। यही कार्य-कारण का ज्ञान मनुष्य को यह स्वतंत्रता प्रदान करता है कि वह अगर, चाहे तो उस कारण विशेष को उत्पन्न करके कार्य की प्राप्ति कर सकता है। मानव ने ऐसा किया भी है मानव जगत इस कारणता के ज्ञान को आधार बनाकर अपनी पुरुषार्थ सिद्धि के लिए सतत प्रयत्न करता रहता है। यह प्रयत्न यज्ञ के द्वारा स्वर्ग की प्राप्ति का रूप ले सकता है। योग के द्वारा सिद्धियों की प्राप्ति का, या आज के विज्ञान द्वारा प्रकृति पर प्रभुत्व का। इनमें वास्तव में कोई भेद नहीं है केवल कार्य-कारण का भेद है उसके ज्ञान के आधार पर मनुष्य अपने कर्म के द्वारा इसी फल की प्राप्ति की चेष्टा करता है। बौद्ध विश्लेषण ने कार्यकारण के इस रूप की ओर ही ध्यान नहीं दिया है ऐसा लगता है। हालांकि 'प्रयोजन' और पुरूषार्थ भारतीय दार्शनिक चिन्तन में हमेशा प्रस्तुत रहे हैं।

बौद्ध दर्शन का स्रोत स्वंय बुद्ध के वचनों में माना जाता है जो धम्म या धम्मपिटक में संग्रहीत समझे जाते हैं । इसीलिए इस पर आधारित विचार को **अभिधम्म** के नाम से इंगित किया जाता है, पर बुद्ध ने तो दु:ख का निदान और उसके निवारण दोनों बतलाए थे जिसमें ज्ञान और उस ज्ञान पर आधारित कर्म, दोनों सम्मिलित हैं और जहाँ कर्म एक विशेष फल की प्राप्ति के लिए किया जाता है । अगर इस सब को ध्यान से देखें तो इसमें कार्यकारण सम्बन्ध का ज्ञान और उस ज्ञान का मनुष्य के कर्म द्वारा अपने परम पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए प्रयोग दोनों सम्मिलित हैं । पर ऐसा लगता है कि बौद्ध दार्शनिकों ने अपने कार्यकारण सम्बन्ध के विश्लेषण में इस पर ध्यान नहीं दिया और कुछ इस प्रकार का विश्लेषण किया जिसको अगर सत्य माना जाय तो बुद्ध की मनुष्य की स्थिति की समझ और उसका निवारण दोनों अर्थहीन हो जाएंगे ।

अभिधम्म के नाम से विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ आम तौर पर दो भागों में बँटे जाते हैं जिनमें एक को सर्वास्तिवादी और दूसरे को थेरावादी कहते हैं। यही नहीं ऐसा भी माना जाता है कि यह ग्रन्थ बुद्ध के उन वचनों की गहरी व्याख्या करते हैं जो उनके साधारण प्रचलित अर्थों से भिन्न है । इसके अलावा यह ग्रन्थ महायान परम्परा के माने जाते हैं, और चूँकि महायान परम्परा नागार्जुन ने शुरू की थी इसलिए इन ग्रन्थों की रचना नागार्जुन के बाद ही समझी जानी चाहिए । बुद्ध के वचन कई बार संग्रहीत किए गए, क्योंकि बुद्ध काफी लम्बे समय तक जीवित रहे थे और करीब-करीब उन्होंने सम्बोधि प्राप्ति के बाद प्रतिदिन ही उपदेश दिया था इसलिए उनकी संख्या भी अपार है । इसके विषय में भिन्न-भिन्न बौद्ध सम्प्रदायों में इस पर भी मतभेद है कि किनको प्रामाणिक माना जाए और किनको नहीं । यही नही **प्रज्ञा पारमिता** नाम से विख्यात ग्रन्थ भी बुद्ध के वचनों के रूप में माने जाते हैं । ऐसा कहा जाता है कि बुद्ध नागलोक से इसे वापस एकत्र करके लाए थे क्योंकि वे इस लोक में लुप्त हो गए थे । यदि यह सब मान लिया जाए तो दो बातें तो स्पष्ट होती ही हैं, एक तो यह कि नागार्जुन के बाद बुद्ध के वचनों पर जो पहले से संग्रहीत थे उनकी नई व्याख्या प्रारम्भ हुई । और उनके साधारण अर्थों में और गहरे छिपे हुए अर्थों में भेद किया गया । दूसरी ओर ऐसे ग्रन्थों की रचना भी हुई जो उस समय तक बुद्ध वचन के रूप में न केवल अप्रचलित थे, बल्कि जिनका अस्तित्व मात्र भी नहीं था । अगर हम इस बात को ध्यान में रखें कि बुद्ध लोगों को उन्हें अपनी भाषा में सम्बोधित करते थे इसलिए कि वे जो बात कह रहे हैं वह उनकी समझ में आसानी से आ जाए हालांकि यह कहना कुछ अजीब ही लगेगा कि उन बातों के साधारण अर्थ को छोड़कर उनके पीछे छिपे हुए किसी ऐसे अर्थ की तलाश करना जो सर्वसाधारण की समझ के बाहर ही नहीं हो, बल्कि विद्वानों को भी मुश्किल से समझ में आएं । पर दार्शनिक बुद्धि का लक्षण ही यह है उसने हमेशा मूल ग्रन्थों की जो किसी भी परम्परा में मूलभूत माने जाते हैं कि व्याख्या इसी प्रकार से की है । यही बात वेदों, उपनिषदों और महावीर की वाणी के साथ भी हुई है दूसरी ओर **बाइबिल**, कुरान और तोहरा जो यहूदियों का मूलभूत ग्रन्थ है उनके साथ भी ऐसा ही हुआ है ।

यह **अभिधम्म** ग्रन्थ भण्डार इतना विशाल है कि इसका पूरा अध्ययन और इसके बारे में सहज ज्ञान बहुत ही कम लोगों को है आज तो यह कुछ विशिष्ट विद्वानों तक सीमित है दूसरी

ओर इसमें जो सर्वास्तिवादी और थेरावादी ग्रन्थों को लेकर भेद है वह इनको समझ पाने में और भी कठिनाई उत्पन्न करता है। पर इस सब से इतना तो स्पष्ट है ही कि नागार्जुन के समय से बौद्ध धर्म और दर्शन में एक नया युग प्रारम्भ हुआ । इसका क्या कारण रहा और इसका स्वरूप क्या था यह कहना कठिन है । नागार्जुन स्वयं शून्यवाद के प्रवर्तक माने जाते हैं और दर्शन के इतिहास में प्रधानत: उनको **विग्रह व्यावर्तिनि** के लेखक के रूप में देखा जाता है । पर उनका इससे भी अधिक व्यापक प्रभाव दो प्रकार के बौद्ध ग्रन्थों की परम्परा प्रारम्भ करने में देखा जा सकता है । पहला **अभिधम्म ग्रन्थ** के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा **प्रज्ञापारमिता** के नाम से । **प्रज्ञापारमिता** नाम के ग्रन्थ में यह प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है पर **अभिधम्म** के नाम से विख्यात ग्रन्थ उसका आधार किस प्रकार बनते हैं यह स्पष्ट नहीं है । भारतीय दर्शन के इतिहास पर लिखे जाने वाली पुस्तकें आमतौर पर इस सब को नज़रअंदाज करके ही चलती हैं, लेकिन जब तक हम ईसा की पहली शताब्दी में होने वाले इस महान परिवर्तन को इसके विस्तृत और सूक्ष्म रूप में नहीं समझेंगे तब तक न ही बौद्ध धर्म और दर्शन को समझ पाएंगे और न ही भारतीय दर्शन के इतिहास को ।

वैदिक परंपरायें - अवैदिक परंपरायें

ईसा की कुछ शताब्दी पहले और कुछ शताब्दी बाद का जो युग है वह भारतीय दर्शन के इतिहास में विशेष महत्त्व रखता है । एक ओर तो इस युग में जैसा कि हमने अभी देखा है बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गए दूसरी ओर जैन दर्शन के मूल ग्रन्थों की रचना इसी काल में मानी जाती है । इसीकाल में उन आगम ग्रन्थों का निर्माण भी माना जाता है जो अपने को वैदिक, बौद्ध और जैन परम्पराओं से अलग मानते हैं । इसी युग में **मीमांसा-सूत्र, ब्रह्म-सूत्र, न्याय-सूत्र** और **वैशेषिक-सूत्र** की रचना हुई जो क्रमश: मीमांसा, वेदान्त, न्याय और वैशेषिक दर्शनों के मूल आधार ग्रन्थ माने जाते हैं। इसके अलावा इस युग के बारे में जो एक बात ध्यान रखने योग्य है वह यह है कि इस काल में पश्चिमी और मध्य एशिया का अनेक भाग उत्तर भारत के अनेक भागों से अभिन्न रूप में जुड़ा हुआ था । विशेषत: यह साधारण क्षेत्र एक ही साम्राज्य के आधीन था । कुषाण और शक इसके काल के प्रभावशाली राज्यकुल थे । और शक तो भारतीय परम्परा में इतने प्रसिद्ध हो गए थे कि उनके नाम का संवत् अब भी चलता है । यह सब क्षेत्र एक साम्राज्य के अधीनस्थ होने के कारण इसमें विचार और व्यापार दोनों एक साथ होते थे और इसी युग में बौद्ध धर्म और दर्शन का प्रसार पश्चिम एशिया से मध्य एशिया की ओर हुआ और चीन पहुँचा । अनेक चीनी यात्रियों के भारत में आने की कथा मिलती है, जो यहाँ बौद्ध धर्म के ग्रन्थों की खोज में आए थे और बौद्ध दर्शन की विभिन्न समस्याओं को सहज रूप में समझने के लिए भारत की यात्रा करते थे । इसके पहले मौर्यों के जमाने में ग्रीक सभ्यता से भारत का सम्बन्ध मिलता है और मैगस्थनीज़ की कथा सब को पता है । इसके कुछ पहले सिकन्दर ने उत्तर पश्चिमी भारत के किनारों पर आक्रमण किया था और उसका पोरस से प्रसिद्ध युद्ध हर इतिहास की किताब में मिलता है । यही नहीं भारत के उत्तर पश्चिमी प्रदेश में सिकन्दर के लौटने के बाद भी अनेक ग्रीक राज्य स्थापित हुए और उनके माध्यम से ग्रीक कला और विचारों का इस क्षेत्र में

प्रसार हुआ। इस क्षेत्र और काल की कला को गान्धार कला के नाम से जाना जाता है और अनेकों बुद्ध मूर्तियाँ जो इस क्षेत्र में पाई जाती हैं इसका प्रमाण हैं कि ग्रीस की मूर्तिकला ने किस प्रकार भारत की मूर्तिकला को प्रभावित किया। परन्तु विचारों के आदान-प्रदान के बारे में कोई विशेष स्पष्टता नहीं है। यह ठीक है कि उस काल में भी भारत अपने दार्शनिकों और अध्यात्म के जिज्ञासुओं के लिए प्रसिद्ध था । इसी युग में रोम से भारत का व्यापार बहुत गहरा था । इसी समय में चीन का भी 'सिल्क रूट' के द्वारा व्यापार बढ़ता गया जो मध्य एशिया में दो मार्गों से होता था । रेशम के व्यापार में चीन इतना प्रसिद्ध था कि संस्कृत में आज जिसे 'सिल्क' कहते हैं उसको चीनान्शुक कहा जाता था । यह वह परिवेश था जिसमें ईसा की प्रथम शताब्दी के पहले और ईसा की दूसरी शताब्दी के बाद मूल भारतीय दर्शन के ग्रन्थों ने प्रामाणिक आकार पाया । पर इन सूत्रों की चर्चा करने से पहले हमें उस दूसरी अवैदिक परम्परा पर कुछ ध्यान देना चाहिए जो महावीर के नाम से जुड़ी है और जो आज भी भारत में जैन धर्म और दर्शन के नाम से जानी जाती है । यह सच है कि बौद्ध धर्म और दर्शन भारत के बाहर अनेक देशों में फैला है और इसलिए उसकी ख्याति भी अधिक है पर महावीर जो बुद्ध के समकालीन और उसी क्षेत्र में जिन्होंने अपने मत का प्रचार किया था जिसमें बुद्ध ने अपने प्रसिद्ध धर्म चक्र की स्थापना की थी । महावीर की दृष्टि बुद्ध की दृष्टि से बहुत भिन्न है । पर दोनों ही एक प्रकार से उस दृष्टि के प्रतीक हैं जो यह मानकर चलती है कि मनुष्य अपने पुरुषार्थ से ही अपना उद्धार कर सकता है और परम स्थिति को पा सकता है जो उसमें संभावना के रूप में निहित है ।

भारतीय चिंतन का अवैदिक स्वरूप

बुद्ध को अक्सर मध्यममार्गी कहा जाता है । उसके कई अर्थ हैं पर एक अर्थ में देखें तो बुद्ध उस मार्ग का मध्यम रूप अपनाते हैं जिसकी एक दिशा में अंतिम छोर महावीर में मिलता है दूसरा शायद चार्वाक परम्परा में । समस्या का ऐसा उदाहरण संसार में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है जैसे जैन धर्म में । और इसका मूल महावीर के उपदेशों में ही माना जा सकता है । आज भी जैन मुनि अपने तीव्र तपस्या के लिए प्रसिद्ध हैं। यह भी सर्वविदित है कि उनमें से बहुत से तो संथारा नाम से ज्ञात प्रक्रिया से मृत्यु का वरण करते हैं । संथारा का सहज अर्थ यही है कि मनुष्य खाना-पीना बिल्कुल छोड़ देता है और धीरे-धीरे सहज रूप में मृत्यु को प्राप्त होता है । यह सब महावीर के उपदेशों का असर है। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य की सहज प्रकृति के प्रतिकूल उपदेश देने वालों का कोई असर नहीं होता, उन्हें इस ढाई हज़ार साल से भी अधिक की परम्परा पर ध्यान देना चाहिए ।

इस सब व्यवहार के पहले मनुष्य की स्थिति का एक ऐसा अजीब विश्लेषण जो एक तरह से देखें तो बुद्ध के बिल्कुल विपरीत था । जबकि बुद्ध ने मनुष्य की समस्या का मूल उस दृष्टि में देखा जो उसे सतत कुछ चाहने की ओर बढ़ाती रहती है । महावीर ने उसको मनुष्य के बाहर उन सूक्ष्म वस्तुओं के आस्रव में देखा जो उन वस्तुओं से हमारी आत्मा में सतत प्रवेश करते हैं और उसकी सहज निर्मलता को मलीन करते रहते हैं । इसलिए उन्होंने इसे 'कर्म' का नाम दिया, पर इस कर्म का यह अर्थ उस अर्थ से भिन्न है जो साधारणतः भारतीय धर्म और चिन्तन में लिया

जाता है। इसीलिए इस सतत आस्रव को रोकना मनुष्य का धर्म हो जाता है और जहाँ तक जितना वह ऐसा कर सकता है यह विश्लेषण उसे करने की प्रेरणा देता है । उपनिषदों में ऐसा कहा गया था कि मनुष्य की इन्द्रियाँ स्वभावतः बाहर जाने वाली होती हैं इसीलिए आदमी बाहर की ओर देखता है अपना अन्दर नहीं । इसके विपरीत महावीर कहते हैं कि बाहर की वस्तुएं मनुष्य के अन्दर आने की सदैव चेष्टा करती रहती हैं और इसीलिए मनुष्य सदैव उनसे आच्छादित रहता है और अपने को अपने शुद्ध रूप में देख नहीं पाता ।

जो कुछ भी हो महावीर का स्वयं का जीवन इस तीव्र तपस्या का चरम उदाहरण था और अगर हम इस बात पर थोड़ा ध्यान दें कि महावीर के पहले भी जैन तीर्थंकरों की परम्परा थी और उनके अपने जमाने में उनसे पहले के तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनुयायियों के होने की कथा मिलती है जो रंग-बिरंगे कपड़े पहनते थे और शायद भोजन के बारे में भी इतना संयम नहीं बरतते थे जिसका निर्देश महावीर अपने अनुयायियों से करते थे, तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि, महावीर ने जैन परम्परा में एक नया परिवर्तन किया जो उनके पहले इस परम्परा में नहीं था ।

जैन परम्परा बहुत पुरानी मानी जाती है और ऐसा भी कहा जाता है कि ऋषभदेव जो आदि तीर्थंकर थे, के विषय में वेदों में स्वयं वर्णन है । यह सत्य हो या नहीं हो, इतना तो सब मानते ही हैं कि 24 तीर्थंकरों की श्रृंखला में महावीर सब से आख़िरी थे इसलिए जैन धर्म का प्रारम्भ महावीर से नहीं माना जा सकता जैसे बौद्ध धर्म का बुद्ध से । यह ठीक है कि बाद में बुद्ध के पहले ऐसे अनेक बुद्धों की कल्पना की गई पर इसको सत्य के रूप में किसी ने भी स्वीकार नहीं किया है जबकि महावीर के पहले होने वाले तीर्थंकर सभी स्वीकार करते हैं ।

परन्तु जैन परम्परा महावीर के पहले कैसी थी इसका कोई विशेष पता नहीं चलता । सिवाय इसके कि उसमें शायद कठोर तपस्या, तप और त्याग का इतना स्थान नहीं था जितना महावीर के बाद स्वीकार किया गया । पर इसके अलावा और क्या था, उनकी दृष्टि कैसी थी इसका कोई ख़ास पता नहीं चल पाता । लेकिन महावीर के स्वयं के लक्षणों से ऐसा पता चलता है कि वे खुद सभी प्रश्नों का उत्तर चार दृष्टि से देते थे यदि यह सत्य है तो इसका अर्थ यह हुआ कि एकान्तिक उत्तर उन्हें स्वीकार नहीं था क्योंकि जो सत है वह उनके अनुसार अन्य देश, काल और प्रक्रिया की दृष्टि से देखा ही नहीं जा सकता, बल्कि इसके परिप्रेक्ष्य में अन्तर्विरोधी रूप भी ले सकता है । भगवती सूत्र में एक कथा है जहाँ कोई महावीर से प्रश्न करता है कि 'सिद्धि' शांत है या अनन्त । मुनिश्री नगराय ने अपने ग्रन्थ आगम और त्रिपिटक में 'मोक्ष' शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु कई जानकार लोगों की राय है कि वहाँ मोक्ष की बजाय सिद्धि शब्द का उपयोग अधिक उपयुक्त है । पर चाहे सिद्धि कहें या मोक्ष, नाम तो उस चरम अवस्था का ही है जो सब के लिए साध्य मानी जाती है । और अगर ऐसा है तो यह प्रश्न ही चौंका देने वाला है क्योंकि जो चरम साध्य है उसकी प्राप्ति के बारे में भी यह शंका उठाना, कि क्या उस अवस्था का भी अंत होता है या वह अन्तहीन है, अपने आप में आश्चर्य उत्पन्न करने वाला तो है ही । क्योंकि सहज रूप में यह सभी स्वीकार करते हैं कि वह चरम भी है और उसका कभी नाश होता है ही नहीं बल्कि उसका नाश

होना सोचा भी नहीं जा सकता । लेकिन प्रश्न इस स्थिति के बारे में भी शंका उत्पन्न करता है और अपेक्षित है कि क्या उसका भी अंत नहीं होता ? महावीर का उत्तर इससे भी अधिक चौंकाने वाला है । वह कहते हैं कि देश की दृष्टि से उसका अंत है । कला की दृष्टि से वह अनन्त है । द्रव्य की दृष्टि से उसका अंत है पर प्रक्रिया की दृष्टि से वह अनन्त । इस उत्तर पर ध्यान से विचार करें तो इसमें जैन दृष्टि की बहुत सारी बातें, जो बाद में जैन दर्शन में विकसित हुई, मिलती है ! जैनों का अनेकान्तवाद और स्यादवाद का मूल इसमें देखा जा सकता है । यही नहीं देश, काल, द्रव्य और प्रक्रिया चारों की दृष्टि से किसी भी बात के बारे में विचार करना सम्पूर्ण दृष्टि को अपनाना है उसका किसी एक दृष्टि से ही सोचना एकांगी चिन्तन है और उससे सत् का पता नहीं चल सकता। पर अगर यह मान भी लें तो यह कैसे सिद्ध होता है कि 'देश' सीमित है या सांत है और इसलिए इसकी दृष्टि से 'सिद्धि' भी सांत है । सिद्ध पुरूष को 'देश' में स्थिर मानकर अनेकों समस्याएं उत्पन्न होंगी जिनमें एक तो यही है कि किसी न किसी रूप में उसका शरीर मानना पड़ेगा । और शरीर मानने पर शरीर से जो समस्याएं उत्पन्न होती हैं उन सब का निराकरण करना होगा । पर इनका निराकरण हो भी जाए तब भी इससे जो गहन समस्या है वह एक से अधिक सिद्ध व्यक्ति मानने पर उत्पन्न होगी और जैन परम्परा तो अनेक 'सिद्ध' व्यक्ति की कल्पना करती ही है । यह सब 'सिद्ध' व्यक्ति उस एक ही सीमित देश में कैसे एक साथ रह सकेंगे । क्या वे एक दूसरे को सीमित नहीं करेंगे । और इस करने का देश में स्थान, दूसरे का इसी देश में स्थान से एकसा होगा। यह कैसे निश्चित रूप में संभव किया जाएगा । नये 'सिद्ध' पुरूष भी होते हैं और उनके होने पर जो समस्याएं उत्पन्न होंगी उसके बारे में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है । यही बात प्रक्रिया की अनन्तता के सम्बन्ध में भी उठाया जा सकता है। आख़िर प्रक्रिया के अनन्त होने का अर्थ क्या है ? क्या यह काल के अनन्त होने का दूसरा नाम है और फिर एक सिद्ध की प्रक्रिया दूसरे सिद्ध की प्रक्रियाओं से भिन्न होगी और भिन्न नहीं होगी तो उनमें भेद कैसे करेंगे ? केवल द्रव्य के आधार पर भेद कैसे होगा और द्रव्य जो स्वयं सांत है और सांत देश में स्थित है उसमें अनेकत्व कैसे उत्पन्न होगा । द्रव्य में भेद तो देश में स्थित होने के कारण किया जाता है । पर 'सिद्ध' व्यक्तियों के संदर्भ में तो ऐसा माना जाता है कि वे सम्पूर्ण सांत देश में अवस्थित हैं उस देश के किसी एक विशेष भाग में नहीं । और फिर महावीर ने अपने उत्तर में गुणों की चर्चा तो की ही नहीं । प्रक्रिया के गुण होते हैं द्रव्य के नहीं । इन सब समस्याओं का उत्तर हो सकता है एवं इसकी भी खोज की जा सकती है कि जैन परम्परा में इन प्रश्नों को उठाया या नहीं, और उठाया तो इसका क्या उत्तर दिया ? पर कम से कम एक बात तो निश्चित है ही और वह यह कि महावीर के जमाने से जैन परम्परा ने किसी भी प्रश्न का उत्तर अनेक परिप्रेक्ष्यों से देने की कोशिश की है । और यह मानने से इंकार किया है कि किसी प्रश्न का उत्तर एक ही परिप्रेक्ष्य में पूर्ण रूप से दिया जा सकता है । महावीर की यह अनेकान्त दृष्टि कैसे जैन दर्शन में परिलक्षित हुई, इसका थोड़ा सा वर्णन हम आगे करेंगे । पर इतना तो स्पष्ट है ही कि ईसा की छठी शताब्दी पूर्व बौद्ध, जैन और विभिन्न उपनिषद में मिलने वाले विचारों का बोलबाला था और उस समय का दार्शनिक वातावरण किन्हीं विभिन्न दृष्टियों के द्वारा मनुष्य जीवन के पुरुषार्थ और सत के स्वरूप को पाने की, खोजने की चेष्टा में संलग्न था । जैन, बौद्ध और वैदिक उपनिषदिक दृष्टियाँ भारतीय दर्शन के मूल में रही हैं और

इन्हीं के परिप्रेक्ष्य में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों का जन्म ईसा की शताब्दी पूर्व के आसपास हुआ ।

इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने योग्य है कि महावीर और बुद्ध दोनों ने अपने मतों का प्रचार प्रधानतः उस जमाने की महानगरियों में किया जो आज के न्यूयार्क, लन्दन, पेरिस या दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई जैसे थे । और यही नहीं उनके अधिकांश अनुयायी और प्रशंसक उस वर्ग के लोग थे जो या तो धनी व्यक्ति थे या राज्य शासन में अधिकारी, और कभी-कभी तो वे जो उस काल में राज्य पद पर आसीन थे। अपनी तपस्या काल में उन्होंने चाहे कहीं भ्रमण किया हो पर सम्बोधि और सामयिक ज्ञान प्राप्त करने के बाद उनका अधिकांश जीवनकाल मगध राज्य की राजधानी के आसपास ही बीता था । दूसरी ओर ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् में वर्णित वातावरण शहरों से दूर लगता है । हालांकि जनक की सभा में हुए शास्त्रार्थों की चर्चा उस जमाने के प्रधान नगर में ही हुई होगी । ऐसा लगता है कि अगर इन विचारो के परिप्रेक्ष्यों का यह भेद सत्य मान लिया जाए तो ऐसा लगता है कि शहर में रहने वाले लोग गृहस्थ और सामाजिक जीवन से दुःखी थे और उसको त्याग देने वाले उपदेशों की तरफ अधिक आकृष्ट होते थे । शायद इसी लिए इन परम्पराओं को श्रमण परम्परा के नाम से जाना जाता है क्योंकि इनमें संसार को छोड़ने की प्रवृत्ति गृहस्थ समाज और राज्य से हटने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से पाई जाती है । इसके विपरीत वैदिक परम्परा गृहस्थ समाज और राज्य के विपरीत उपदेश करती दिखाई नहीं देती। हालांकि उसमें कभी-कभी इसकी कुछ झलक दिखाई देती है । यज्ञ केन्द्रित विचार एक भिन्न प्रकार का विचार था। यज्ञ साधारणतः गृहस्थ लोग करते थे और जो बड़े-बड़े यज्ञ होते थे वे राजा लोग करते थे । दैनिक अग्निहोत्र गृहस्थी करता था और इसलिए यह परम्परा एक ओर जहाँ गृहस्थ केन्द्रित थी वहीं दूसरी ओर मिलकर कुछ करने की थी, क्योंकि यज्ञ में कुछ हद तक सभी सहभागी होते थे । इसीलिए यज्ञ को केन्द्र बनाकर उसके चारों ओर अनेक विद्याओं का जन्म हुआ जो बाद में स्वतंत्र रूप में विद्याएं बनी और जिनके स्वयं शास्त्रों की रचना हुई । यह ठीक है कि बृहदारण्यक उपनिषद की प्रसिद्ध कथा में याज्ञवल्क्य संसार छोड़ने की बात करते हैं पर उनको ब्रह्म ज्ञान पहले ही प्राप्त हो चुका है और इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए गृहस्थ आश्रम छोड़ना चाहते हैं ।

इस भेद के अलावा दोनों परम्पराओं में एक अन्य भेद भी दिखाई देता है । जैन और बौद्ध परम्पराएं संघ केन्द्रित मालूम होती हैं । उनके भिक्षु या मुनि संघ में रहते हुए और संघ के सदस्यों के रूप में नियमों का पालन करते थे । इसी संदर्भ में 'पातिमोक्ख' जैसी परम्पराओं का उदय हुआ जहाँ भिक्षु लोग भरी सभा में अपने द्वारा किए गए नियमों के उल्लंघन का वर्णन करते थे । जिसके लिए उन्हें नियमित प्रायश्चित करना पड़ता था । इसके विपरीत वैदिक परम्परा में लिखे गए ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों आदि में किसी संघ का वर्णन नहीं मिलता । जिज्ञासा वैयक्तिक होती थी और उसकी शांति के लिए व्यक्ति किसी भी गुरु या ऋषि के पास जा सकते थे और अपने प्रश्नों का उत्तर पाने की कोशिश कर सकते थे ।

इन भेदों का आधार क्या था ? उस काल की सामाजिक व्यवस्था क्या थी ? ये परम्पराएं किन भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में पैदा हुई और बढ़ी ? इसके बारे में कोई प्रामाणिक खोज नहीं की गई है । हालांकि उस जमाने के गणराज्य प्रधानतः बिहार के इलाके में थे । इसके बारे में कुछ ज्यादा पता नहीं कि इस काल में भारत का अन्य संस्कृति और राष्ट्रों से क्या सम्बन्ध था और उनसे क्या सांस्कृतिक आदान-प्रदान था इस पर भी कोई विशद खोज नहीं हुई, पर फिर भी यह ध्यान में रखना जरूरी है कि उस समय हिन्दुस्तान के बाहर क्या हो रहा था ?

यह काल कम से कम 500 वर्ष का तो है ही इससे भी अधिक हो सकता है क्योंकि प्राचीनतम उपनिषद इस काल के पहले के माने जाते हैं । इसी समय में ऐसे विभिन्न नगर राज्य थे जिनमें एथेन्स और स्पार्टा सब से प्रसिद्ध थे, यही नहीं एशिया माईनर में स्थित कुछ नगर राज्यों में ग्रीक दर्शन का जन्म माना जाता है । ग्रीक दर्शन का स्वर्ण युग इसी काल में होता है । सुकरात, प्लेटो और ऐरिस्टोटिल जैसे विश्वविख्यात दार्शनिक इसी युग में हुए थे । पर्शिया या ईरान का प्रसिद्ध साम्राज्य पश्चिमी एशिया उस समय में प्रभावशाली था और ईरान की प्राचीन सभ्यता भी इस काल में अपने उत्कृष्ट शिखर पर पहुँच गई थी । दूसरी ओर चीन में कन्फ्यूशियस और लाओत्से इस काल में हुए माने जाते हैं जिन्होंने चीन की विशाल और समृद्ध संस्कृति की नींव डाली थी । इसी काल में ग्रीक दर्शन के स्वर्ण युग का अंत और उसके नगर राज्यों का पतन भी होता है और पहले तो सिकन्दर जैसे महान विश्व विजेता की कहानी मिलती है और फिर रोमन साम्राज्य का उदय हुआ और धीरे-धीरे रोम का उस समय के सारे पश्चिमी संसार पर प्रभुत्व स्थापित हुआ । इस काल के अंत में भारत के दक्षिण में 'संगम' काल के नाम से ज्ञात युग प्रारम्भ होता है, जिसके रचे हुए ग्रन्थ आज भी मिलते हैं । कहने का अर्थ यह है कि उत्तर और पूर्व भारत में इस काल में जिस दार्शनिक चिन्तन का उदय हुआ उसको अगर हम विश्व परिप्रेक्ष्य में देखें तो वह अपने आप में कोई असाधारण घटना नहीं थी हालांकि उसकी अपनी विशेष पहचान अवश्य थी ।

इस युग को जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कार्ल यास्पर्स ने विश्व की 'Axial Age' यानि धुरी युग कहा है । उनका कहना है कि इस युग में जो महान परिवर्तन हुआ उसने विश्व संस्कृति की नींव ही नहीं डाली बल्कि उसको वह केन्द्रबिन्दु प्रदान किया जिसके चारों ओर इन संस्कृति और सभ्यताओं का कालचक्र घूमता रहा । सारी पश्चिमी संस्कृति प्लेटो और अरस्तु के विचारों पर आधारित है और चीन की विशाल संस्कृति कफ्यूशियस और ला-ओत्से पर निर्भर है। इसी तरह भारतीय सभ्यता और संस्कृति उन मूल विचारों और दृष्टियों पर आधारित है जो महावीर, बुद्ध और उपनिषदों के ऋषियों ने प्रदान की थी । इन महान चिन्तकों की दृष्टियों में कितना साम्य और वैषम्य है इस पर कोई गहरा विचार नहीं किया गया है । और न ही इस बात का कोई गहरा अध्ययन हुआ है कि इन संस्कृतियों में उस समय विचार का आदान-प्रदान था या नहीं। पश्चिम के इतिहासकार तो यह स्वीकार करने में अपनी संस्कृति की अवमानना समझते हैं कि ग्रीक के दार्शनिकों पर संस्कृति का कोई असर था और यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि अगर कोई असर था तो वह दूसरी संस्कृतियों पर था । वह यह भूल जाते हैं कि एकतरफ़ा

असर बहुत कम होता है और संस्कृतियों के बीच आदान-प्रदान तो हमेशा होते ही रहते हैं । स्वतंत्र विचार किसी की बपौती नहीं है और यह मानना कि एक संस्कृति ने किसी दूसरी संस्कृति से कुछ लिया है कोई शर्म की बात नहीं है। यही नहीं पश्चिमी इतिहासकारों का यह आग्रह कि ग्रीस की सभ्यता और चिन्तन पर उनका अपना कोई विशेष दावा है क्योंकि वह उनकी पैतृक संस्कृति है इस अजीब बात को मानकर चलती है कि कोई भी संस्कृति किसी भी अन्य संस्कृति की अपनी विशेष धरोहर हो सकती है और दूसरों की नहीं । आश्चर्य की बात तो यह है कि वे स्वयं यह मानते हैं कि सैकड़ो ही नहीं हज़ारों वर्ष तक उन्हें स्वयं या उनके पूर्वजों को प्लेटो और अरस्तु का पता ही नहीं था और उनके दर्शन का ज्ञान उनको अरब अनुवादों के माध्यम से हुआ । अगर यह सत्य है तो फिर उन्हें अपने को ग्रीक का एकमात्र उत्तराधिकारी मानना अपने आपमें हास्यास्पद ही माना जाएगा ।

2

भारतीय दर्शन के मूल शास्त्रीय ग्रंथों की संरचना और उनका अन्य परंपराओं से संबंध

प्रारम्भिक ग्रीक दर्शन जो प्रधानत: एशिया माइनर में विकसित हुआ था, उस समय के भारतीय दार्शनिक चिन्तन से काफी साम्य रखता है और प्लेटो का दर्शन तो भारतीय चिन्तन के इतना निकट है कि पढ़ने वाले को बराबर आश्चर्य होता है कि कहीं वह भारतीय दर्शन ही तो नहीं पढ़ रहा । यह ठीक है कि अरस्तु में दर्शनशास्त्र की विभिन्न शाखाएं एक ऐसा स्वतंत्र रूप लेती है जैसा शायद किसी भी अन्य संस्कृति में उन्होंने नहीं लिया । यही नहीं एक ही दार्शनिक के इतने विभिन्न क्षेत्रों में प्रामाणिक मूल ग्रन्थों की रचना हुई तो किसी भी संस्कृति में कभी भी नहीं हुई । लेकिन अरस्तु के बाद होने वाला स्टॉइक और एपिक्यूरियन दर्शन फिर भारतीय दर्शन की कुछ धाराओं से मिलता है। इस सब से यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि ग्रीक दार्शनिकों ने अपने विचार भारत से लिए या भारत के दार्शनिकों ने अपने विचार ग्रीस से लिए । संस्कृति और सभ्यताओं के बीच में विचारों का आदान-प्रदान तो होता ही रहता है और यह कहना कठिन होता है कि किसने कौन-सा विचार किससे लिया ?

इस संदर्भ में हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि व्यापार के मार्गों से केवल वस्तुओं का आदान--प्रदान ही नहीं होता, परन्तु आने जाने के मार्ग विचारों के आदान--प्रदान का माध्यम भी बनते हैं । जो लोग संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव समझने की कोशिश करते हैं और यह ढूंढते हैं कि इन प्रभावो का मूल आधार कैसे पाया जाए ? वे यह भूल जाते हैं कि विचार का क्षेत्र कोई वस्तु का क्षेत्र नहीं है । इसमें तो सूक्ष्म से सूक्ष्म या कहें तो उड़ती-सी ख़बर भी ऐसा असर डाल सकती है जो विचार के क्षेत्र में मूलभूत परिवर्तन ला दे । उसके लिए कोई पूरी पुस्तकें उपलब्ध होने की आवश्यकता नहीं है, न इसकी ही जरूरत है कि उनका अनुवाद उपलब्ध हो । वहाँ तो सिर्फ़ इसकी ज़रूरत है कि, किसी प्राणवान जीवन्त दार्शनिक को यह पता चले कि विचार का ऐसा आयाम भी हो सकता है कि किसी ने ऐसा विकल्प भी सोचा है या ऐसा कहा जाता है कि लोग ऐसा सोचते हैं। कहने का आशय यह है कि दार्शनिक की अपनी बहती हुई चिन्तन धारा में नया मोड़ कहीं से भी आ सकता है । इसके लिए तो आकस्मिक से आकस्मिक दिखने वाली बात या होने वाली घटना या किसी का यह कहना भर काफी है कि उसने ऐसा सुना है कि कुछ अन्य संस्कृतियों में लोग ऐसा सोचते हैं। इसके लिए यह होना कभी जरूरी नहीं है कि जो अभी सुना वह वास्तव में ठीक ही हो । ठीक या गलत की बात तो इस संदर्भ में उठती ही नहीं । वहाँ तो केवल इतना भर

चाहिए कि उसे ऐसा प्रतीत हो कि जो कुछ उसने सुना है वह उसके विचार को एक नयी सार्थक दिशा दे सकता है ।

अगर हम इस बात को ठीक तरह से समझ लें, तो फिर यह पूछने की ज्यादा जरूरत नहीं होगी कि क्या 'ग्रीस' के दार्शनिकों को भारत में होने वाले चिन्तन का कुछ पता था या नहीं ? यह तो सब को मालूम है कि जब सिकन्दर भारत की तरफ आया तो अरस्तु ने उसे कहा था कि वहाँ से किसी ऋषि को अपने साथ अवश्य लाना । यह बात सच हो या न हो लेकिन इससे इतना तो पता चलता ही है कि भारत तब भी अपने तपस्वियों, ऋषियों, सत्य के अनुसंधान करने वाले व्यक्तियों के लिए प्रसिद्ध था । कुछ-कुछ इसी तरह की प्रसिद्धि की बात उसके हजारों साल बाद अलबेरूनी के भारत आने के बारे में भी कही जाती है । और आज भी सैकड़ों लोग भारत में अनेक देशों से हर साल ऐसे लोगों की खोज में आते हैं, यह सब को पता है ।

इस प्रसिद्धि का आधार क्या था और क्या है यह कहना कठिन है पर आधार कुछ भी हो या न हो, इतना तो सच ही है कि, ऐसी प्रसिद्धि उसने पाई थी और इसके मूल में कुछ उड़ती-सी खबर जरूर होंगी जो अलग-अलग देशों में अलग समय पर पहुंचती रही हैं ।

विभिन्न संस्कृतियों ने एक-दूसरे से क्या लिया यह प्रश्न निरर्थक ही है, क्योंकि लिया तो होगा ही । इसीलिए इसकी खोज बहुत कुछ बेकार सी है । पूछने की बात तो यह है कि प्रत्येक संस्कृति का अपना वैशिष्ट्य क्या था और क्या है ? उसी प्रकार जिस प्रकार हम यह मानकर तो चलते ही हैं कि प्रत्येक दार्शनिक या विचार अपने पीछे आने वाले दार्शनिक या विचारकों से बहुत कुछ लेता है और समकालीन चिन्तकों से भी कुछ-न-कुछ सीखता ही है फिर भी हम उसकी चर्चा न करके उसके अपने वैशिष्ट्य की ओर ध्यान देते हैं और यह पूछते हैं कि, आख़िर उसने अपना क्या कहा ? चीन, ग्रीस और भारत में ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व पहली शताब्दी तक जो चिन्तन हुआ वह, जैसे कि हम पहले कह आए हैं इन संस्कृतियों के लिए ही नहीं बल्कि मानव संस्कृति मात्र के लिए एक ऐसी उपलब्धि है जिसके आधार पर ही पिछले दो हज़ार वर्ष के चिन्तन का प्रासाद खड़ा हुआ है । इस प्रासाद की नींव में मनुष्य ने अपने सामने तीन मूलभूत समस्याओं को जन्म दिया । यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि, पिछले दो हज़ार साल में उसका चिन्तन इन तीन समस्याओं में ही उलझा रहा है। मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण क्या है, उसका अन्य प्राणियों से भेद किस प्रकार समझाया जा सकता है ? क्या हम उसको केवल सामाजिक प्राणी के रूप में देखें या नागरिक के रूप में या एक ऐसे प्राणी के रूप में देखें जो जिसके पास बुद्धि है, विचार करने की क्षमता है और जो शुद्ध बौद्धिक चिन्तन के द्वारा सत्य-असत्य का निर्णय कर सकता है, या वह ऐसा प्राणी है जिसमें अच्छे-बुरे की पहचान है, जो शुभ-अशुभ को देखता है, और जो कर्म के संदर्भ में हमेशा यह सवाल पूछता है क्या उचित है या अनुचित ? मनुष्य का इतर प्राणियों से भेद मनुष्य को स्वतंत्र आत्म चिन्तन का विषय बनाता है और वह यह सवाल पूछता है कि मनुष्य क्या है, मैं क्या हूँ, यह जगत क्या है, मैं इसमें क्यों हूँ, कैसे आया, कहाँ जाऊंगा ? मनुष्य का मनुष्यत्व क्या है, किसमें, उसकी सार्थकता कैसे होती है, उसका पुरुषार्थ क्या है, उसके

मनुष्य होने का अर्थ क्या है ? ये प्रश्न विभिन्न संस्कृतियों ने अपने आदिकाल में पूछे और इनके उत्तर विभिन्न प्रकार से दिए हैं। ग्रीस की सभ्यता ने इसका एक उत्तर यह कहकर दिया कि मनुष्य बौद्धिक प्राणी है बौद्धिक चिन्तन उसको सब प्राणियों से अलग करता है क्योंकि उसमें सोचने की क्षमता है, वह तर्क कर सकता है । दूसरी ओर ग्रीस चिन्तन में इसका एक और उत्तर भी दिया है, जिसमें यह कहा गया कि मनुष्य राजनीतिक या सामाजिक प्राणी है, वह किसी राज्य का नागरिक होकर रहता है । वह किस समाज, किस संस्कृति का अंग है, और इसके बाहर मनुष्य या तो पशु हो जाता है या देवता । चीन की संस्कृति और सभ्यता में भी ऐसा लगता है कि मनुष्य को प्रधान रूप में मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण उसके सामाजिक और राजनीतिक जीवन में पाया, इसीलिए कन्फ्यूशियस ने यह सोचने की कोशिश की कि आदर्श समाज और आदर्श राज्य कैसे स्थापित किए जाएं क्योंकि उन्हीं में मनुष्य 'मनुष्य' होकर रह सकता है । समाज और राज्य यदि ठीक नहीं हैं तो मनुष्य का मनुष्य रहना संभव नहीं है । कुछ इसी तरह के विचार प्लेटो की **रिपब्लिक** नामक पुस्तक में मिलता है वहाँ भी यह सोचने की कोशिश है कि आदर्श राज्य और समाज की स्थापना कैसे हो । भारत में भी इस प्रकार का विचार हुआ और मनुस्मृति के रचयिता को इसका प्रणेता कहा जा सकता है । मनुष्य के व्यावर्तक लक्षण की प्रसिद्ध पंक्ति भारत में इस प्रकार कही गई 'धर्मस्य तेषाम् हि अधिको विशेषो' यानि धर्म ही वह है जो मनुष्य को अन्य प्राणियों से अलग करता है। पर भारतीय संस्कृति ने इस उत्तर को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया । और इससे भी परे जाकर यह कहने की चेष्टा की कि मनुष्य का लक्षण समाज, धर्म और राज्य में नहीं पाया जा सकता । मनुष्य केवल सामाजिक या राजनीतिक प्राणी नहीं है वह तो इससे कहीं परे एक ऐसा चिरन्तन सत् का अंश है जो देश और काल से परे है और इसका परम पुरुषार्थ यही जानने में है कि वह वास्तव में इस लोक का प्राणी ही नहीं है न इस देश काल का वासी, न किसी समाज या राज्य से मूलतः सम्बन्धित । ऐसा नहीं है कि अन्य संस्कृतियों में इस बात का आभास नहीं मिलता ।

पर उन्होंने इसको अपने विचार के केन्द्र में कभी नहीं रखा और न ही इसको मनुष्य का प्रथम पुरुषार्थ माना । यही नहीं उन्होंने इस संदर्भ में दर्शन का प्राधान्य न देकर अपने धर्म ग्रन्थों को ही प्रधानता दी और उनमें भी ईश्वर केन्द्रित विचार को मनुष्य और जगत के सृष्टा के रूप में देखा । इसके विपरीत भारतीय परम्परा में दार्शनिक चिन्तन का हमेशा प्रधान विषय मनुष्य केन्द्रित था न कि ईश्वर केन्द्रित । ईसा के 500 साल पूर्व के विचार का इतिहास ग्रीस चीन और भारतीय संस्कृतियों को वह पृष्ठभूमि प्रदान करता है जिसके संदर्भ में उनके आगे का चिन्तन विकसित होता है। परन्तु इस विकास के क्रम में इन संस्कृतियों में बहुत गहरा भेद है ईसाई धर्म के उदय ने एक प्रकार से ग्रीस से उत्पन्न दार्शनिक विचारधारा को कुण्ठित ही किया । आगे बढ़ने नहीं दिया । पर इसके साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग शास्त्रों का प्रणयन स्वयं अरस्तु ने ईसा पूर्व की चौथी शताब्दी के आसपास कर लिया था और इसका गहरा प्रभाव उस परम्परा से निकलने वाली चिन्तन धाराओं पर स्थायी रूप से प्रभावी हुआ । यही नहीं गणित में यूक्लिड की ज्यामिति शास्त्र की रचना ने शुद्ध आकारिक ज्ञान को एक ऐसा स्थायित्व प्रदान किया जो एक प्रकार से उस संस्कृति में ज्ञान का मानदण्ड ही बैठा। ज्ञान का

यह मानदण्ड इसलिए भी उस संस्कृति में प्रभावशाली हुआ क्योंकि अरस्तु ने स्वयं शुद्ध आकारिक तर्कशास्त्र की रचना की थी और आकारिक सत्य को वास्तविक सत्य से अलग करके शुद्ध तर्कशास्त्र की नींव डाली थी । यह ठीक है कि इसके बाद ग्रीस के दार्शनिकों का ध्यान मनुष्य के आचार और पुरुषार्थ सम्बन्धी समस्याओं पर केन्द्रित हुआ जिसमें स्टॉइक और एपिक्यूरियन जैसी दार्शनिक चिन्तन धाराओं को जन्म दिया । पर प्लेटो और अरस्तु का प्रभाव हमेशा बरकरार ही रहा और ईसाई धर्म का प्रभुत्व होने के बाद हमेशा यह समस्या रही कि इस धर्म के विश्वासों का भी दार्शनिकों के विचारों से कैसे समन्वय बैठाया जाए या ग्रीक दर्शन का क्या किया जाए ? यहाँ इस इतिहास में जाने की जरूरत नहीं है केवल यह ध्यान में रखने की बात है कि दार्शनिक चिंतन के बाद धर्म और दर्शन का सम्बन्ध और शास्त्रों की रचना पश्चिमी संस्कृति में किस प्रकार से हुई और इसका भारतीय और चीनी संस्कृतियों से क्या भेद था ?

चीन की संस्कृति के बारे में इतना अधिक सर्वसाधारण रूप में ज्ञान नहीं है जितना ग्रीक या भारतीय संस्कृति के बारे में । पर कन्फ्यूशियस के विचारों के बाद ऐसा लगता है कि चीन की बौद्धिक परम्परा के सामने जो समस्याएं उत्पन्न हुई वे एक ओर तो लाओत्से से उत्पन्न होने वाली चीन की अपनी ही विचारधारा थी । वहीं दूसरी ओर भारत से प्राप्त हुई बौद्ध अध्यात्मवादी विचार परम्परा थी जो मनुष्य को सामाजिक और राजनीतिक प्राणी के रूप में देखती ही नहीं है और यह मानती है कि मनुष्य अपने परम पुरुषार्थ की प्राप्ति समाज, राज्य और गृहस्थ को छोड़कर ही प्राप्त कर सकता है । चीन में कन्फ्यूशियस के बाद ज्ञान के किन शुद्ध शास्त्रों की रचना हुई, यह कहना भी कठिन है । जबकि भारत में यह सर्वविदित है कि पाणिनि के व्याकरण की रचना शास्त्र की उसी उच्चतम कोटि में रखी जा सकती है जिसमें अरस्तु का तर्कशास्त्र और यूक्लिड की ज्यामिति ।

भारत की शास्त्रीय परम्परा जो पाणिनि की **अष्टाध्यायी** से प्रभावित होती उसने ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में अनेकानेक सूत्रों की रचना का सूत्रपात किया । ईसा से कई शताब्दी पूर्व भी अनेक शास्त्रों की रचना हुई जो सूत्र रूप में आबद्ध किये गये थे । यही नहीं पाणिनि के सूत्रों पर कात्यायन का **वार्तिक** ग्रन्थ उपलब्ध है, जो दक्षिण में लिखा गया था। और जिसने शायद इस बात को फैलाने में मदद की कि वार्तिक नाम का ग्रन्थ केवल अर्थ की व्याख्या ही नहीं करता और ग्रन्थ में जो नहीं कहा गया है उसको भी उद्घाटित करता है। इसके साथ ही जो गलत कहा गया है उसकी गलती की ओर भी ध्यान दिलाता है । कात्यायन के **वार्तिक** का उत्तर पतंजलि ने अपने **महाभाष्य** में दिया ऐसा कहा जाता है । इस प्रकार सूत्र, वार्तिक और भाष्य की परम्परा प्रचलित हुई । हालांकि पाणिनि के इन सूत्रों के संदर्भ में ऐसा लगता है कि वार्तिक पहले हुआ और भाष्य बाद में। जो कुछ-कुछ अजीब-सा मालूम होता है क्योंकि इसके बाद साधारणतः भाष्य पहले लिखे गए और वार्तिक बाद में ।

जो कुछ भी हो ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में सूत्रों की रचना और उसके बाद उनपर भाष्य, वार्तिक, टीका आदि के द्वारा उस विषय के ज्ञान का विस्तार और उसमें सतत परिष्कार भारत की

बौद्धिक परम्परा रही है और इसके हर क्षेत्र में विशद ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना हम भारत की बौद्धिक ज्ञान की परम्परा के विकास और विस्तार का इतिहास नहीं समझ पाएंगे । इसलिए इस परम्परा को समझने के संदर्भ में पहले उन सब गम्भीर सूत्रों के बारे में जानना होगा, जो प्रत्येक क्षेत्र में ज्ञान के प्रथम शास्त्रीय संरचना के रूप में लिखे गए थे । पाणिनि के सूत्र तो प्रसिद्ध हैं ही । लेकिन इसके अलावा वैदिक यज्ञ से सम्बन्धित अनेक पक्षों के सम्बन्ध में स्वतंत्र ज्ञान की रचना और उनको शास्त्र रूप देने वाले सूत्र भी कम महत्व के नहीं है । शुल्व सूत्र जो यज्ञ की वेदी की संरचना से सम्बन्ध रखते हैं और इस प्रकार भारतीय परम्परा में रेखा गणित या ज्यामिति के ज्ञान का प्रारम्भ करते हैं उनमें से एक है । इसी प्रकार श्रौत सूत्र,गृह्य सूत्र, धर्म सूत्र, जो शायद सब कल्प सूत्र की संज्ञा से जाने जाते हैं । इनमें सम्मिलित हैं पिंगल के सूत्र जो द्वन्द से सम्बन्धित हैं,वे भी शायद इसी परम्परा में आते हैं । लेकिन इनमें से किनको शास्त्र माना जाय और किनको नहीं, इसका निर्धारण तभी हो सकता है जब इन सूत्रों को शास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए और इन पर जो व्याख्या ग्रन्थ बाद में लिखे गए हैं उनका उसी दृष्टि से अध्ययन किया जाए । इनके अलावा नट सूत्र जो शायद भारत के नाट्य शास्त्र से सम्बन्धित हैं स्वतंत्र रूप में लिखे गए माने जाते हैं । नृत्य के संदर्भ में तण्डु के लिखे गए सूत्रों को भी कुछ इसी प्रकर की मान्यता है । पर इन सब को शास्त्रीय ज्ञान की संरचना के मूल स्वरूप के संदर्भ में अभी तक नहीं देखा जाता है और न इसमें आपस में कोई सम्बन्ध बैठाने की कोशिश की गई है । जहाँ तक दार्शनिक ग्रन्थ का संदर्भ है उनके बारे में ऐसी कोई विशेष समस्या नहीं है क्योंकि उनका स्वतंत्र और दर्शन के क्षेत्र में उनका मूलभूत स्थान सर्वविदित है। मीमांसा सूत्र, न्याय सूत्र, वैशेषिक सूत्र, षष्ठि तंत्र, योग सूत्र और ब्रह्म सूत्र ऐसे मूलभूत ग्रन्थ हैं जिनका भारत की दार्शनिक परम्परा पर स्पष्ट प्रभाव अब तक मिलता है । यह ठीक है कि सांख्य सूत्रों की रचना बाद में हुई थी और इसलिए वे उस प्रकार प्रामाणिक नहीं है जिस प्रकार की दार्शनिक परम्पराओं के अन्य सूत्र । पर उनको छोड़कर बाकी सब सूत्र ग्रन्थों का अपना स्थान स्पष्ट है । इसलिए भारत की दार्शनिक परम्पराओं को समझने के लिए जिस तरह ईसा के 500 वर्ष पूर्व का काल उपनिषद, जैन और बौद्ध परम्परा से प्रभावित है, उसी प्रकार ईसा के बाद के हजार वर्ष इन सूत्रों की रचनाओं से पूर्ण रूप में प्रभावित हैं । इसके अलावा नागार्जुन के **वैदल्य सूत्र**, जिसकी चर्चा अधिकांश लोग नहीं करते, का भी कम महत्व नहीं है । जैन परम्परा का **भगवती सूत्र** प्रसिद्ध है ही लेकिन आचार्य कुन्द कुन्द का **समय सार** भी शायद वही स्थान रखता है जो अन्य परम्पराओं में उनके मूलभूत सूत्र ग्रन्थों का स्थान है ।

साधारणतः इन सूत्र ग्रन्थों को स्वतंत्र रूप में देखा जाता है और जिन लोगों ने भारतीय दर्शन पर अब तक लिखा है वे इसका वर्णन इस प्रकार करते हैं जैसे कि इनमें एक-दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं हैं पर यह बात बिल्कुल गलत है क्योंकि उनमें यह विभिन्न सूत्र ग्रन्थ उन समस्याओं का विविध रूप में उत्तर देने की चेष्टा करते हैं जो समस्याएं उस समय के दार्शनिकों को परेशान कर रही थीं । समस्याएं करीब-करीब सब के सामने एक-सी ही थीं । हाँ उनके उत्तर अलग-अलग थे, लेकिन उत्तरों में भी कुछ साम्य था, और कुछ वैषम्य भी । यह भी ठीक है कि विभिन्न दार्शनिकों ने जो इन सूत्रों के रचयिता थे अपना ध्यान कुछ विशिष्ट समस्याओं की ओर अधिक

दिया, क्योंकि उनकी दृष्टि में उनका महत्व अधिक था । दूसरी समस्याओं की ओर कम ध्यान दिया क्योंकि शायद वे उनको अधिक महत्व का नहीं समझते थे । इसलिए इन सूत्र ग्रन्थों को स्वतंत्र रूप में समझना एक बड़ी भारी भूल है, इसको हम तभी सही रूप में समझ सकते हैं जब इनको एक साथ, एक-दूसरे के संदर्भ में मिलाकर उन समस्याओं के परिप्रेक्ष्य में देखें जिनका समाधान खोजने की यह कोशिश कर रहे हैं ।

दार्शनिक सूत्रों में **मीमांसा सूत्र** पहले माना जाता है और इसके रचयिता इसमें 'धर्म' के बारे में निश्चित रूप से बताना चाहते हैं । इस सूत्र का रचयिता प्रायः जैमिनी को माना जाता है। पर इसके मानने में एक मूलभूत कठिनाई यह है कि इस ग्रन्थ में जैमिनी के मतों का कई स्थानों पर उद्धरण ही नहीं दिया जाता बल्कि एक स्थान पर तो उसके मत का स्पष्ट रूप में उद्धरण करके खण्डन भी किया गया है । कुछ विद्वानों ने ऐसा कहने की कोशिश की है कि, भारतीय परम्परा में अपने स्वयं के मत को उद्धरण रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा थी, पर कम से कम ऐसा तो कोई भी नहीं करता कि अपने मत का उद्धरण करके उसको खण्डित करें। दूसरे,जब अनकों मतों के बारे मे दूसरों के मत का उद्धरण कर उनका खण्डन करके अपने सिद्धांत का स्पष्ट रूप में प्रतिपादन किया गया है, यह समझ में नहीं आता कि केवल कुछ स्थानों पर अपने ही मत का उद्धरण क्यों किया गया जबकि अन्य स्थानों पर उसको सिद्धांत रूप में प्रस्तुत किया गया है । जो कुछ भी हो दार्शनिक संदर्भ में इस बात का कोई बहुत महत्व नहीं है कि कोई ग्रन्थ किसने लिखा है, क्योंकि दार्शनिक दृष्टि तो यह देखती है कि क्या कहा गया और जो कहा गया है उसका तार्किक और बौद्धिक दृष्टि से क्या महत्व है ? और अगर इस दृष्टि से देखें तो लगता है कि धर्म के लक्षण में इन सूत्रों का रचयिता एक महत्व की बात कह रहा है । उसका कहना है कि धर्म का सम्बन्ध कर्म से है, यानि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। उसने धर्म को आज्ञापरक वाक्यों में निहित बताया है और यह कहा है कि 'धर्म' का ज्ञान न प्रत्यक्ष से हो सकता है और अनुमान से। उसके लिए तो किसी अन्य प्रमाण को खोजना होगा जो उसके अनुसार 'शब्द' में पाया जाता है । आज के संदर्भ में इस बात को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि उसका 'क्या करना चाहिए' यह किन्हीं तथ्यों पर आधारित नहीं हो सकता । सिद्ध वर्णनात्मक वाक्यों से विधि वाक्य कभी भी निकाले नहीं जा सकते । अंग्रेजी में इसको इस प्रकार कहा जाता है कि जो है उससे यह कभी नहीं सिद्ध किया जा सकता कि 'क्या होना चाहिए' । इसकी सिद्धि के लिए तो जिन आधारभूत वाक्यों की आवश्यकता होगी उनमें कम से कम एक वाक्य तो ऐसा अवश्य होना चाहिए जिसमें स्वयं, होना चाहिए या करना चाहिए प्रयुक्त हो । 'होना चाहिए' और 'करना चाहिए' में मूलभूत भेद है, जिसके द्वारा प्रसिद्ध दार्शनिक निकोलइ हार्टमैन ने अपनी एथिक्स नामक पुस्तक में हमारा ध्यान दिलाया है । उसने उनमें यह भेद किया है कि शुद्ध 'होना चाहिए' में कोई ऐसी बात अनिवार्य रूप में नहीं है कि उस प्रकार की स्थिति मनुष्य के कर्म द्वारा वास्तविकता में लाई जा सकती है । जबकि 'करना चाहिए' में यह अनिवार्य रूप से निहित है कि वह मनुष्य के संकल्प और प्रयत्न द्वारा चरितार्थ किया जा सके क्योंकि अन्यथा यह कहने का कि यह करना चाहिए कोई अर्थ ही नहीं रहता ।

पर इस महत्वपूर्ण भेद का दार्शनिक चिन्तन में कोई असर नहीं हुआ दिखाई देता, दूसरी ओर यह भी उतना ही आश्चर्यजनक मालूम होता है कि पश्चिम की आधुनिक परम्परा में जबकि इस बात पर तो बहुत बहस हुई है कि क्या करना चाहिए या क्या होना चाहिए इसको किसी भी तथ्य की बात से पूर्णत: निगमित नहीं किया जा सकता। इस बात पर जरा सा भी ध्यान नहीं दिया गया है कि आख़िर 'करना चाहिए' सम्बन्धी वाक्यों की श्रृंखला का वास्तविक आधार क्या होगा ? भारतीय परम्परा में इस पर चिन्तन किया गया और इन आज्ञापरक बातों को अंतिम आधार श्रुतिमूलक वाक्यों में ढूंढ़ा गया है और यह कहा गया कि वेद श्रुति ही अंतिम रूप में 'धर्म' का आधार है और धर्म केवल विधिनिषेध वाक्यों में ही पाया जाता है । आधुनिक पश्चिमी चिन्तन की परम्परा में इस प्रकार की चर्चा विधि या कानून के संदर्भ में उठाई गई है। वहाँ यह कहने की कोशिश की गई है कि, क्या करना चाहिए इसका अंतिम आधार उस संविधान में है जो कोई राज्य अपने लिए बनाता है । चूँकि संविधान कोई बनाता है इसलिए वास्तव में तो संविधान अंतिम न होकर उसके बनाने वालों को ही अंतिम आधार रूप में मानना पड़ेगा । और चूँकि प्रत्येक संविधान अपने में परिवर्तन की प्रक्रिया को भी स्वीकार करता है इसलिए वह स्वयं अंतिम है या नहीं इसके बारे में शंका की जा सकती है । विधि या कानून के प्रसिद्ध दार्शनिक हान्स कैल्सन ने इस आधार को (Ground Norm) आधारभूत विधिपरक नियम के रूप में देखा था, पर दार्शनिक समस्या तो यह है कि यदि मनुष्यों के संकल्प या उनकी इच्छाओं के आधार पर ही इस मूलभूत विधि निषेधपरक वाक्यों का स्रोत माना जाय तो वह इतना ही अस्थाई और कमज़ोर होगा जितना कि मनुष्यों की इच्छाएं या भावनाएं ।

एक तरह से यह बात कुछ-कुछ उसी तरह की है, जैसे कि ज्ञान के क्षेत्र में सत्य का आधार खोजने की। वहाँ भी हम इस बात की खोज करते हैं कि ज्ञान का आधार कुछ ऐसा स्वयं-सिद्ध वाक्यों में है, जिनके प्रमाण उनमें स्वयं में ही निहित हैं। इसलिए जिनकी सत्यता किसी अन्य पर आधारित नहीं हो । 'स्वत: प्रमाण' 'स्वयं सिद्ध' और 'स्वयं भू' आदि प्रत्यय इसी विचार के द्योतक हैं ।

मीमांसा ने इस संदर्भ में 'श्रुति' की अवधारणा को नया मोड़ दिया और यह कहा कि श्रुति वही हो सकती है जो अपौरुषेय हो, अर्थात् किसी पुरुष विशेष का वचन नहीं है और जो नित्य हो अर्थात् जिसमें कभी कोई परिवर्तन घटित ही नहीं हो सकता, बल्कि जिसमें परिवर्तन की संभावना सिद्धांतत: भी नहीं मानी जा सकती । इसीलिए मीमांसा ने 'शब्द' की अपौरुषेयता और नित्यत्व की बात कही। कुछ लोगों का कहना है कि मीमांसा में इस प्रकार की बात बौद्ध और जैन परम्पराओं के संदर्भ में वैदिक परम्परा को अधिक प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए कही गई थी । प्रो0 डी. स्मैट का मत है कि अपौरुषेयत्व के सिद्धांत से यह सिद्ध करने की कोशिश की गई कि बौद्ध और जैन आगम तो पुरुष विशेष के वचन हैं जिनका जन्म हुआ था और जिनकी मृत्यु भी हुई थी । इसलिए वे कभी भी उस प्रकार प्रामाणिक नहीं माने जा सकते जिस प्रकार वेद माने जाते हैं, क्योंकि वेदों का तो कोई रचयिता नहीं है अगर सोचा जाए तो इस आधार पर अनेकानेक धर्म परम्पराएं जो किसी मनुष्य विशेष में आधारित हैं वे कभी भी प्रामाणिक नहीं हो सकती । पर वेद

भी तो हमें किन्हीं ऋषियों द्वारा प्राप्त हुए हैं और अगर यह कहा जाए कि वे उन ऋषियों की स्वयं सृष्टि नहीं थे उन्होंने तो केवल उनके 'दर्शन' या श्रवणमात्र किया था और उन्होंने उसको वैसा ही कह दिया था । कहने का अर्थ यह है कि वे उस ज्ञान के सृष्टा नहीं थे। वह तो केवल उनके माध्यम से अभिव्यक्त हुआ था । पर अगर ऐसा कहा जाय तो यह बात काफी हद तक इस्लाम और यहूदी मत पर भी लागू होती है और कहने वाले तो यह ऐसा कहते हैं कि बुद्ध और महावीर के वचन भी इसी प्रकार नित्य सत्य है जो उनके माध्यम से कहे गए हैं ।

ऐसा मानने पर भी कुछ भेद तो अवश्य रहता है एक भेद तो यह कि वेद किसी व्यक्ति विशेष के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ नहीं जान पड़ता, क्योंकि उनके सम्बन्ध में कोई ऐसी परम्परा कभी भी नहीं रही है । इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने की बात है कि एक प्रकार से वेद के नाम से ज्ञात ग्रन्थ सब से पुराने हैं । बौद्ध और जैन आगमों से भी बड़ा, यहूदी, तोरा (Torah) या ईरानियन या पारसी भी उसके बाद के माने जाते हैं। ईसाई और इस्लाम ग्रन्थों की तो इस संदर्भ में बात ही नहीं की जा सकती क्योंकि वे तो बहुत बाद में आए। यह बात हालांकि काफी हद तक सच है तब भी इतना तो ध्यान में रखना ही होगा, कि अगर हम मिश्र और मेसोपोटामिया की सभ्यताओं को उसके पहले का मानते हैं तो कम से कम मिश्र की धार्मिक पुस्तकें और मेसोपोटामिया का गिल्गमेश (Gilgamesh) वेद से पहले के माने जाएंगे । यही बात कुछ-कुछ हड़प्पा में मिलने वाली 'सील' मोहरों की है हालांकि उनपर जो खुदा हुआ या लिखा हुआ है वह अभी तक पढ़ा नहीं गया है । लेकिन इन सब को भी अगर ध्यान में रखा जाए तो भी इस बात में कोई फर्क नहीं पड़ता कि इसमें से कोई भी वेद जैसा ग्रन्थ नहीं है और वेद की अपूर्वता पर इन सब से कोई विशेष असर नहीं पड़ता ।

मीमांसा ने श्रुति की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए एक और कदम उठाया जिसकी ओर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया । ज्यादातर लोग अपौरुषेयत्व और नित्यत्व की चर्चा करते रहे हैं और उन्होंने यह नहीं देखा कि मीमांसा के रचयिता ने वेद के सभी वाक्यों को प्रामाणिक नहीं माना है, उसने तो केवल उसमें जो विधिनिषेध वाक्य है उनको ही प्रामाणिकता दी है। इसका एक परिणाम तो यह हुआ कि वेद नाम से ज्ञात ग्रन्थों में जो अनेक बातें कही गई हैं या जिनका वर्णन हुआ है, उनका मीमांसा सूत्रों के अनुसार अपने आप में न कोई महत्व है और न विशेष स्वयं सार्थक अर्थ । वे तो केवल उन वाक्यों के आनुषंगिक मात्र है जो विधिनिषेध से सम्बन्ध रखते हैं। एक प्रकार से अगर उन विधिनिषेध-परक वाक्यों का स्वतंत्र संकलन करें तो मीमांसा के अनुसार वही वास्तव में वेद कहलाने का अधिकारी होगा । बाकी तो सब केवल कहने भर को हैं, उसकी सत्यता का कोई प्रश्न उठ ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी अर्थवत्ता अपने स्वयं में नहीं है बल्कि उन वाक्यों के संदर्भ में ही उत्पन्न होती है जो विधिनिषेध से सम्बन्ध रखते हैं । इसी सिद्धांत को उन्होंने 'अर्थवाद' का नाम दिया । वास्तव में तो इसे अर्थाभास कहना चाहिए क्योंकि यहाँ 'अपने आप में' कोई अर्थ है ही नहीं, केवल अर्थ का आभास मात्र है जिसे अगर हम अर्थ रूप में लें तो हमें गलत दिशा में ही ले जाएगा क्योंकि उसके बारे में फिर हम 'सत्य-असत्य' की बात करेंगे और यह पूछेंगे कि यह वास्तव में सत्य है या नहीं । एक प्रकार से देखें तो मीमांसा सूत्र के रचयिता ने

यह ऐसा कदम उठाया जिससे उसमें वेद के संदर्भ में सत्य-असत्य की बात करना ही गलत ठहराया। सत्य की बात तो उन वाक्यों के बारे में होती है जो किसी वस्तुस्थिति का वर्णन करते हैं। पर अगर वेद में ऐसा वर्णनात्मक वाक्य है ही नहीं या फिर जो हैं भी, वे केवल प्रतीत मात्र हैं तो उनकी सत्यता-असत्यता का प्रश्न उठाया ही नहीं जा सकता। यह बात वास्तव में तो मीमांसा के उस सिद्धांत में ही निहित है कि वेद केवल 'क्या करना चाहिए' या 'क्या नहीं करना चाहिए' केवल इस तक ही है, सीमित है, और इस प्रकार के वाक्य, कभी भी वर्णनात्मक वाक्यों से जिनकी प्रत्यक्ष और अनुमान से ही प्रामाणिकता सिद्ध होती है, के संदर्भ में बिल्कुल बेकार हैं।

जरा ध्यान से सोचें तो इस एक बात से मीमांसा के रचयिता ने उन सारे सवालों को एक ओर उठाकर रख दिया जो श्रुति की सत्यता के बारे में हमेशा उठाए जाते हैं या उठाए जा सकते हैं। इस तरह इसके साथ ही उसने एक गहरे दार्शनिक मत की स्थापना की कि सत्य-असत्य की बात केवल वस्तुपरक या वर्णनात्मक वाक्यों के बारे में की जा सकती है आज्ञापरक या विधिनिषेध से सम्बन्धी वाक्यों के बारे में नहीं और क्योंकि वर्णनात्मक वाक्यों की सत्यता सदैव उस वस्तुस्थिति के आधार पर होती है जिनका वे वर्णन करते हैं और जो प्रत्यक्ष या अनुमान से हो ज्ञात हो सकती हैं किसी अन्य आधार से नहीं- उनकी श्रुति कभी भी प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती दूसरे शब्दों में उन्होंने ऐसा कहने की कोशिश की कि अगर श्रुति रूप में माने जाने वाले ग्रन्थों में वस्तुपरक या वर्णनात्मक वाक्य हों भी तो उनकी सत्यता इस बात से कभी भी प्रमाणित नहीं हो सकती कि वे उन ग्रन्थों में मिलते हैं, क्योंकि कोई भी उनकी सत्यता-असत्यता प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा सिद्ध कर सकता है और इसका खण्डन कभी भी यह कहकर नहीं किया जा सकता कि यह तो श्रुति में पाए जाते हैं और इसलिए यह कैसे गलत हो सकते हैं। अन्य परम्पराओं में जो ग्रन्थ 'श्रुति' रूप में स्वीकार किए जाते हैं, जैसे बाईबिल या कुरान उन पर यह समस्या हमेशा रही है और आज भी रहती है, क्योंकि उनके मानने वालों ने कभी मीमांसा सूत्र के रचयिता की बात अपने ग्रन्थों के बारे में स्पष्ट रूप से नहीं समझी और उनको श्रुति मानने वाले लोगों के सामने हमेशा यह समस्या रहती है कि उनमें जो वर्णनात्मक वाक्य आते हैं। अगर वे विज्ञान द्वारा असत्य ठहरा दिए जाते हैं तो वे उन वाक्यों के बारे में अपने विश्वास को कैसे बैठाएं। मीमांसा सूत्र के रचयिता ने इस परेशानी को मूल से ही निकाल दिया। पर ऐसा लगता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा ने उनके इस सिद्धांत को गहराई से नहीं समझा क्योंकि वे बार-बार यह कहते रहते हैं किसी का मत श्रुति का विरोधी नहीं होना चाहिए। वे अक्सर ऐसा भूल कर ही कहते हैं, कि श्रुति के वाक्यों का विरोध केवल विधिनिषेध वाक्यों में ही निहित हो सकता है। वस्तुपरक, वर्णनात्मक वाक्यों में नहीं।

कायदे के अनुसार मीमांसा सूत्र के रचयिता को इस संदर्भ में विधिनिषेध वाक्यों पर गहराई से विचार करना चाहिए था पर लगता है कि उसने ऐसा नहीं किया। इसका शायद एक कारण यह था कि वेद में पाए जाने वाले विधिपरक वाक्य सदैव एक रूप लेते प्रतीत होते हैं जिनका आदर्श रूप 'स्वर्गकामो यजेत्' वाक्य में मिलता है। 'स्वर्ग' की जगह कुछ भी रखा जा

सकता है जैसे 'वृष्टिकामो यजेत्' या 'पुत्रकामो यजेत्' आदि। कहने का मतलब यह है कि वास्तव में इन विधि वाक्यों का रूप 'कामो यजेत्' है जिसका अर्थ यह होता है कि जिस किसी को भी इसकी कामना है या इच्छा है वे यह यज्ञ करें पर यह तो शुद्ध आज्ञापरक या विधिपरक वाक्य नहीं है क्योंकि यह तो केवल यह कहता है कि यदि किसी को 'स्वर्ग' की इच्छा है, वृष्टि की इच्छा है, पुत्र की इच्छा है, आदि-आदि, तो वह यह यज्ञ करें।

आज्ञापरक वाक्य के पहले 'यदि' तो हो ही नहीं सकता उसके बारे में तो 'अगर-मगर' की बात हो ही नहीं सकती। इसलिए यज्ञ से सम्बन्धित जिन वाक्यों की चर्चा मीमांसा ने की है उनको शुद्ध रूप में विधि वाक्य नहीं माना जा सकता।

यह ठीक है कि ऐसा कहा जा सकता है कि सभी यज्ञ काम-यज्ञ नहीं होते। कुछ ऐसे भी यज्ञ हैं जो नित्य प्रति किये जाते हैं और जिनका किसी कामना विशेष से सम्बन्ध नहीं है, जैसे अग्निहोत्र आदि। पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिए कि मीमांसा शास्त्र में प्रायः ऐसा माना जाता है कि ऐसे यज्ञ किसी विशेष कामना के लिए तो नहीं किए जाते, पर उनके बारे में यह हमेशा कहा जाता है कि यदि वे नहीं किए जाएं तो कुछ अनिष्ट होने की आशंका हमेशा रहती है। और उसी आशंका का निवारण करने के लिए वे किए जाते हैं। दूसरी ओर अग्निहोत्र आदि गृहस्थ के लिए ही बताए गए हैं, जो गृहस्थ नहीं हैं जैसे विद्यार्थी या सन्यासी उसके लिए उनका विधान तो है ही नहीं। इसलिए ऐसे यज्ञों के सम्बन्ध में ऐसा जो विधि वाक्य है उनको भी पूर्ण रूप से शुद्ध विधि वाक्य नहीं माना जा सकता।

बाद के मीमांसा दर्शन में इस विषय पर कुछ चर्चा अवश्य हुई है और शायद यह कहा गया है कि 'स्वर्गकामो यजेत' 'पुत्र कामो यजेत' में अन्तर यह है कि जहाँ तक पहले का सवाल है उसमें यह भी निहित है कि स्वर्ग की कामना करनी चाहिए और इसीलिए स्वर्ग की प्राप्ति कराने वाले यज्ञ करने चाहिएँ, जबकि पुत्र या वृष्टि आदि की कामना के बारे में ऐसा कोई आदेश नहीं है कि उनकी कामना करनी ही चाहिए। किसी को यदि उनकी कामना है तो वह यज्ञ कर सकता है। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'स्वर्गकामो यजेत' और दूसरे इच्छाओं की पूर्ति के लिए किए जाने वाले यज्ञों में मूलरूप से कोई भेद कम से कम उनके लिए प्रयोग किए जाने वाले वाक्यों में प्रतिबिम्बित नहीं होता। वे सब तो एक ही प्रकार के बने हुए लगते हैं। इस संदर्भ में एक समस्या और भी है जिसकी ओर मीमांसा के दार्शनिकों ने कोई ध्यान नहीं दिया है और वह समस्या यह है कि स्वर्ग की प्राप्ति के लिए कोई एक ही विशेष प्रकार का यज्ञ नहीं बताया गया है अनेक यज्ञ जैसे दर्शपूर्ण मास जो अमावस्या या पूर्णिमा को किया जाता है और सोमयाग आदि स्वर्ग की प्राप्ति के लिए बताए गए हैं; लेकिन अगर ऐसा है तो अलग-अलग प्रकार के यज्ञों से एक ही फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? क्योंकि यदि कारण भिन्न है तो उनका कार्य भी भिन्न होना चाहिए, पर अगर ऐसा मानेंगे तो यह भी मानना पड़ेगा स्वर्ग अलग-अलग प्रकार के होते हैं एक ऐसा जो दर्श पूर्णमास यज्ञ करने से मिलता है और दूसरे वह जो अन्य यज्ञों के करने से मिलता है।

विधिनिषेध वाक्यों के शुद्ध रूप के बारे में मीमांसा ने विचार चाहे नहीं भी किया हो, पर उसने कम से कम इनके बारे में इसके एक पक्ष पर जरूर विचार किया जिस पर शायद संसार की किसी भी अन्य दार्शनिक परम्परा में नहीं किया गया। और वह पक्ष यह था कि विधिवाक्य की प्रामाणिकता किस आधार पर की जाए ? यदि हम यह मानें कि उनकी प्रामाणिकता का आधार वह मनुष्य या ईश्वर है जिसने वह आदेश दिया है, तो उससे उसकी स्वयं की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। यदि हम यह मानें कि वे किसी के द्वारा दिए गए हैं, फिर चाहे वह आज्ञा देने वाला कोई मनुष्य हो या स्वयं ईश्वर । ऐसा मानने पर आज्ञा वाक्य अपना प्रामाण्य स्वयं में न रखकर उस दूसरे में आधारित करता है जिसने उसे दिया है और इस तरह उसकी अनिवार्यता में दो प्रकार की हानि होती है । एक ओर तो उसके बारे में हमेशा यह सोचा जा सकता है कि वह उस तरह का न होकर किसी अन्य प्रकार का हो सकता था इसलिए उसके अपने स्वरूप में कोई अनिवार्यता नहीं है । दूसरी ओर क्योंकि वह आज्ञापरक वाक्य किसी का दिया हुआ है इसलिए जो देने वाला है वह उससे बड़ा है क्योंकि उसका मूल उसकी शक्ति में है और इसलिए उसे प्रसन्न करना अधिक सार्थक हो सकता है बनिस्बत इसके कि उसकी आज्ञा का पालन करें । मीमांसा ने इन दोनों प्रकार की संभावनाओं से बचने के लिए अपने अपौरुषेयत्व के सिद्धांत की स्थापना की जिसके अनुसार श्रुति के विधिनिषेध-परक वाक्य न किसी मनुष्य के द्वारा दिए गए हैं और न ईश्वर के द्वारा । बहुत-सी अन्य परम्पराओं में विधिनिषेधात्मक वाक्यों का अपना मूल आधार ईश्वर में माना है । यहूदी और ईसाई परम्परा में तो यह 10 प्रसिद्ध विधिनिषेधात्मक वाक्यों के रूप में जाने जाते हैं और इस्लाम में तो ऐसा लगता है कि सभी विधिनिषेध वाक्य कुरान में अल्ला द्वारा बताए गए हैं । पर इन परम्पराओं के लिए दो सवाल हमेशा उठते हैं । पहला तो, यह कि क्या यह ईश्वर या अल्लाह के दिए हुए आज्ञात्मक वाक्य इस मत के मानने वालों के लिए ही हैं या प्रत्येक के लिए । दूसरा सवाल, जो इसके साथ में जुड़ा हुआ है वह यह है कि ईश्वर ने तो यह आज्ञात्मक वाक्य एक देश और काल विशेष में किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा मनुष्य को दिए थे तब उसके पहले जो आदमी थे वे क्या इस ईश्वर की कृपा से वंचित थे। उससे और यदि ऐसा था तो यह ईश्वर की गलती ही मानी जाएगी।

इन सब समस्याओं का समाधान करने के लिए इन परम्पराओं ने कई प्रकार की कोशिश की है लेकिन एक तरह से वे सब उस दोष से मुक्त नहीं हो सकती थी, जो उनके इस कथन में निहित हैं कि एक विशेष काल में किसी विशेष व्यक्ति द्वारा ईश्वर ने अपना आदेश अभिव्यक्त किया है ।

ईसाई दार्शनिकों के सामने यह समस्या, उनके पहले के ग्रीस दार्शनिकों विशेषकर प्लेटो और अरस्तु के बारे में उत्पन्न हुई थी क्योंकि उनके लिए यह कहना मुश्किल था कि वे लोग पूर्ण रूप से अज्ञानी थे और चूँकि वे ईसा के जन्म से पहले हुए थे इसलिए उन्हें सत्य का ज्ञान ही नहीं था इसका निराकरण उन्होंने यह कहकर किया कि ईश्वर ने सत्य का ज्ञान तो उन्हें भी दिया था पर पूर्ण रूप से नहीं क्योंकि पूर्णरूप तो ईसा में ही अभिव्यक्त होता है । यही बात कुरान में यह कहकर कही गई कि मोहम्मद साहब से पहले भी खुदा ने पैगम्बर भेजे थे ख़ासतौर पर

मूसा और ईसा जिनको इस्लाम की परम्परा में 'एहले-किताब' के रचने वालों में माना जाता है, लेकिन मोहम्मद साहब ने यह तो माना कि उनके पहले भी पैगम्बर हुए थे जिनके जरिए से खुदा ने अपने आदेश अभिव्यक्त किए थे, पर उन्होंने अपने आपको उसी तरह आखिरी पैगम्बर माना जैसा कि उनके पहले मूसा और ईसा ने अपने को माना था । यह कहना मुश्किल है कि मूसा और ईसा ने असल में ऐसा कहा था या उनके मानने वाले उनके बारे में ऐसा कहते हैं । लेकिन मोहम्मद साहब के बारे में तो कोई शक ही नहीं हैं क्योंकि उन्होंने साफ़-साफ कहा है कि वे आख़िरी पैगम्बर हैं और उनके बाद कोई ऐसा पैगम्बर नहीं होगा। जैसे उनके बाद खुदा का खज़ाना ही खाली हो गया हो । अगर उनके पहले और पैगम्बर हो सकते थे तो उनके बाद भी क्यों नहीं हो सकते ?

कुछ-कुछ ऐसी ही बात भारतीय परम्परा में पूर्णावतार और अंशावतार के प्रत्ययों द्वारा अभिव्यक्त की गई है लेकिन उसमें मूलभूत भेद यह है कि 'अवतार' की कल्पना में ईश्वर स्वयं इस जगत में जन्म लेते हैं और किसी प्राणी का रूप धारण करते हैं, जबकि यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म में ऐसा नहीं माना जाता । हाँ ईसा को स्वयं ईश्वर का पुत्र जरूर माना जाता है और ईसाई थियोलॉजी में यह समस्या एक दूसरे रूप में उठी है कि ईश्वर और ईसा का वास्तव में सम्बन्ध क्या है, क्या वे पूर्ण रूप से एक हैं या उनमें कुछ भेद है और भेद है तो किस प्रकार का है ? भारतीय परम्परा में कृष्ण को पूर्णावतार माना जाता है क्योंकि वे सोलह कलाओं से युक्त थे जबकि दूसरे सब अवतार, जिनमें स्वयं राम भी शामिल है, अंशावतार ही थे यानि उनमें भगवान अपने पूर्ण रूप में अवतरित नहीं हुए थे। पर, भारतीय चिन्तन ने कृष्ण को पूर्ण अवतार मानकर भी उनको आख़िरी अवतार नहीं माना और उसके बाद कल्कि के अवतार की कल्पना की । दूसरी ओर चूँकि भारतीय चिन्तन कल्कि को चक्र रूप में देखता है, इसलिए भारतीय चिन्तन ने युगों की कल्पना की है । इसलिए यह भी माना है कि हर युग के अवतार अलग-अलग होते हैं। पर इस सब विचार ने भारत में कभी भी इस विश्वास को आच्छादित नहीं किया कि प्रत्येक मनुष्य का भगवान से सीधा संबंध है, और हो सकता है, और इसलिए वे अनेकों रूप में इस जगत में जब चाहे प्रकट हो सकते हैं उनकी सर्वशक्तिमत्ता पर कभी भी कोई रोक नहीं लगाई गई है । इसके विपरीत ऐसा लगता है कि यहूदी, ईसाई और इस्लाम परम्परा में ईश्वर के हाथ कुछ बाँध दिए हैं कि वह ऐसा ही कर सकता है, इसके आगे कुछ नहीं । यह ठीक है कि इस्लाम के कुछ चिन्तकों ने 'नूरे-मोहम्मदी' की कल्पना की है । यह मानना कि मोहम्मद साहब केवल एक देश काल में ही नहीं था और उसके पहले उनका कोई वज़ूद नहीं था, गलत है। वह तो दुनिया के शुरू होने के साथ ही इस दुनिया में मौजूद थे और उनकी रोशनी ही सब कुछ करती थी । पर, ऐसा मानने पर वे सब बातें बेकार हो जाती हैं जो यह कहने की कोशिश करती हैं कि खुदा ने मोहम्मद साहब को खासतौर पर इसलिए चुना था कि वे मामूली आदमी थे और पढ़ना-लिखना नहीं जानते थे । इसलिए उनके माध्यम से इतनी खूबसूरत अरबी जबान में कुरान को लिखवाना या बुलवाना एक अचम्भे की बात है क्योंकि कोई भी आदमी जो पढ़ा-लिखा है नहीं वह ऐसा कैसे बोल या लिख सकते हैं । अगर 'नूरे-मोहम्मदी' की बात मान ली जाए तो फिर यह नहीं माना जा सकता कि

मोहम्मद साहब दरअसल पढ़े लिखे नहीं थे। दूसरी तरफ कुछ लोगों ने यह सवाल भी उठाए हैं कि क्या खुदा दूसरा मोहम्मद बना सकते थे और इसके जवाब में कुछ लोगों ने यह भी पूछा है कि क्या खुदा दूसरा खुदा बना सकता है?'

इस तरह के सवालों का मतलब खुदा की उस सर्वशक्तिमत्ता से है जिस पर असल में कोई रोक नहीं लगाई जा सकती । हालांकि आदमी की अक्ल बार-बार यह सोचती है कि खुदा जो भी करता है वह आखिर अच्छा ही करता होगा । इसलिए और कुछ नहीं तो अच्छे-बुरे की बात तो खुदा की बेलगाम अक्ल पर कुछ लगाम तो लगाती ही होगी ।

वैदिक परम्परा

मीमांसा सूत्र के रचयिता ने इन सवालों को बुनियाद से ही खत्म कर दिया क्योंकि उसने यह मानने से इंकार कर दिया कि वे मूलभूत आदेश जो वेदों में पाए जाते हैं इसी ईश्वर के दिए हुए हैं । उसने तो जैसा कि हमने पहले कहा विश्व दर्शन में एक नये सिद्धांत को जन्म दिया जो अपौरुषेयत्व के नाम से जाना जाता है पर इसके साथ ही उसने एक दूसरे सिद्धांत को भी जन्म दिया जिसका सम्बन्ध शब्द के नित्यत्व से है । अपौरुषेयत्व और नित्यत्व दोनों एक दूसरे से जुड़े हुए हैं क्योंकि अगर मूल विधिनिषेध वाक्यों को कोई देने वाला ही नहीं है तो फिर उनमें तब्दीली का सवाल ही नहीं उठता वे तो नित्य हैं क्योंकि उनका कभी भी जन्म नहीं हुआ, प्रारम्भ नहीं हुआ, शुरूआत नहीं हुई ।

इस तरह मीमांसा ने विधिनिषेधात्मक वाक्यों के बारे में दो मूल प्रश्न उठाए जिनकी ओर दार्शनिकों ने अधिक ध्यान नहीं दिया है एक तो उनकी प्रामाणिकता की समस्या है दूसरी यह कि उनके बारे में अनवस्था दोष से कैसे बचा जाए ? अधिकतर प्रामाण्य की समस्या वर्णनात्मक वाक्यों के बारे में ही उठाई जाती है क्योंकि उनके विषय में ही सत्य—असत्य का प्रश्न उपस्थित होता है।अनवस्था दोष के बावजूद भी अधिकतर वर्णनात्मक वाक्यों के बारे में ही उठता है और इसलिए स्वत: प्रामाण्य और स्वत: प्रकाशत्व की बात उनके ही संदर्भ में उठाई जाती है । लेकिन जैसे ही हम आज्ञात्मक वाक्यों की प्रामाणिकता की बात करते हैं वैसे ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उनकी प्रामाणिकता किस आधार पर सिद्ध की जाय? क्योंकि वे सत्य—असत्य तक नहीं होते और इसलिए कोई वस्तुस्थिति उनकी सत्यता—असत्यता के बारे में फैसला नहीं दे सकती । वास्तव में तो वे ऐसा कहते ही नहीं हैं कि कोई वस्तुस्थिति कैसी है ? वे तो केवल यह कहते हैं कि ऐसा करेगा या नहीं करेगा और इनकी प्रामाणिकता का विचार उस प्रकार हो ही नहीं सकता जिस प्रकार वर्णनात्मक वाक्यों का होता है । साधारणत: इनकी प्रामाणिकता इस बात पर आधारित समझी जाती है कि यह आज्ञा किसने दी है और उसको यह आज्ञा देने का अधिकार भी था या नहीं । कानून के सम्बन्ध में यह बात रोज उठती है और इसका फैसला न्यायाधीश लोग करते हैं पर वे भी किसी बने हुए कानून के आधार पर ही अपना फैसला देते हैं । हालांकि कभी-कभी वे प्रचलित परम्पराओं को भी कानून के रूप में मान लेते हैं पर यह कानून भी किसी के बनाए हुए होते हैं और फिर यह सवाल उठता है कि इन कानूनों की प्रामाणिकता क्या है? अधिकतर इनकी प्रामाणिकता

इनके बनाने वालों के ऊपर निर्भर मानी जाती है पर उन लोगों की प्रामाणिकता क्या थी ? उनको किसने यह अधिकार दिया, कि वे अपने लिए ही नहीं बल्कि दूसरों के लिए भी कानून बनाएं ? अंत में यह सब अन्योन्याश्रय दोष से ग्रसित 'चक्र' है जिसे चक्रक दोष भी कहते हैं । इन सब से बचने के लिए मीमांसा ने भी मूल विधि वाक्यों की कल्पना की जो किसी के बनाए हुए नहीं हैं,पर जिनके आधार पर साधारण विधि वाक्य उत्पन्न होते हैं। यह विधि वाक्य कुछ-कुछ उन स्वयं प्रसिद्ध वाक्यों जैसे हैं जो ज्यामितिशास्त्र के मूल 'एक्ज़ियम' के नाम से जाने जाते हैं। पर मीमांसा में इस प्रश्न पर कोई स्वतंत्र विचार नहीं किया गया, और यह आश्चर्य की बात ही है कि मीमांसा सूत्र के लिखे जाने के बाद दो साल तक भारतीय दार्शनिक परम्परा में इस प्रश्न पर स्वतंत्र रूप में विचार नहीं किया गया ।

स्वयं सिद्ध वाक्यों की स्वयंसिद्धता दो तरह से सिद्ध की जाती है एक तो यह कि, वह जो कुछ भी कहते हैं, वैसी ही बातें समझ में आती हैं उसके साथ ही यह भी स्पष्ट रूप में भासित होता है कि यह जो कहा जा रहा है वह सत्य है । यह कुछ-कुछ प्रत्यक्ष ज्ञान जैसा ही है जैसे ही प्रत्यक्ष होता है वैसे ही यह भी स्वत: ज्ञान होता है । यह सत्य है । दूसरी ओर कुछ दार्शनिकों ने भी ऐसा कहा है कि ऐसे वाक्यों की स्वयं सिद्धता इस बात पर आधारित होती है कि उनका निषेध स्वयं अपना निषेध करता है, दूसरी तरह से कहें तो यह इस प्रकार के वाक्य हैं जिनका निषेध असम्भव है क्योंकि जैसे ही इनका निषेध किया जाता है वह 'निषेध' अपना स्वयं निषेध करता है। और तर्क के साधारण सिद्धांत के अनुसार निषेध का निषेध सत्य वाक्य की सत्यता को पुनर्स्थापित करता है । पश्चिम के प्रसिद्ध दार्शनिक डेकार्ट ने इसी का सहारा लेकर ज्ञान की अपनी ऐसी मूल अवधारणा को बताया था जिस पर संदेह किया ही नहीं जा सकता और इसीलिए जो सारे ज्ञान का मूल आधार बन सकती थी । उन्होंने कहा था कि मैं इस पर संदेह नहीं कर सकता कि मैं संदेह कर रहा हूँ क्योंकि जैसे ही मैं इस पर संदेह करूंगा तो संदेह की पुनर्स्थापना हो जाएगी । अंग्रेजी में इसको प्राय: ऐसा कहा जाता है कि- I can not doubt that, I am doubting,for to 'doubt' the doubting will be doubt again. यह बात सिद्ध तर्कशास्त्र के निषेध के निषेध सिद्धांत से भिन्न है, पर यह बात बात कुछ-कुछ वैसी ही है जैसे कि सिद्धांत कहता है।

आधुनिक पश्चिमी दर्शन में इस बात को काफी आगे बढ़ाया है और शुद्ध विश्लेषणात्मक वाक्यों की सत्यता की चर्चा की है । दूसरी ओर कान्ट का प्रसिद्ध सिद्धांत कुछ ऐसे वाक्यों की चर्चा करता है जो विश्लेषणात्मक न होते हुए भी पूर्णरूपेण अपनी सत्यता अपने आप में रखता है। कुछ अन्य दार्शनिकों ने ऐसे वाक्यों की ओर भी ध्यान दिलाया है जो इन्द्रियजनित अनुभव से सम्बन्ध रखते हुए भी और विश्लेषणात्मक न होते हुए भी इस रूप में सत्य प्रतीत होते हैं कि उनकी सत्यता के लिए उनसे कहीं बाहर जाने की बात नहीं है । 'अगर कोई चीज़ लाल है वह रंगीन भी होगी' ऐसे वाक्य को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है पर इस प्रकार का सारा विश्लेषण और चिन्तन वर्णनात्मक वाक्यों तक ही सीमित रहा है । आदेशात्मक वाक्यों के सम्बन्ध में साधारणत: ऐसा विचार नहीं हुआ है, हालांकि कान्ट ने आदेश वाक्यों की प्रामाणिकता के संदर्भ में इस प्रकार का प्रमाण देने की कोशिश की थी । उसने कहा था कि किसी आदेशात्मक

वाक्य का उल्लंघन कभी भी सार्वभौमिक रूप न ले सके तो उससे यह सिद्ध होता है कि वह आदेशात्मक वाक्य स्वतः सिद्ध है, क्योंकि उसके उल्लंघन का सार्वभौमिक रूप उसमें निहित व्याघात को स्पष्ट रूप से उजागर करता है । यह एक तरह से आदेशात्मक वाक्यों की सत्यता प्रमाणित करने के संदर्भ में जिसे अंग्रेजी में Indirect proof कहते हैं और भारतीय तर्कशास्त्र में जिसे तर्क की संज्ञा दी गई है यह उसका प्रयोग है । इसका उदाहरण उसने अपना दिया हुआ वचन निभाने के बारे में दिया था और कहा था कि अगर प्रत्येक आदमी अपने दिए हुए वचन का पालन नहीं करे तो फिर वचन देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाएगा क्योंकि कोई भी किसी के वचन देने पर विश्वास ही नहीं करेगा । कान्ट के इस प्रमाण की चर्चा उसके बाद नहीं की गई है, पर विधि निषेध वाक्यों की प्रामाणिकता के संदर्भ में इससे शायद कुछ प्रकाश मिल सकता है ।

कान्ट ने इस विषय में एक और ऐसा भेद किया था जिसकी ओर मीमांसा के दार्शनिकों ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है । उसने यह भेद सापेक्ष और निरपेक्ष विधिनिषेध वाक्यों के बारे में किया था । सापेक्ष विधिनिषेध का अर्थ यह है कि यदि हम किसी विशिष्ट फल की प्राप्ति करना चाहते हैं तो किसी विशेष प्रकार का कार्य करें । यहाँ कार्य की कर्तव्यता सापेक्ष है, क्योंकि वह किसी विशिष्ट फल की प्राप्ति की इच्छा के ऊपर निर्भर करती है । अगर किसी को उस फल की इच्छा नहीं है तो उसे उस काम को करने की ज़रूरत नहीं है । इसके विपरीत निरपेक्ष विधि वाक्य का उदाहरण ठीक-ठीक देना कठिन है क्योंकि यह कहना कि ऐसा हमेशा करना ही चाहिए, स्पष्ट रूप में गलत मालूम होता है। क्योंकि कोई भी कार्य हमेशा तो किया ही नहीं जा सकता पर अगर हम यह कहें कि इन-इन वस्तुस्थितियों में यह कार्य हमेशा करना चाहिए तो फिर वह वस्तुस्थिति सापेक्ष हो जाएगा । भेद को शायद इस प्रकार कहा जा सकता है, कि जहाँ कर्तव्यता का संदर्भ है वहाँ यह कहा जा रहा है कि किसी विशिष्ट फल का विचार किए बगैर उस काम को उसी तरह करना चाहिए, क्योंकि वह अपने आप में उचित है कर्म के औचित्य का सवाल कर्म को फल से हटाकर किसी अन्य नियम या आदर्श से जोड़ता है जिसके द्वारा ही वह अपना 'औचित्य' पाता है । पर इस तरह से देखने पर भी कर्म की कर्तव्यता उसमें स्वयं न होकर उसके बाहर से निर्धारित होती है । क्या कोई कर्म ऐसा हो सकता है जिसकी कर्तव्यता उसके स्वयं में ही निहित हो किसी, फल, नियम या आदर्श में जो उसके बाहर है उससे उसे प्राप्त न हो ।

कान्ट ने इसका उत्तर कुछ इस प्रकार दिया था कि शुद्ध कर्तव्यता की भावना ही कर्म को उसकी शुद्ध कर्तव्यता देती है न कि कोई कर्म का वैशिष्ट्य जो एक कर्म को दूसरे कर्म से अलग करता है । चित्त की वृत्ति ही शुभ-अशुभ का निर्धारण करती है और जिस वृत्ति में कर्म के प्रति कर्तव्यता का भाव है वही कर्म निरपेक्ष रूप में शुभ किया जा सकता है ।

मीमांसा विचार

मीमांसा ने इस संदर्भ में कोई अधिक विचार किया हो ऐसा प्रतीत नहीं होता उसने बात को यहीं तक लाकर छोड़ दिया मालुम होता है कि वाक्यों का मुख्य अर्थ क्रियात्मक है और क्रिया का सम्बन्ध भी इसी घटनात्मक क्रिया से नहीं है बल्कि विधिनिषेध के रूप में आज्ञापरक वाक्यों

के द्वारा बताए जाने वाली क्रिया से है । बाद के कुछ मीमांसक चिन्तकों ने इस बात को अवश्य उठाने की कोशिश की थी कि क्या श्रुति के वाक्यों का अर्थ इस प्रकार नहीं लिया जा सकता कि उसमें जो बताए गए फल हैं उनकी इच्छा करनी चाहिए और उस इच्छा की पूर्ति के लिए जो यज्ञ, विधिनिषेध आदि बताए गए हैं वे करने चाहिए । यह बात अधिकतर स्वर्ग की कामना के संदर्भ से उठाई गई है, पर चूँकि स्वर्ग के सम्बन्ध में कहे गये विधि वाक्यों में और अन्य प्रकार के कहे गए विधि वाक्यों में कोई भेद नहीं है, इसलिए इस प्रकार की बात कहने का कोई विशेष औचित्य नहीं रह जाता । हाँ, यह बात स्वतंत्र रूप में उठाई जा सकती है कि क्या 'इच्छा' के बारे में, क्या 'कामना' के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य को ऐसी इच्छा करनी चाहिए या ऐसी कामना करनी चाहिए ? कुछ लोगों ने यह कहने की कोशिश की है, कि अगर यह कहना ठीक नहीं भी लगे कि 'ऐसी इच्छा करनी चाहिए' तब भी यह तो कहा ही जा सकता है कि 'इच्छा ऐसी करनी चाहिए' । इस प्रकार की बात कुछ-कुछ गीता में कही गई हैं जहाँ 'इच्छा' को निष्काम भाव से या निःसंग भाव से करने को कहा है ।

वेद के वाक्यों की यज्ञ-केन्द्रित व्याख्या और उसमें निहित इस सिद्धांत ने कि वाक्यों का अर्थ मूलतः विधिनिषेध परक ही होता है, इस समस्या को जन्म दिया कि वाक्यों के जो और अंश होते हैं फिर उनका क्या अर्थ होता है ? यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि वेद के वाक्यों के संदर्भ में यह झगड़ा पुराना था । और मीमांसा सूत्र के रचयिता ने इसको सिर्फ़ इस दिशा में आगे बढ़ाया कि उसने क्रियापरक वाक्यों को सीधा विधिनिषेध वाक्यों के रूप में ही समझा । सब क्रियापरक वाक्य आज्ञापरक नहीं होते पर आज्ञापरक वाक्य हमेशा क्रियापरक होते हैं । हालांकि जैसे हमने पहले कहा था, कभी-कभी वह वस्तुस्थिति के बारे में भी हो सकते हैं । क्रियात्मक वाक्य भी वर्णनात्मक वाक्य हो सकता है । जैसे यदि हम यह कहें कि 'वह जा रहा है' तो यहाँ हम प्रधानतः इसी क्रिया का वर्णन कर रहे हैं और ऐसा कह रहे हैं कि वह विशिष्ट व्यक्ति किसी कार्य में संलग्न है और अगर वह उस प्रकार का कार्य नहीं कर रहा है तो हमारा वाक्य असत्य हो जाएगा। इसके विपरीत अगर हम यह कहें कि 'तुम वहाँ जाओ' तो यह वाक्य एक प्रकार से शुद्ध आज्ञापरक है और इसकी सत्यता या असत्यता की बात नहीं की जा सकती । हाँ यह जरूर है कि अगर वह इस आज्ञा को मानकर जाता है तो उसने आज्ञा का पालन किया और अपने किए हुए कर्म के द्वारा उसकी सार्थकता स्थापित की । पर, उसका कर्म करने से आज्ञापरक वाक्य सत्य नहीं हो जाते । हालांकि आज्ञापरक वाक्यों का उस वस्तुस्थिति से कुछ सम्बन्ध तो है ही जिसको वह जन्म देते हैं। मीमांसा ने इस ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया उसका ध्यान तो एक अन्य ओर केन्द्रित था और वह यह कि अगर वाक्यों का अर्थ कर्म प्रधान है और कर्म विधिनिषेधात्मक है तो वर्णनात्मक वाक्यों के अर्थ को किस रूप में समझा जाय और इस संदर्भ में मीमांसा सूत्र के रचयिता ने अपने प्रसिद्ध सिद्धांत 'अर्थवाद' की रचना की । अर्थवाद का सिद्धांत यह कहने की कोशिश करता है कि अगर ऐसा कार्य मनुष्य को किसी कर्म विशेष में प्रवृत्त करने का है तो बाकी सब अर्थ इसके आनुषंगिक होंगे । उनका अपने आप में कोई स्वतंत्र अस्तित्व या महत्व नहीं हो सकता । कर्म सदैव किसी वस्तुस्थिति में होता है और किसी वस्तुस्थिति की अपेक्षा करता है इसलिए वर्णनात्मक

वाक्यों का सम्बन्ध उस कर्म से जुड़ा हुआ है जो उन परिस्थितियों में किए जा सकते हैं या किए जाने चाहिए । जैसे अगर कोई यह कहे कि वर्षा हो रही है तो इसका अर्थ स्वयं अपने आप में पूरा नहीं हो जाता, बल्कि यह मनुष्य को याद दिलाता है कि अगर बाहर जाओ तो छाता लेकर जाओ या अगर तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है तो बाहर मत जाओ आदि-आदि ।

भाषा की यह व्याख्या मनुष्य केन्द्रित है और मनुष्य के संदर्भ में भी पुरुषार्थ केन्द्रित है, इसलिए सारा ज्ञान और भाव जगत एक प्रकार से पुरुषार्थ के संदर्भ में ही देखा जाता है,और चूंकि पुरुषार्थ कर्म प्रधान है इसलिए वह सबको कर्म के साधन रूप में देखता है । इस तरह की दृष्टि के लिए इन सबका अपना कोई स्वतंत्र महत्त्व नहीं है। और ऐसा लगता है कि भारतीय चिन्तन में मीमांसा की इस दृष्टि को गहरे रूप में अपनाया और सब ज्ञान को इस रूप में देखा कि वह किस प्रवृत्ति को जन्म देता है, और उससे क्या साध्य सिद्ध होता है ? एक तरह से देखा जाए तो यह अत्यन्त आधुनिकतम दृष्टि है जो ज्ञान को स्वतंत्र पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करती और जो ज्ञान की सत्यता या असत्यता स्वतंत्र रूप में नहीं मानती, बल्कि उसको मनुष्य के स्वार्थ साधन की सिद्धि के ही रूप में स्वीकार करती है। अंग्रेजी में इसको Pragmatism का नाम दिया जाता है और इसको इस तरह से भी समझाया जाता है कि सत्य का असली निष्कर्ष यह है कि आखिर आपके विचारों की 'Cash Value' क्या है ? या यों कहें कि उनसे बाज़ार में क्या खरीदा जा सकता है ? ज्ञान तो तकनीक का साधन मात्र है और तकनीक चीजों को उत्पन्न करने का वह तरीका है जिससे चीज़ें बाज़ार में बेची या खरीदी जा सकती हैं और जिनके बेचने-खरीदने का एक ही मानदण्ड है, कि उससे कितना अधिकाधिक लाभ होता है ? यह आज की दृष्टि है क्योंकि नफ़ा कमाना, वस्तु खरीदना, और उनका उपभोग करना आज की संस्कृति और सभ्यता का चरम पुरुषार्थ है,पर चूँकि भारतीय संस्कृति ने अर्थ की सिद्धि या कहें कि धन कमाना और वस्तुओं का उपभोग करना अभी चरम पुरुषार्थ नहीं माना इसलिए उसने ज्ञान को इसका साधन न मानकर किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति का साधन माना और वह साधन था मोक्ष की प्राप्ति । लेकिन माना उसने भी ज्ञान को साधन के ही रूप में स्वयं साध्य के रूप में नहीं । इसीलिए शायद अधिकतर लोग भारतीय संस्कृति में दर्शन को मोक्ष केन्द्रित मानते हैं। स्वतंत्र ज्ञान की प्राप्ति की साधना नहीं लेकिन ध्यान से देखने पर यह पता चलता है कि वह केवल दार्शनिक ज्ञान को ही मोक्ष का साधन मानते थे ऐसा नहीं था । परन्तु, ज्ञान मात्र को ही उसका साधन मानते थे ऐसा कहना अधिक उचित होगा।

किन्तु पुरुषार्थ केन्द्रित विचार मोक्ष केन्द्रित विचार ही हो ऐसा जरूरी नहीं है क्योंकि मनुष्य के पुरुषार्थ अनेक हो सकते हैं और यदि ऐसा है तो उन पुरुषार्थों में परस्पर सम्बन्ध क्या है, इसका प्रश्न उठेगा । दूसरी ओर मोक्ष का स्वरूप एक ही है यह भी जरूरी नहीं है, यह ठीक है कि भारतीय परम्परा में मोक्ष को वैयक्तिक रूप में लिया गया है, परन्तु मोक्ष की बात समाज और राज्य के संदर्भ में भी की जा सकती है और यह भी पूछा जा सकता है, कि क्या व्यक्ति सार्थक रूप से मोक्ष की साधना भी कर सकता है, अगर समाज और राज्य खुद सही प्रकार के न हो तो। इसके अलावा साधन-साध्य की बात का भेद एक अन्य प्रकार से भी देखा जा सकता है जिसमें 'जो

वस्तु साधन है वही साध्य भी हो सकती है' । आख़िर इतना तो सब को पता ही है कि रूपए से रूपया कमाया जाता है, यानि धन स्वयं साधन बनता है और साध्य भी । इसी प्रकार ज्ञान स्वयं अन्य ज्ञान को प्राप्त करने का साधन होता है यही बात अन्य क्षेत्र में भी उतनी ही सच है । शक्ति के द्वारा शक्ति संचय होता है और धर्म के द्वारा धर्म की वृद्धि । इस तरह से देखने पर साध्य-साधन का भेद गौण दिखाई देता है और साध्य अपने को उस आदर्श पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है जो मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में पाता है और जो उसे उस रूप में दिखाई देता है जो उसकी पुरुषार्थ यात्रा को सदैव नई दिशाओं में परिचालित करता है।

चिन्तन की ये दिशाएं भारतीय परम्परा ने नहीं खोजी हैं । यह बात कुछ ठीक है पर इसका महत्व इसकी उन संभावनाओं में निहित है जिनकी ओर हमने ऊपर संकेत किया है। जो कुछ भी हो मीमांसा का यज्ञ केन्द्रित और कर्म केन्द्रित विचार भाषा के अर्थों की खोज को एक नई दिशा ही नहीं देता बल्कि उसका कर्म केन्द्रित चिन्तन कर्म के सम्बन्ध में अनेक ऐसी समस्याओं को उठाता है जिन पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, और जिनकी प्रासंगिकता विशेषकर आज के दार्शनिक संदर्भ में देखी ही नहीं गई है ।

कर्म के बारे में जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न मीमांसा दर्शन ने उठाए हैं उनको इस प्रकार रखा जा सकता है । कर्म का स्वरूप क्या है? कर्म के संदर्भ में अवयव-अवयवी या अंश-अंशी का भेद किस आधार पर होता है? कर्म के संदर्भ में गौण और मुख्य कर्म के भेद का आधार क्या है? इसके वाद कर्म का पुरुषार्थ से क्या सम्बन्ध है? और इसके अलावा उसका अन्य 'अर्थों' से क्या सम्बन्ध है? यह भेद मीमांसा ने 'कृत्वर्थ' और पुरुषार्थ के भेद को लेकर किया है पर इसे अन्य क्षेत्रों में भी लागू किया जा सकता है।

कर्म और उसके फल के बीच में जो काल का व्यवधान होता है उसको हम किस प्रकार समझ सकते हैं । कहने का अर्थ यह है कि जब कोई व्यक्ति कर्म करता है तो उसका फल उसे एकदम तो नहीं मिलता कभी-कभी तो उसे वर्षों इंतजार करना पड़ता है और कभी तो ऐसा भी कहते हैं कि जीवनभर या मरने के बाद ही उसका फल मिलता है। या जो अगला जन्म मानते हैं उनके लिए फल किसी दूसरे जन्म में भी हो सकता है। इस अन्तराल को कैसे समझा जाए ? कर्म के सम्बन्ध में विचार के लिए यह भी एक समस्या है और मीमांसा ने इस प्रश्न को उठाया ही नहीं अपितु इसका उत्तर देने की भी चेष्टा की है।

क्या कर्म के अदृश्य फल भी होते हैं,और अगर ऐसा है तो दृश्य और अदृश्य फलों में क्या भेद है और किस कर्म का कौन-सा अदृश्य फल होगा ? यह किस आधार पर माना जाए, इसकी मान्यता किस आधार पर अदृश्य होगी ? कर्म का फल क्या उसके करने वाले को ही मिलता है या किसी के किए हुए कर्म का फल किसी दूसरे को भी मिल सकता है ? सामूहिक कर्म यानि ऐसा कर्म जो अनेक व्यक्ति मिलकर करते हैं उसका फल किसको मिलता है ? उसके फल का बँटवारा किस आधार पर किया जाए?

मीमांसा ने यह सब प्रश्न ठीक इसी प्रकार नहीं उठाए हैं पर मीमांसा सूत्रों में कर्म के सम्बन्ध में जो चर्चा हुई है उसमें यह सब बातें स्पष्ट या निहित रूप में मिलती हैं, पर इस पर स्वतंत्र विचार कम से कम मीमांसा सूत्रों में नहीं किया गया, मालुम होता है, फिर भी यह प्रश्न अपने आपमें महत्व के हैं। और मीमांसा दर्शन में इस पर जो विचार हुआ है उसको आधार बनाकर आगे चिन्तन किया जा सकता है। यह प्रश्न दो भागों में बाँटे जा सकते हैं — एक वह जो कर्म से सम्बन्धित हैं और दूसरे वे जो कर्म और उसके फल के सम्बन्ध के बारे में हैं।

मीमांसा ने कर्म पर चिन्तन प्रधानतः यज्ञ के संदर्भ में किया है और इस संदर्भ में उसने ब्राह्मण ग्रन्थों में जो इसके बारे में लिखा है उसको अंतिम प्रमाण के रूप में स्वीकार किया है। मीमांसा चिन्तन की यह दो सीमाएं ध्यान में रखना जरूरी है। लेकिन किसी कारण उसने इस संदर्भ में जो कहा है उसकी दार्शनिक दृष्टि से उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि उसका दार्शनिक महत्व इस बात से कम नहीं हो जाता कि वह इन सीमाओं को उल्लंघन मानकर चलता है।

कर्म के सम्बन्ध में मीमांसा ने कर्म को किसी आदेश के पालन के रूप में देखा है। ऐसा उसने तभी माना है जबकि वह कर्म किसी आदेश के पालन के लिए न भी किया गया हो, क्योंकि ऐसा उसने उन सब कर्मों के बारे में भी सच माना है जो किसी आदेश को पालने के संदर्भ में नहीं किए गए हैं। इस तरह से देखने का एक आधार तो यह है कि आख़िर किसी आदेश का पालन भी उसी प्रकार के कर्म द्वारा होगा; इसलिए कर्म की विश्लेषणात्मक व्याख्या के संदर्भ में उसको इस प्रकार से देखने में कोई विशेष हानि नहीं है और, एक तरह से देखें तो आज जो कर्म शुद्ध वर्णनात्मक रूप में प्रस्तुत होता है वह कभी न कभी पहले किसी के बताने पर वैसा किया गया था। ज्ञान के रूप में 'सीखने' की बात सब करते हैं, पर कर्म के संदर्भ में भी 'सीखने' की बात उतनी ही लागू होती है जितनी ज्ञान के बारे में। यही नहीं, ध्यान से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कर्म के संदर्भ में तो यह बात और भी अधिक अनिवार्य लगती है। अगर हम मूल शारीरिक क्रियाओं को छोड़ भी दें तो करीब-करीब सभी को 'सीखना' पड़ता है और सीखने का अर्थ ही यह होता है कि कोई हमें सिखाता है, और 'सिखाने' का अर्थ ही यह होता है कि कोई हमसे यह कहता है कि ऐसा करो या ऐसा न करो। कर्म के मूल में यही विधिनिषेध रहता है। और, मीमांसा का कर्म विश्लेषण हमारा ध्यान इसी ओर दिलाता है। मनुष्य के संदर्भ में शायद 'क्रिया और कर्म' में यही भेद है। इसके अलावा कर्म के संदर्भ में मीमांसा ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि किसी क्षेत्र में कर्म का एक अपना मूल रूप होता है जिसको हम उसका प्रकृति रूप कह सकते हैं। और इस मूल प्रकृति रूप के अनेक उससे मिलते जुलते अलग-अलग रूप हो सकते हैं जो उससे कई बातों में भिन्न होते हैं और इसलिए जिसको उसका 'विकृत' रूप कहा जा सकता है। यह भेद उसने यज्ञ के संदर्भ में किया था, पर इस प्रकार का भेद अन्य संदर्भों में भी किया जा सकता है।

इसी तरह कर्म और फल के सम्बन्ध को लेकर मीमांसा ने 'अदृष्ट और अपूर्व' जैसे विचारों को प्रस्तुत किया। किसी कर्म का फल एकदम तो नहीं मिलता; हमें उसका इंतज़ार करना पड़ता है। पर, इस इंतज़ार की अवधि में क्या कर्म और उससे होने वाले फल के सम्बन्ध में

घटनाक्रम की कोई कड़ी है ही नहीं? लेकिन अगर हम ऐसा न मानें तो फिर उस फल को उस कर्म का फल कैसे कह सकेंगे? इसलिए मीमांसा ने 'अपूर्व' के सिद्धांत की कल्पना की और यह कहा कि यह सम्बन्ध दिखता तो नहीं है, पर है ज़रूर। इसलिए यह अदृष्ट भी है और 'चूँकि वह है', इसलिए इसको कुछ नाम देना ज़रूरी है और उन्होंने इसका 'अपूर्व' नाम दिया। यह स्पष्ट नहीं है कि उन्होंने इसको यह नाम क्यों दिया? शायद ग्रन्थों को देखने पर इसका कुछ उत्तर मिल सकता है। पर, किसी ने इस सम्बन्ध में यह प्रश्न उठाया हो, ऐसा हमें तो विदित नहीं है।

अदृष्ट की कल्पना केवल कर्म और फल के सम्बन्ध में ही नहीं है, कुछ ऐसे 'फल' के बारे में भी है जो स्वयं हमें प्रत्यक्ष या नाम से पता नहीं लगते, पर फिर भी हमें जिन्हें मानना पड़ता है। मीमांसा ने यह बात 'स्वर्ग' के संदर्भ में कही थी, क्योंकि वेद में बताए हुए कई यज्ञों का फल 'स्वर्ग' माना जाता है। लेकिन बात स्वर्ग की ही नहीं है हम अनेक कर्म ऐसे करते हैं जिनके शुभ-अशुभ फल के बारे में हमें कोई विशेष ज्ञान नहीं होता, लेकिन फिर भी हम यह मानते हैं कि कुछ न कुछ होता अवश्य है। यही नहीं कई बार तो फल 'दृष्ट' होते हुए भी हम किसी ऐसे अदृष्ट कर्म की कल्पना करते हैं जिसका वह परिणाम है। पूर्व जन्म की कल्पना कुछ इसी प्रकार की है, क्योंकि हमें तो यह पता नहीं है कि हमने वह क्या कर्म किया था जिसका फल हम अब तक प्रत्यक्ष रूप में भोग रहे हैं। 'भोगना' तो प्रत्यक्ष है, पर वह किस कर्म का फल है, यह हमारे लिए तो अदृष्ट ही है। लेकिन अदृष्ट होते हुए भी हमें उसको स्वीकार करना पड़ता है क्योंकि यदि हम उसे स्वीकार नहीं करें तो फिर यही मानना होगा कि जो कुछ हो रहा है वह आकस्मिक है, अकारण है, और इसलिए हमारी समझ-बूझ के बाहर है।

दृष्ट और अदृष्ट का यह भेद भारतीय दार्शनिक परम्परा के मूल में है। जैसा कि हम आगे देखेंगे अदृष्ट को मानने की आवश्यकता के कारण ही भारतीय परम्परा ने श्रुति प्रामाण्य को प्रधान माना। श्रुति की प्रामाणिकता दृष्ट के संदर्भ में तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि जो दृष्ट है वह तो प्रत्यक्ष है, अनुभूत है, सब को दिखाई देता है। उसके लिए श्रुति के पास जाने की जरूरत किसे है, और अगर वेद या श्रुति उसके बारे में कोई उससे विरोधी बात कहे तो कौन मानेगा? इसीलिए जैसा कि हमने पहले कहा था कि मीमांसा ने श्रुति की प्रामाणिकता धर्म के संदर्भ में ही मानी थी यानि अदृष्ट के संदर्भ में। वह अदृष्ट चाहे फल के बारे में हो, या कर्म और फल के सम्बन्ध के बारे में हो, या उस कर्म के बारे में जिसका फल हम आज प्रत्यक्षतः भोग रहे हैं, पर जिस कर्म का हमें कोई ज्ञान नहीं है।

'अदृष्ट' के संदर्भ में श्रुति की प्रामाणिकता की बात परम्परा में स्पष्ट रूप से उठाई नहीं गई है और न इस पर विस्तार से चिन्तन किया गया है। लेकिन यह अपने आप में महत्व की बात है और इस पर हम आगे फिर विचार करेंगे। अब तो केवल यह देखना है कि इस 'अदृष्ट' के विचार को और श्रुति की और वेदों की यज्ञ-परक और कर्म केन्द्रित मीमांसा की व्याख्या के विरोध में इसी प्रकार एक अन्य व्याख्या विकसित हुई। जिसने वेदों को कर्म प्रधान न मानकर ज्ञान प्रधान माना है और 'यज्ञ' के स्थान पर उनका अर्थ केवल ब्रह्म के संदर्भ में ही स्वीकार किया।

ब्रह्म सूत्र मीमांसा सूत्रों के बाद रचे गए हैं, ऐसा साधारणतः सभी स्वीकार करते हैं पर, उनका रचनाकाल मीमांसा सूत्रों की रचना के बहुत अधिक समय बीतने के बाद नहीं हुआ था। **ब्रह्म-सूत्र** बादरायण द्वारा रचित माने जाते हैं और 'वेदान्त' नाम से ज्ञात दार्शनिक परम्परा के मूल ग्रन्थ के रूप में उन्हें सभी स्वीकार करते हैं। ये दोनों सूत्र— **मीमांसा-सूत्र** और **ब्रह्म-सूत्र**, वेद के नाम से विख्यात ग्रन्थों की दो परस्पर विरोधी व्याख्या करते हैं और उसके दो विभिन्न अर्थ प्रतिपादित करने की चेष्टा करते हैं। एक की व्याख्या कर्म प्रधान और यज्ञ केन्द्रित है जबकि दूसरे की ज्ञान प्रधान और ब्रह्म केन्द्रित। इन दोनों में इतना गहरा मूल विरोध है कि यह आश्चर्य होता है कि एक ही ग्रन्थ की दो ऐसी परस्पर विरोधी व्याख्याएँ कैसे हो सकती है। पर इन विरोधी व्याख्याओं की परम्परा इन सूत्र ग्रन्थों से बहुत पहले से चली आई थी जैसा कि हमें यास्क के **निरुक्त ग्रन्थ** में वर्णित वेद के अर्थ के बारे में दिया हुआ विवाद से मालुम होता है। वहाँ,जैसा कि हमने पहले कहा है, वाक्यों के अर्थ के संदर्भ में यह प्रश्न उठाया गया था कि अर्थ क्रिया-प्रधान होता है या संज्ञा प्रधान। ध्यान से देखें तो यही मतभेद मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र में मिलता है। एक क्रिया-प्रधान अर्थ करता है और दूसरा संज्ञा-प्रधान। पर दोनों के सामने सवाल एक ही है कि अनेकानेक भिन्न-भिन्न प्रकार के वाक्य जो श्रुति के रूप में माने जाने वाले ग्रन्थ में मिलते हैं उनमें सामंजस्य किस प्रकार से बिठाया जाए ? मीमांसा सूत्र के रचयिता ने इस सामंजस्य को एक प्रकार से बिठाने की कोशिश की थी और इस कोशिश ने कई ऐसे नियमों को जन्म दिया जिनके आधार पर किसी भी ग्रन्थ का सामंजस्यपूर्ण अर्थ निर्धारित किया जा सके। इन नियमों की चर्चा हमने विशेष रूप से नहीं की है, पर यह ध्यान में रखने की बात है कि मीमांसा के द्वारा निर्धारित यह नियम करीब-करीब सब को मान्य थे और यही नहीं बाद में तो धर्म और व्यवहार शास्त्र जैसे ग्रन्थों के विषय में भी इसे लागू किया गया। व्यवहार का अर्थ कानून से होता है और कानून एक प्रकार से विधिनिषेधात्मक वाक्यों से ही बनते हैं और चूँकि मीमांसा ने विधिनिषेध वाक्यों के बारे में विशेष रूप से चर्चा की थी इसलिए उसका विचार इन क्षेत्रों में बहुत ही सार्थक सिद्ध हुआ।

ब्रह्म सूत्र के रचयिता के सामने भी यह समस्या थी कि श्रुति में आने वाले अनेक वाक्यों के बीच में समन्वय कैसे किया जाए और उनकी ब्रह्म-परक व्याख्या कैसे की जाय ? इसके लिए उन्होंने जो विधि अपनाई उस पर इतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना कि मीमांसा सूत्रों में इस विषय में अपनाई गई विधि के बारे में। पर यह भी उतने ही महत्व की है जितनी कि मीमांसा की अपनाई गई विधि। ब्रह्म सूत्र के रचयिता ने इस संदर्भ में दो मुख्य बातें की। एक तो उन्होंने केवल उपनिषदों को ही श्रुति विशेष माना। संहिता, ब्राह्मण, मंत्र ब्राह्मण आदि ग्रन्थों को नहीं, जैसा कि मीमांसा सूत्र के रचयिता ने किया था। दूसरी ओर उन्होंने यह कहा कि यदि भिन्न-भिन्न नाम से होने वाली संज्ञाओं के सभी गुण एक जैसे वर्णन किए गए हों तो उन संज्ञाओं के नाम अलग-अलग होते हुए भी वास्तव में वे जिसका वर्णन कर रहे हैं उनमें कोई भेद नहीं है। दार्शनिक भाषा में कहें तो अगर विशेषण एक समान है तो विशेष्य भी एक ही है, भिन्न-भिन्न नहीं, फिर चाहे उसका नाम अलग-अलग क्यों न हो ?

यह बात हमको इसलिए कहनी पड़ी क्योंकि उपनिषद् ग्रन्थों में अलग-अलग स्थान पर अलग-अलग चीजों को परम तत्व के रूप में बताया गया है कहीं वह प्राण है तो कहीं वायु और कहीं कुछ और। पर जब भी जिस किसी को भी परम तत्व के रूप में बताया गया है, तब उसका वर्णन एक ही प्रकार से किया गया है इसलिए उनका मत था कि इन तत्वों के भिन्न नाम होते हुए भी यह वास्तव में ब्रह्म का ही वर्णन कर रहे हैं क्योंकि इनके वर्णन में कोई अन्तर नहीं है। दूसरी ओर उन्होंने यह भी कहा कि संदर्भ को देखकर ही यह समझना चाहिए कि किसकी चर्चा हो रही है। अगर संदर्भ परम सत् या परम तत्व के बारे में है वहाँ ब्रह्म की चर्चा माननी चाहिए, चाहे उसका नाम कुछ भी दिया गया हो। इन दो सिद्धांतों के आधार पर उन्होंने अनेक परस्पर दिखने वाले वाक्यों में विरोध को हटाने की कोशिश की और यह बताया कि वास्तव में उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म ही है और उसका ज्ञान प्राप्त करना ही उनका चरम लक्ष्य है इसीलिए उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम **ब्रह्म सूत्र** रखा जिसको **शारीरक सूत्र** भी कहा है और उसका प्रारम्भ अपने पहले सूत्र में यह कहकर किया कि 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'।

ब्रह्म-सूत्र में जैमिनी का नाम आता है और **मीमांसा-सूत्रों** में बादरायण का नाम भी मिलता है इससे लगता है कि इन दोनों नामों से विख्यात व्यक्तियों का पता एक दूसरे को था और इसलिए यह सच होते हुए भी कि **ब्रह्म सूत्र** बाद में लिखे गये प्रतीत होते हैं, ऐसा मानने की कोई जरूरत नहीं है कि दोनों के रचयिताओं को एक दूसरे का पता नहीं था। दूसरी ओर यह भी कहा जा सकता है कि शायद जैमिनी और बादरायण कई लोगों के नाम थे और इसलिए यह मानने की कोई जरूरत नहीं है कि इन दोनों ग्रन्थों में से दोनों का नाम आने पर यह अनिवार्य रूप से सिद्ध हो जाता है ये नाम एक ही व्यक्ति को इंगित करते हैं। इस बात का फैसला तो अब असंभव ही है कि हम इन दोनों विकल्पों में से कौन-सा मानें। हाँ, इतना जरूर है कि इन नामों के साथ जो मत व्यक्त किए गए हैं। वे अगर एक से हों तो हम उनको एक ही व्यक्ति का मत मान सकते हैं। पर, यह विकल्प कोई विशेष मदद देता दिखाई नहीं देता क्योंकि एक ओर तो जैमिनी के मतों का पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया जाना और उनका खण्डन करना यह सिद्ध करता है कि मीमांसा सूत्र स्वयं जैमिनी के लिखे नहीं हो सकते, वहीं दूसरी ओर बादरायण के नाम से वर्णित व्यक्ति का मत मीमांसा सूत्र में यज्ञों के बारे में है, न की ब्रह्म के बारे में। और इसी प्रकार जैमिनी का मत जो **ब्रह्म सूत्र** में दिया गया है वह ब्रह्म के बारे में ही हो सकता है न कि यज्ञ के बारे में। इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैमिनी और बादरायण दो प्रसिद्ध व्यक्ति थे जिनके मत यज्ञ और ब्रह्म दोनों के बारे में थे, और जिनके मतों का एक दूसरे को ज्ञान था। पर इस सब से इस बात पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि जैमिनी के **मीमांसा सूत्र** वेदों की यज्ञ-परक व्याख्या करते हैं और **ब्रह्म सूत्र** ब्रह्म-परक। यही नहीं, वे वेदों के भिन्न-भिन्न अंशों को प्रधानता देते हैं एक ब्राह्मण ग्रन्थों को, तो दूसरा उपनिषदों को। इसके अलावा एक वाक्य का अर्थ क्रिया-प्रधान मानता है, तो दूसरा संज्ञा-प्रधान और इस तरह दोनों द्वारा किया गया 'अर्थवाद' भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। अर्थवाद का सिद्धांत यह कहता है कि किसको अभिधा के रूप में लेना चाहिए और किसको लक्षणा या व्यंजना के रूप में ? दूसरी तरह कहें तो क्या प्रधान है और क्या गौण, क्या मुख्य है और क्या आनुषंगिक।

इस प्रकार ये श्रुति के दो परस्पर विरोधी अर्थ लगाते हैं और उन दो धाराओं को जन्म देते है, जो मीमांसा और वेदान्त के नाम से जानी जाती हैं। मीमांसा ने वेदों की जो यज्ञ केन्द्रित व्याख्या की उसमें वेद के स्वरूप को ही यज्ञ से इतना सीमित कर दिया कि गीता जैसे ग्रन्थ में 'वेद' को इसका समानवाची या समानार्थक ही समझा गया है, और इसी रूप में उसकी निन्दा की गई । दूसरी ओर ब्रह्म-सूत्र ने वेदान्त की अनेक दर्शन धाराओं को जन्म दिया जिनमें भेद केवल ब्रह्म के स्वरूप को लेकर और उसके जीव और जगत के सम्बन्ध के बारे में है, पर इनमें 'यज्ञ' का कोई स्थान ही नहीं है।

यह सब होते हुए भी कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि वास्तव में इनमें कोई विरोध नहीं है और यह एक दूसरे के पूरक हैं एक का कर्म से सम्बन्ध है और दूसरे का ज्ञान से। और वे लोग यह भी कहते हैं कि ये दो अलग-अलग दिखने वाले ग्रन्थ वास्तव में अलग-अलग नहीं थे। बल्कि एक ही ग्रन्थ के दो भाग थे और इसको मिलाने वाला एक अन्य भाग था जिसको **संकर्षणकाण्ड** या **देवताकाण्ड** कहा गया।

और इस प्रकार यज्ञ, देवताओं की उपासना या पूजा और ब्रह्म की प्राप्ति या ब्रह्म का साक्षात्कार एक ही साधन के विभिन्न स्तर हैं जिनमें मनुष्य एक स्तर से दूसरे स्तर पर अपनी रूचि, गति और प्रवृत्ति के अनुसार अग्रसर होता है। इस संदर्भ में वे लोग कभी-कभी यह भी कहते हैं कि वेद ने स्वयं यह कहा है कि उसके अर्थ तीनों स्तरों पर लिये जा सकते हैं और यह तो सर्वविदित ही है कि उपनिषदों में अनेक प्रकार की उपासनाओं का वर्णन है। यही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों में भी 'यज्ञ' के बारे में अनेक जगह चिन्तन मिलता है और इस बात की चर्चा दिखाई देती है कि 'यज्ञ' का असली मतलब क्या है? और ऐसे भी प्रश्न उठाए जाते हैं कि अगर कोई विशिष्ट वस्तु किसी समय उपलब्ध न हो तो उसके स्थान पर क्या किया जाए। एक जगह तो याज्ञवल्क्य से यहाँ तक पूछा गया कि अगर कुछ भी न हो तो 'यज्ञ' कैसे किया जाए? **जैमिनीय ब्राह्मण** में इनका उत्तर इस प्रकार दिया बताया गया है कि अगर कुछ भी न हो तो 'सत्य' का श्रद्धा में त्याग करना चाहिए, वही असली और सही 'यज्ञ' है। डॉ0 मुकुन्द लाठ ने **उन्मीलन** पत्रिका में लिखे गए अपने लेखों में, इसकी ओर ध्यान दिलाया है और इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'यज्ञ' के गहरे अर्थों की खोज आदिकाल से ही प्रचलित थी । उस समय के ऋषि इस पर बहुत विचार करते थे। बाद के कुछ लोगों ने तो 'यज्ञ' को एक ऐसी क्रिया के रूप में देखा जो मनुष्य को विश्व से जोड़ती है, और इस क्रिया के द्वारा उस 'ऋत' का सहभागी बनाती है जो सृष्टि के अन्तराल में निहित है। प्रसिद्ध अमरीकी विद्वान डॉ0 फ्रिट्ज़ स्टाल ने अपनी वैदिक यज्ञों से सम्बन्धित नई पुस्तक में भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहा है।

पर यह सब सच होते हुए भी यह भी उतना ही सच है कि **मीमांसा सूत्र** और **ब्रह्म सूत्र** से उत्पन्न होने वाली दार्शनिक परम्पराओं में हमेशा मूलभूत मतभेद रहा है और इस मतभेद की कहानी कम से कम दो हजार साल पुरानी है। इस कहानी में दोनों परम्पराओं में अनेक दार्शनिक हुए हैं और उन्होंने एक दूसरे का खुलकर विरोध किया है और यही नहीं एक दूसरे के मत को एक

दूसरे का विरोधी माना है। दूसरी ओर 'यज्ञ' का अर्थ कुछ भी हो, यदि कोई 'यज्ञ' करना चाहता है तो वह 'यज्ञ' की विधि जानने वाले ब्राह्मणों को बुलाकर यज्ञ कराता है और यह भी निश्चित करता है कि वह कौनसा यज्ञ कराये। सोम यज्ञ कराए, या ज्योतिष्टोम कराए या दर्शपूर्णमास कराए या कोई और। जयपुर में जब जयसिंह ने अश्वमेध 'यज्ञ' कराने का फैसला किया तो उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखे गये चिन्तन की बात नहीं सोची पर सीधे-सीधे अश्वमेध यज्ञ की विधि के बारे में जो लिखा गया था उसी के अनुसार ऋत्विकों को बुलाया और उनके कहे अनुसार यज्ञ कराया। यही बात राजसूय यज्ञ आदि के बारे में भी है, इसलिए यज्ञ की बात करना और **श्रौत-सूत्रों, मीमांसा-सूत्रों** को भुला देना किसी और चीज की बात करना है; उस यज्ञ की बात करना नहीं है जो सब लोग करते-कराते हैं।

इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखने की बात है कि आज के भारत में कुछ लोग तो ऐसे हैं जिन्हें कहीं भी विरोध दिखाई नहीं देता या जो भारतीय परम्परा में आपस में विरोधी धाराएं हैं उनकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहते। वे तो बुद्ध को भी अवतार मान लेते हैं और बौद्धों के साथ डेढ़ हजार साल का जो वाद-प्रतिवाद था उसकी ओर नज़र डालने से इंकार करते हैं। वे लोग उपनिषदों में 'उपासना' की बात जरूर करते हैं पर यह भूल जाते हैं कि शंकर ने अपने **ब्रह्म सूत्र भाष्य** में उपासना को कर्म के रूप में मानकर उसका खण्डन किया और यह मानने से इंकार किया कि उससे ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

कहने का अर्थ यह है कि भारत की दार्शनिक परम्परा में **मीमांसा** और **ब्रह्म सूत्र** दो परस्पर विरोधी चिन्तन धाराओं के जन्मदाता हैं और उनके परस्पर विरोध को समझे बगैर हम इन दार्शनिक परम्पराओं को समझ ही नहीं सकते। यही नहीं इससे भी बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि **मीमांसा-सूत्र** अपने लिखे जाने के कुछ ही समय बाद प्रसिद्ध हो गया था। **ब्रह्म सूत्र** की चर्चा तो उसके लिखे जाने के सैकड़ों वर्षों बाद तक नहीं हुई । आमतौर पर, लोग ऐसा मानते हैं कि **ब्रह्म सूत्र** भारतीय दार्शनिक चिन्तन का केन्द्र-बिन्दु रहा है, पर सच तो यह है कि अपने लिखे जाने के बाद उस पर करीब 700 साल तक किसी ने कोई ध्यान नहीं दिया। सोचने की बात है कि साधारणतः **ब्रह्म सूत्र** की रचना ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास रखी जाती है और उस पर पहला भाष्य आचार्य शंकर ने 8 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लिखा था। इसके पहले उस पर न कोई भाष्य मिलता है और न उसकी कोई विशेष चर्चा। 700 साल तक यह ग्रन्थ दार्शनिक चिन्तकों की उपेक्षा का ही विषय रहा फिर भी आज यह हाल है कि विद्वान लोग भी इसको 'प्रस्थान-त्रयी' में गिनते हैं और यह मानते हैं कि इसके बराबर दार्शनिक महत्व का कोई अन्य ग्रन्थ भारत में लिखा ही नहीं गया। ऐतिहासिक झूठ' का विश्व साहित्य में इससे बड़ा और कोई उदाहरण नहीं हो सकता। **ब्रह्म सूत्र** के बाद जो पहला अन्य सूत्र-ग्रंथ लिखा गया वह है गौतम का **न्याय सूत्र**, जिसने भी एक नई चिन्तन की परम्परा का प्रारम्भ किया, पर जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि ये सूत्र ग्रन्थ पहले होते हुए भी, बड़े-लम्बे दार्शनिक चिंतन का परिणाम थे। इसलिए जहाँ दार्शनिक चिन्तन में एक ओर यह नये युग का प्रारम्भ करते हैं वहीं दूसरी ओर अपने से पहले के युग का समापन भी करते हैं। **मीमांसा सूत्र** और **ब्रह्म सूत्र** दोनों का प्रारम्भ 'अथातो धर्म जिज्ञासा'

और 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' से होता है। पर, गौतम के न्याय सूत्रों का प्रारम्भ इससे भिन्न है वे तो अपने सूत्रों का प्रारम्भ उन सब विषयों को गिनाकर करते हैं जो उनके सूत्र-ग्रन्थ का विषय है और जिनकी चर्चा वे आगे करेंगे। ब्रह्म सूत्र के बारे में उसके प्रारम्भिक सूत्र के पहले ही शब्द पर बहुत चिन्तन हुआ है कि आखिर 'अथ' का यहाँ अर्थ क्या है। लेकिन यह आश्चर्य की बात है कि **मीमांसा सूत्र** का प्रारम्भ भी 'अथ' शब्द से ही हुआ है, वहाँ उस परम्परा में इस पर कोई विशेष चिन्तन नहीं किया गया, और न ही किसी ने यह देखा कि अगर **ब्रह्म सूत्र** के 'अथ' के बारे में यह सब चर्चा हो सकती है तो वह **मीमांसा सूत्र** के 'अथ' के बारे में क्यों नहीं हो सकती ? अगर कोई ऐसा करता है तो उसे एकदम उस सब बहस की अर्थहीनता मालूम हो जाती है जो **ब्रह्म सूत्र** के 'अथ' को लेकर की गई है।

न्याय विचार

गौतम का **न्याय सूत्र** भारतीय दर्शन में तार्किक चिन्तन का मूल ग्रन्थ माना जाता है जिसे पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में तर्कशास्त्र कहते हैं। पर आश्चर्य की बात यह है कि जो लोग **न्याय सूत्र** की चर्चा करते हैं, वे **वैदल्य सूत्र** की बात भी नहीं करते, जैसे उसका गौतम के **न्याय सूत्र** से कुछ लेना-देना ही नहीं था। **वैदल्य सूत्र** प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन का लिखा हुआ ग्रन्थ माना जाता है। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसका किसी को पता ही नहीं हो, क्योंकि नागार्जुन की प्रसिद्धि के बारे में किसी को कोई संदेह नहीं है, और 'शून्यवाद' के प्रवर्तक होने के नाते उनकी दार्शनिक ख्याति सर्वविदित है। फिर भी भारतीय दर्शन के अधिकतर इतिहासकारों ने इन दो ग्रन्थों को एक दूसरे के संदर्भ में देखने की कोशिश भी नहीं की है, जबकि अगर कोई सरसरी नज़र से भी इनको एक साथ देखें तो आश्चर्यचकित हुए बगैर नहीं रह सकता, क्योंकि वे दोनों एक दूसरे का ब्यौरेवार खण्डन करते हुए प्रतीत होते हैं जिसको गौतम सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं उसी का नागार्जुन खण्डन करते हैं और यह बात वह उसी क्रमबद्ध रूप में करते हैं जिस क्रम में गौतम ने अपने पदार्थों को सिद्ध करने की चेष्टा की थी। इस तरह से देखने पर मालूम होता है कि अगर गौतम का **न्याय सूत्र** भारतीय दार्शनिक परम्परा में तर्कशास्त्र की शास्त्रीय संरचना में लगा हुआ है तो नागार्जुन का **वैदल्य सूत्र** यह दिखाने की कोशिश में लगा प्रतीत होता है कि प्रमाण शास्त्र जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती। प्रमाण की बात करना ही बेकार है क्योंकि उसके मूल में यह भ्रान्ति है कि कोई तर्क किसी भी बात को प्रमाणित कर सकता है। प्रमाण शास्त्र की संभावना का इतना बड़ा खण्डन दर्शन के इतिहास में किसी भी अन्य दार्शनिक परम्परा में नहीं मिलता। और अगर हम इस बात पर ध्यान दें कि यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन के प्रारम्भ में ही रचा गया था तो हमारे बौद्धिक आश्चर्य की सीमा ही नहीं रहेगी। एक ओर जहाँ गौतम न्याय शास्त्र की संरचना करते हैं और उसके द्वारा शुद्ध तर्कशास्त्र की स्थापना का प्रयत्न करते हैं, वहीं बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन इस शास्त्र की संभावना पर ही मूलभूत आघात करते हैं और यह कहते प्रतीत होते हैं कि बुद्धि के द्वारा या परोक्ष के द्वारा भी, किसी भी बात की अकाट्य स्थापना नहीं की जा सकती। यह कहना कठिन है कि इन दोनों ग्रन्थों में कौन पहले लिखा गया, कुछ लोगों का ऐसा भी मत है कि **वैदल्य सूत्र** स्वयं नागार्जुन द्वारा रचित नहीं है और उनके बाद किसी अन्य बौद्ध

दार्शनिक द्वारा लिखे गये हैं। लेकिन **वैदल्य-सूत्र** को लिखने वाला कोई भी हो इसमें कोई भी संदेह नहीं किया जा सकता कि वह शून्यवाद की परम्परा में लिखा गया है, जिसके जन्मदाता स्वयं नागार्जुन समझे जाते हैं। परन्तु इस ग्रंथ का रचयिता कोई भी हो उसने इस ग्रंथ में न्याय सूत्र का खण्डन किया है। दूसरी ओर अगर यह मानें कि **वैदल्य सूत्र** पहले लिखा गया था तो यह मानना पड़ेगा कि गौतम ने **न्याय सूत्र** में नागार्जुन के जवाब में प्रमाण शास्त्र की तर्कसंगत स्थापना करने की कोशिश की थी। गौतम अपने न्याय सूत्रों में बौद्ध मतों का तो खण्डन करते प्रतीत होते हैं पर यह कहना मुश्किल है कि वे मत किन बौद्ध दार्शनिकों के हैं। हालांकि वह किसी बौद्ध दार्शनिक का नाम नहीं लेते उन्होंने स्पष्ट रूप में इस मत का खण्डन किया है कि प्रमाणों से कुछ सिद्ध ही नहीं किया जा सकता, और यह मत नागार्जुन का था। जो कुछ भी हो इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन जब तक नहीं किया जाएगा तब तक हम इनको पूरी तरह नहीं समझ पाएंगे।

अगर हम **वैदल्य सूत्र** की बात भुला भी दें तो भी ऐसा लगता है कि भारतीय दर्शन के इतिहासकार, ग्रन्थों को एक दूसरे के संदर्भ में देखने की कोशिश ही नहीं करते क्योंकि अगर वे ऐसा करते तो यह बात कैसे समझ में आयेगी कि न्याय सूत्रों को **मीमांसा सूत्र** के परिप्रेक्ष्य में देखा ही नहीं गया है जबकि वे उस सूत्र में प्रतिपादित मतों का स्पष्ट रूप में खण्डन करते हैं। **मीमांसा सूत्र** गौतम के न्याय सूत्रों से पहले रचे गए हैं ऐसा सब लोग मानते हैं, फिर अगर हम न्याय सूत्रों में मीमांसा सूत्र में प्रतिपादित सिद्धांतों का खण्डन पाते हैं तो यह साफ जाहिर होता है कि गौतम अपने से पहले प्रतिपादित मतों का विरोध कर रहे हैं और उन्हें गलत मानते हैं। यही नहीं, उन सिद्धांतों को अस्वीकार करने के लिए वे अनेक तर्क प्रस्तुत करते हैं और ऐसा लगता है कि उनके लिए यह खण्डन बहुत महत्व का क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो वे अपने ग्रन्थ में इन विषयों पर इतने अधिक सूत्र नहीं लिखते। यह बात केवल संख्या की ही नहीं है इससे भी गहरी बात तो यह है कि अपनी तार्किक स्थापनाओं के संदर्भ में उनको इस विवाद में पड़ने की कोई विशेष आवश्यकता ही नहीं थी। **मीमांसा सूत्र** का रचयिता 'शब्द' के 'अपौरुषेयत्व' और 'नित्यत्व' को स्वीकार करता है क्योंकि इसी आधारशिला पर वह वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने की कोशिश करता है। इसके विपरीत गौतम न 'शब्द' के 'अपौरुषेयत्व' को मानते हैं और न उसके 'नित्यत्व' को। अब बताइए कि उन्होंने इस विषय में जो विशद् चर्चा की है उसका लक्ष्य क्या वेद की प्रामाणिकता का खण्डन करना नहीं था ? थोड़ा भी विचारने पर यह साफ होता है कि उनका और कोई उद्देश्य हो ही नहीं सकता था, क्योंकि शब्द के इन पहलुओं पर चर्चा अन्यथा अनावश्यक थी।

यह ठीक है कि गौतम ने 'शब्द प्रमाण' को स्वतंत्र रूप में स्वीकार किया और यह भी सच है कि उन्होंने वेद की अप्रामाणिकता का अपने सूत्रों में खण्डन किया है। पर अगर कोई जरा भी ध्यान से देखें तो उसे पता चलेगा कि ये दोनों बातें वास्तव में वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए नहीं बल्कि उसे 'अशब्द' करने के लिए ही की गई है। ऊपर से देखने पर तो ऐसा दिखाई देता है कि वे वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में लगे हुए हैं, पर जिस तरह से वे इस कोशिश में लगे हुए हैं वह वास्तव में उस प्रामाणिकता की जड़ें ही उखाड़ती है, उसे स्थापित नहीं

करती। 'शब्द' का लक्षण ही वे इस प्रकार देते हैं कि वेद 'अपौरुषेय' नहीं होकर, किसी आप्त पुरुष का वचन मात्र रह जाता है। यही नहीं, आप्त पुरुष का उदाहरण देते वक्त वह वेद की पूरी जड़ें ही खोद देते हैं क्योंकि वहाँ उनका उदाहरण आयुर्वेद है। और, जैसा सब को पता है आयुर्वेद के जानकार कितने 'प्रामाणिक' होते हैं। एक वैद्य या एक डॉक्टर दूसरे वैद्य या डॉक्टर रोग के बताये गये निदान से भिन्न-भिन्न निदान कर सकता है और अलग-अलग दवाई दे सकता है। यही नहीं बीमारी में फायदा होगा या नहीं इसका भी कोई भरोसा नहीं है। अगर वेद की प्रामाणिकता ऐसी ही है, तो फिर सोचिए यह कैसी प्रामाणिकता है पर गौतम वेद के संदर्भ में इसी 'प्रामाणिकता' की बात करते हैं और इसी रूप में 'प्रामाणिकता' को सिद्ध करते हुए असल में यही कहते हैं, उनमें कोई ख़ास 'प्रामाणिकता' नहीं है। जैसी प्रामाणिकता और जगह मिलती है वैसी ही वहाँ भी मिलती है। मीमांसा सूत्रों ने इसी से बचने के लिए वेद के अपौरुषेयत्व की बात की थी और शब्द के नित्यत्व की। पर गौतम को यह सब गलत लगा। और उन्होंने अपने **न्याय सूत्र** में इसका खुलकर जोरदार खण्डन किया। लेकिन 2000 साल से भी अधिक पहले **न्याय सूत्र** पर लिखने वाले भाष्यकारों ने इस ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया, क्योंकि यदि वे ऐसा करते तो उन्हें बड़ी परेशानी का सामना करना पड़ता, जिससे वे बचना चाहते थे। आज भी भारतीय दर्शन के इतिहासकार ऐसा ही करते प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने भी गौतम के **न्याय सूत्र** के इस पक्ष को नज़रअंदाज ही किया है।

गौतम के **न्याय सूत्र** केवल वेद की प्रामाणिकता पर ही इस तरह प्रश्नचिह्न नहीं लगाता बल्कि वह तर्कशास्त्र के मूलभूत विषयों का निःश्रेयस या अपवर्ग से भी सम्बन्ध दिखाने की चेष्टा करता है, और इस प्रकार उस मूलभूत प्रश्न को जन्म देता है जो तर्कनिष्ठ बुद्धि और मोक्ष के संबंधों के बारे में उठता है। उनके प्रथम सूत्र के अनुसार प्रमाण-प्रमेय व्यापार के द्वारा तत्व ज्ञान की सिद्धि होती है और इस तत्व ज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। यहाँ दो प्रकार के भिन्न-भिन्न सम्बन्धों की बात की गई है। एक प्रमाण-प्रमेय व्यापार से तत्वज्ञान प्राप्ति की बात और दूसरे तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति। यह दोनों सम्बन्ध किस प्रकार के हैं, और इनमें क्या भेद है इस पर कोई विशेष चर्चा नहीं हुई है। हाँ, इतना अवश्य है कि वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इस बात की चर्चा जरूर की है कि सूत्र में तत्वज्ञान का निःश्रेयस से सम्बन्ध बताने के लिए पंचमी विभक्ति का प्रयोग किया गया है। और इससे क्या समस्या उत्पन्न होती है। लेकिन इस पर भी ऐसा लगता है कि बाद के लिखने वालों ने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। जहाँ तक प्रमाण-प्रमेय व्यापार से तत्वज्ञान की प्राप्ति का प्रश्न है, उसकी तो वात्स्यायन ने भी चर्चा नहीं की, बाद के लिखने वालों की तो बात ही क्या है ? हाँ एक सवाल वात्स्यायन ने जरूर पूछा है, वह यह कि निःश्रेयस की प्राप्ति तो उन सब पदार्थों के ज्ञान के बिना भी हो सकती है जो प्रथम सूत्र में गिनाये गये हैं, और अगर ऐसा है तो फिर इन पदार्थों के ज्ञान की आवश्यकता क्या है? इसका भी उन्होंने कोई सीधा उत्तर नहीं दिया प्रतीत होता है। वे केवल यह कहकर बात टाल देते हैं कि न्याय की विशेषता इन पदार्थों की चर्चा में ही है, इस बात में नहीं कि उससे निःश्रेयस या मोक्ष की प्राप्ति होती है।

तर्कनिष्ठ बुद्धि जो प्रमाण प्रमेय व्यापार में प्रवृत्त होती है और उससे तत्व ज्ञान को प्राप्त करने की चेष्टा करती है उसमें और जो चेतना की तर्कातीत अवस्था है और जिसको मोक्ष की स्थिति कहा जाता है उसमें क्या सम्बन्ध है ? इसकी विस्तृत चर्चा न वात्स्यायन ने की है और न बाद के लिखने वालों ने। पर जो लोग भारतीय दार्शनिक परम्परा में दर्शन और मोक्ष के अनिवार्य सम्बन्धों की बात करते हैं उनके लिए यह एक ऐसा मूलभूत प्रश्न है जिसे किसी भी तरह नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। न्याय सूत्र के रचयिता ने अपने बाद के अध्यायों में इसकी कुछ चर्चा अवश्य की है, पर वहाँ भी इसका कोई विस्तार से वर्णन नहीं है। उन्होंने तो केवल यह कहकर बात टाल दी थी कि बुद्धि का काम उन सब तर्कों का खण्डन करना है जो मोक्ष के मार्ग में बाधा बनते हैं और उससे इन काँटों को हटाकर मोक्ष के मार्ग को साफ रखना ही बुद्धि का काम है। पर दर्शन के बारे में तो यह दृष्टि नकारात्मक ही है, सकारात्मक नहीं। गौतम यह कहते वक्त भूल जाते हैं कि उन्होंने स्वयं प्रथम सूत्र में बुद्धि के प्रमाण-प्रमेय व्यापार से तत्व ज्ञान की प्राप्ति की बात की थी और अगर ऐसा है तो बुद्धि मोक्ष के मार्ग में एक अनिवार्य भूमिका अदा करती है क्योंकि उसके द्वारा ही तत्व ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा नहीं। पर जैसा हमने पहले कहा था कि गौतम के बताए हुए 16 पदार्थों में और तत्व ज्ञान में क्या सम्बन्ध है इसकी चर्चा तो न गौतम ने की है और न किसी अन्य ने। यही नहीं अगर हम उन 16 पदार्थों की ध्यान से परीक्षा करें जिनका वर्णन गौतम ने अपने प्रथम सूत्र में किया है तो हमें यह लगेगा कि वे सब तत्व ज्ञान की प्राप्ति में बराबर के सहभागी नहीं हो सकते।

गौतम जिन 16 पदार्थों के नाम अपने प्रथम सूत्र में गिनाते हैं वे हैं- प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रह-स्थान। पर ध्यान से देखने पर इनमें एक दूसरे से बहुत भेद प्रतीत होता है, और यह समझना मुश्किल है कि गौतम ने इन सब को एक साथ तर्कशास्त्र में कैसे सम्मिलित किया है। एक तरह से तो प्रमाण में ही सब कुछ आ जाता है क्योंकि यह शास्त्र वास्तव में प्रमाणों की प्रामाणिकता से ही सम्बन्ध रखता है। प्रमेय की चर्चा का इसमें कोई अलग से विशेष स्थान नहीं होना चाहिए उसकी ज़रूरत तभी हो सकती है जब कि कोई यह माने कि कुछ ऐसे प्रमेय है जो केवल कुछ प्रमाणों से ही जाने जा सकते हैं, अन्य प्रमाणों से नहीं। लेकिन **न्याय सूत्र** में इस प्रकार की कोई चर्चा नहीं दिखाई देती। हालांकि बाद में प्रमाण व्यवस्था और प्रमाण संप्लव के संदर्भ में कुछ इस तरह की चर्चा ज़रूर हुई है। लेकिन वहाँ भी प्रमेय भेद से प्रमाण भेद की चर्चा दिखाई नहीं पड़ती, यहाँ सिर्फ यही सवाल उठाया गया है कि क्या अलग-अलग प्रमाणों से हम एक ही प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते हैं या प्रत्येक प्रमाण हमको अलग-अलग तरह का ज्ञान देता है।

संशय की बात तो केवल इसी संदर्भ में की जा सकती है कि प्रमाण प्रमेय व्यापार इसकी पूर्वापेक्षा करता है क्योंकि यदि किसी को संशय ही नहीं हो तो वह प्रमाण प्रमेय व्यापार में क्यों प्रवृत्त होगा। लेकिन यह तो एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है जिसकी शुद्ध प्रमाण शास्त्र में चर्चा की आवश्यकता तभी मानी जा सकती है जब संशय स्वयं शुद्ध तार्किक रूप ले ले। लेकिन गौतम के प्रमाण शास्त्र में संशय का यह रूप दिखाई नहीं पड़ता। यही बात कुछ-कुछ प्रयोजन के बारे में

भी सत्य प्रतीत होती है क्योंकि यदि संशय को प्रमाण प्रमेय व्यापार का अनिवार्य अंग मान लिया गया है तो उस प्रक्रिया का प्रयोजन एक ही माना जा सकता है और वह यह है कि उस संशय का निवारण हो। किसी अन्य प्रयोजन को मानने का मतलब है कि संशय के बगैर भी मनुष्य प्रमाण प्रमेय व्यापार में प्रवृत्त हो सकता है। प्रयोजन के बाद दृष्टांत की बात तो और भी अज़ीब लगती है, यह ठीक है कि दृष्टांत का एक अपना विशिष्ट स्थान गौतम के तर्कशास्त्र में है और वह प्रमाण व्यापार के पाँच अवयवों में से एक है। पर यदि ऐसा है तो उसको अवयव का ही अंग मानना चाहिए और उसको अलग से स्वतंत्र पदार्थ मानने का कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता है। यही बात सिद्धांत पर भी लागू होती है क्योंकि यह समझ में नहीं आता कि सिद्धांत और निर्णय में क्या भेद है। तर्क के अलग से वर्णन का औचित्य केवल न्याय सिद्धांत के विशिष्ट संदर्भ में ही माना जा सकता है, वरना तो वह प्रमाण प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है।

लेकिन यह सब समस्याएं होते हुए भी वाद के पहले तक के सब पदार्थों का प्रमाण-प्रमेय व्यापार से सीधा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता है जबकि उसके बाद के आने वाले पदार्थ तो बिल्कुल भिन्न प्रकार के मालुम होते हैं। वाद, जल्प और वितण्डा में तो भेद ही मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है उसका प्रमाण प्रक्रिया के अन्तरंग व्यापार से कोई सम्बन्ध नहीं है। वाद में ऐसा कहा गया है कि मनुष्य सत्य की खोज करता है जबकि जल्प और वितण्डा में वह ऐसा नहीं करता। पर एक ओर तो इस भेद का प्रमाण प्रक्रिया से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, वहीं दूसरी ओर यह गौतम द्वारा पहले गिनाये पदार्थों पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। आखिर जो आज वितण्डा कर रहा है उसका प्रयोजन क्या है और वह प्रमाण प्रमेय व्यापार द्वारा किस संशय का निवारण ढूंढ़ता है और अगर बिना कुछ प्रयोजन या बेकार किसी संशय के निवारण हेतु प्रमाण प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है तो फिर गौतम को यह मानना पड़ेगा कि संशय या प्रयोजन उस प्रक्रिया की अनिवार्य पूर्वापेक्षा नहीं है। वितण्डा की बात नागार्जुन को लेकर हुई है, ऐसा प्रतीत होता है। वाद के सूत्रों में भी कई जगह उनके मतों की झलक दिखाई देती है, पर यदि कोई अपना सिद्धांत न रखते हुए भी किसी अन्य के सिद्धांत में दोष देखता है तो उसके इस दोष दिखाने को गलत कैसे कहा जा सकता है ?

वितण्डा के आगे के पदार्थ जहाँ एक ओर उन गल्तियों का वर्णन करते हैं जो साधारणत: प्रमाण-प्रमेय में उत्पन्न हो सकती हैं वहीं दूसरी ओर वे फिर उन सब बातों की ओर इशारा करते हैं जिनके द्वारा कोई वादी या प्रतिवादी गलत तरीकों से अपने मत की स्थापना करने की कोशिश करता है।

ऐसा लगता है कि गौतम ने इन पदार्थों की गणना में न तो मनोवैज्ञानिक बातों को शुद्ध तार्किक प्रश्नों से अलग किया और न ही उन समस्याओं से जो वाद-विवाद के दौरान मनुष्यों के बीच में उत्पन्न होती हैं। न्याय सूत्रों पर गहराई से ध्यान देने पर ऐसा पता चलता है कि उस समय तक इन बातों में कोई स्पष्ट भेद उत्पन्न ही नहीं हुआ था और यह भेद केवल वाद के चिन्तन में ही अलग-अलग हो पाए। लेकिन भारतीय तर्कशास्त्र के विकास में यह एक दूसरे से कितने अलग हो पाए यह खोज करने की बात है। प्रथम दृष्टि में तो ऐसा लगता है कि **न्याय सूत्र** को आदि रूप में

तर्कशास्त्र का प्रामाणिक ग्रन्थ मानने के कारण ही इन भेदों को अलग-अलग करने में बड़ी कठिनाई हुई होगी क्योंकि जब मूल ग्रन्थ में ही ये एक-दूसरे से इतने गहरे रूप में सम्मिलित हैं,तो यह उम्मीद करना कि बाद के लिखने वालों ने उनमें स्पष्ट भेद किया हो, मुश्किल ही प्रतीत होता है। फिर भी भारत में तर्क शास्त्र के इतिहास को इस दृष्टि से देखा जा सकता है कि उसमें **न्याय सूत्र** में गिनाए हुए पदार्थों पर किस प्रकार चर्चा हुई और उनमें से कौन धीरे-धीरे गौण होते गये और कौन चर्चा का मुख्य विषय बने। यही नहीं हमें यह भी देखना होगा कि वे पदार्थ जो चर्चा का मुख्य विषय बाद में बने उनमें क्या परिवर्तन हुआ।

गौतम के **न्याय सूत्र** के बाद जिस सूत्र की रचना मानी जाती है वह कणाद का **वैशेषिक सूत्र** है। इस सूत्र के बारे में भी वैसी ही समस्याएं हैं जो हमने अन्य सूत्रों के बारे में उठाई है। हाँ कणाद **मीमांसा सूत्र** और **ब्रह्म सूत्र** की तरह पहले सूत्र में ही अपने विषय की स्थापना करते हैं और यह कहते हैं कि मैं अपने सूत्रों में धर्म की व्याख्या करूंगा। लेकिन वे **मीमांसा सूत्र** या **ब्रह्म सूत्र** की तरह जिज्ञासा की बात नहीं करते,हालांकि उन्हीं की तरह अपने सूत्र का 'अथ' शब्द से प्रारम्भ करते हैं। गौतम ने अपने **न्याय सूत्र** का प्रारम्भ 'अथ' शब्द से नहीं किया था और न ही उन्होंने जिज्ञासा की बात की थी, हालांकि उन्होंने भी अपने प्रथम सूत्र में उन सब विषयों का वर्णन किया था जिनकी उन्होंने आगे अपने सूत्रों में विशद रूप में चर्चा की है। इसके अलावा एक विशेष बात जो ध्यान देने की है वह यह कि गौतम अपने **न्याय सूत्र** में तत्व ज्ञान की बात करते हैं और उस तत्व ज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति की भी बात करते हैं, वह यह नहीं कहते कि वे उन्हीं विषयों का प्रतिपादन कर रहे हैं जिसके बारे में **मीमांसा सूत्र** या **ब्रह्म सूत्र** में पहले ही चर्चा की जा चुकी है, और चूंकि उन्होंने नि:श्रेयस की बात कही है इसीलिए बाद के व्याख्याकारों ने यह प्रश्न उठाया था कि नि:श्रेयस तो अन्य प्रकार से भी मिल सकता है, इसके लिए इस सब प्रमाण-प्रमेय व्यापार की क्या जरूरत है ? इसका उत्तर साधारणत: यह कहकर दिया जाता है कि न्याय सूत्र का वैशिष्ठ्य किसी प्रमाण-प्रमेय की चर्चा में ही है, इसके द्वारा नि:श्रेयस की प्राप्ति में नहीं। पर यह उत्तर अज़ीब-सा है क्योंकि गौतम ने प्रमाण-प्रमेय व्यापार का तत्व ज्ञान से सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की है और तत्व ज्ञान के द्वारा ही नि:श्रेयस की प्राप्ति की बात कही है। परन्तु इस संदर्भ में यह स्पष्ट नहीं है कि क्या **प्रमाण-प्रमेय** द्वारा तत्व ज्ञान अनिवार्य रूप से प्राप्त करता है और अगर वह प्राप्त भी होता है तो क्या वह एक ही तरह का है और फिर उस तत्व ज्ञान द्वारा नि:श्रेयस की प्राप्ति किस प्रकार होती है ? प्रमाण-प्रमेय व्यापार द्वारा तो अनेक प्रकार के ज्ञान की सिद्धि होती है परन्तु क्या सब को तत्व ज्ञान कहा जा सकता है, और कहा जा सकता है तो क्या उन सब के द्वारा नि:श्रेयस की प्राप्ति हो सकती है ? इस प्रकार के प्रश्न उठाए नहीं गए हैं, लेकिन इनसे मिलती जुलती एक समस्या,वात्स्यायन ने अवश्य उठाई थी परन्तु उस पर भी अधिक ध्यान नहीं दिया गया है वह समस्या यह थी की प्रथम सूत्र के अंत में 'पदार्थानां तत्वज्ञानात् नि:श्रेयाधिगम:' कहा गया है जिसका साधारण अर्थ यह होता है कि इन पदार्थों के तत्वज्ञान से नि:श्रेयस की प्राप्ति होती है। अगर सूत्र को इस प्रकार से समझा जाए तो उसका मतलब यह होगा कि इन 16 पदार्थों के सही ज्ञान से ही नि:श्रेयस मिलता है, और तत्वज्ञान का अर्थ यहाँ उन 16 पदार्थों के सही स्वरूप

को समझना ही हो सकता है, कुछ अन्य नहीं। उद्योत्कर ने अपने **वार्तिक** में इस सूत्र की व्याख्या करते हुए यह कहा है कि प्रत्येक विद्या का अपना अलग निःश्रेयस होता है और उस विद्या से जिस विशिष्ट क्षेत्र का ज्ञान प्राप्त होता है वही उसका तत्वज्ञान है। इस संदर्भ में उन्होंने वार्ता, दण्ड-नीति आदि के उदाहरण दिये हैं और यह कहा है कि वार्ता नाम की विद्या का निःश्रेयस धन-लाभ आदि है, जबकि दण्ड-नीति का निःश्रेयस पृथ्वी-जय है और मीमांसा का स्वर्ग प्राप्ति। उनके मत में मोक्ष केवल आत्म-विद्या का ही निःश्रेयस है। लेकिन अगर इस उद्योत्कर की बात को स्वीकार करें तो न्याय का निःश्रेयस मोक्ष तो कभी भी नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विषय तो प्रमाण-प्रमेय आदि पदार्थों का तत्वज्ञान है, न कि आत्मा का। हाँ, आत्मा एक प्रमेय ज़रूर है, परन्तु प्रमेय केवल एक ही नहीं है और भी अन्य प्रमेय हैं। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि न वात्स्यायन के प्रश्न पर और न उद्योत्कर ने अपने **वार्तिक** में जो कहा है, उस पर बाद में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। ऐसा लगता है कि बाद के नैयायिकों को इस प्रकार की चर्चा परेशानी उत्पन्न करने वाली लगी इसलिए उस पर उन्होंने ध्यान न देना ही अच्छा समझा। यह ठीक है कि गौतम ने अपने दूसरे सूत्र में निःश्रेयस के सम्बन्ध में एक अवान्तर चर्चा की है और उसको भी अपने ग्रन्थ का प्रधान विषय बताने की कोशिश की है हालांकि उन्होंने उसमें उसे अपवर्ग का नाम दिया है। पर, पहले और दूसरे सूत्र में प्रत्यक्ष विरोध है और ग्रन्थ के इन दो अलग-अलग उद्देश्यों में संगति या सामंजस्य बिठाना मुश्किल है।

लेकिन यह सब ठीक होते हुए भी गौतम ने वह नहीं किया था जो कणाद खुलकर करते हैं। वे अपने सूत्रों का उद्देश्य 'धर्म' की व्याख्या करना बताते हैं। पर, धर्म की व्याख्या तो **मीमांसा सूत्र** के रचयिता पहले ही कर चुके थे फिर उन्हें दुबारा इस विषय पर चर्चा की ज़रूरत क्यों पड़ी? साफ है कि उन्हें मीमांसा सूत्रों के रचयिता की धर्म की व्याख्या पसन्द नहीं थी और इसलिए उन्होंने उसी विषय पर अपनी अलग और स्वतंत्र व्याख्या देने की कोशिश की। यह एक खुली चुनौती थी। और यह अचम्भे की बात है कि दो हज़ार साल के लम्बे इतिहास में इसको इस रूप में नहीं देखा गया। व्याख्याकारों ने तो घूम-फिरकर वैशेषिक सूत्रों को वैदिक परम्परा में रखने की कोशिश की। यही नहीं उन्होंने तो सभी अलग-अलग सूत्र ग्रन्थों में चाहे वे मीमांसा के, न्याय के, वैशेषिक के या किसी और के हों, उनमें किसी न किसी तरह समन्वय स्थापित करने का सतत् प्रयास किया, कणाद धर्म का जो लक्षण देते हैं वह भी **मीमांसा सूत्र** के लक्षण से अलग है पर आश्चर्य की बात यह है कि वह अपने सूत्रों में धर्म का सीधा लक्षण न बताकर उसका लक्षण कुछ इस प्रकार बताते हैं कि 'धर्म' वह है जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अभ्युदय शब्द का शायद सूत्र ग्रन्थों में पहली बार प्रयोग हुआ है। यही नहीं उसको निःश्रेयस या मोक्ष के समकक्ष माना गया है, और यह कहा गया है कि 'धर्म' वह है जिसके द्वारा दोनों की सिद्धि होती है, केवल एक ही की नहीं। अब, अगर किसी 'धर्म' के द्वारा केवल निःश्रेयस की प्राप्ति हो तो कणाद के अनुसार वह 'धर्म' नहीं कहला सकता क्योंकि 'धर्म' वही हो सकता है जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की ही प्राप्ति हो। दूसरी ओर अगर केवल अभ्युदय की ही प्राप्ति हो तो भी उनके अनुसार वह सच्चा धर्म नहीं

हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि यह उन्होंने मीमांसा सूत्र और **ब्रह्म सूत्र** दोनों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए किया था क्योंकि मीमांसा सूत्र धर्म के द्वारा केवल अभ्युदय की प्राप्ति की ही बात करता है जबकि **ब्रह्म सूत्र** का रचयिता ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति की बात करता है। पर क्या कणाद किसी ऐसे धर्म की बात कर रहे हैं जो **मीमांसा सूत्र** की तरह अभ्युदय भी दिलाता है और **ब्रह्म सूत्र** की तरह निःश्रेयस भी। जो लोग ऐसा कहते हैं उन्हें थोड़ा आश्चर्य होना चाहिए कि 'धर्म' से उनका अर्थ न तो यज्ञ से है और न ब्रह्म ज्ञान से। वे तो पदार्थ ज्ञान की ही बात करते हैं और उनके लिए ही ये सब पदार्थ उन जैसे पदार्थों में समाहित है जिनको द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि के नाम से जाना जाता है। अब सोचिए कि यह पदार्थ ज्ञान कैसा है? यह न यज्ञ का ज्ञान है और न ब्रह्म का। फिर भी कणाद के अनुसार इनका ज्ञान ही 'धर्म' का ज्ञान है और यही वह ज्ञान है जो अभ्युदय और निःश्रेयस देता है। मीमांसा सूत्र और ब्रह्म सूत्र से कोई चर्चा इतनी विलग हो सकती है, कोई सोच भी नहीं सकता। पर ऐसा लगता है भारतीय दर्शन के इतिहासकारों पर कोई कुछ भी कहे, जूँ तक नहीं रेंगती। वे तो आँखें बन्द किए इन सब को ऐसे गद्गद् भाव से देखते हैं जैसे इन सबमें कोई अन्तर्विरोध ही नहीं है और सब कुछ 'आनन्दमय' है।

गौतम ने अपने न्याय सूत्र में अभ्युदय की बात नहीं कही थी, पता नहीं क्यों? वे तो केवल तत्वज्ञान और निःश्रेयस की बात करते हैं, धर्म की चर्चा नहीं। और कम से कम अपने प्रमाणों में 'शब्द' को सम्मिलित करते हैं, हालांकि वह 'शब्द' का जो लक्षण देते हैं वह उसे **मीमांसा सूत्र** और **ब्रह्म सूत्र** के 'शब्द' से बिल्कुल अलग करता है। उनके लिए 'शब्द' प्रमाण का अर्थ न वेद की यज्ञपरक व्याख्या से सम्बन्धित है और न ब्रह्म केन्द्रित व्याख्या से। वे न यज्ञों की बात करते हैं और न उन महावाक्यों की जिन पर उपनिषदों की ब्रह्मपरक व्याख्या आधारित है। फिर भी कम से कम वे वेदों की प्रामाणिकता की बात तो करते हैं और शब्द प्रमाण की भी। कणाद यह सब भी नहीं करते। वे 'शब्द' प्रमाण को स्वतंत्र प्रमाण नहीं मानते। लेकिन गौतम की तरह निःश्रेयस की बात ज़रूर करते हैं और आश्चर्य की बात यही है कि वे ऐसा क्यों करते हैं?

वैशेषिक सूत्र के बारे में बहुत-सी बातें हैं जिनमें से दो-तीन बातों की चर्चा यहाँ आवश्यक है। पहली तो यह कि जैसा सर्वविदित है कि वैशेषिक परम्परा में सातवाँ पदार्थ जिसका नाम अभाव था, बाद में संकलित किया गया और सब के द्वारा स्वीकृत हुआ, यह अपने आप में आश्चर्य की बात है, क्योंकि साधारण तौर पर सूत्र ग्रन्थों को इतनी प्रामाणिक मान्यता दी जाती है कि उनमें किसी को कोई तब्दीली करने का साहस ही नहीं हो सकता था, और अगर ऐसा हुआ है तो फिर उन ग्रन्थों को परम्परा में किस रूप में देखा जाता था? इस विषय में हमें अपने मत में आमूल परिवर्तन करना होगा, क्योंकि अगर उनमें परिवर्तन किया जा सकता था तो वे कभी उस तरह के 'प्रामाणिक' ग्रन्थ नहीं माने जाते थे, जिस रूप में हम आज उन्हें स्वीकार करते हैं।

दूसरी बात सूत्र 1.1.4 के सम्बन्ध में ही है जिसमें ऐसा माना जाता है कि कणाद ने उन छः पदार्थों की चर्चा की थी जिनके द्वारा उस 'धर्म' की प्राप्ति होती थी जिसके द्वारा अभ्युदय और निःश्रेयस मिलते थे। ऐसा कहा गया है कि **वैशेषिक सूत्र** की कुछ पाण्डुलिपियों में और उन पर

लिखी कुछ टीकाओं में वह सूत्र मिलता ही नहीं है, जिसमें कणाद ने उन छः पदार्थों की चर्चा की थी जो द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि के नाम से जाने जाते हैं और जिनमें बाद में 'अभाव' को सातवें पदार्थ के रूप में शामिल किया गया था। अगर यह सच है तो यह और भी आश्चर्य की बात है क्योंकि वैशेषिक शास्त्र के मूलभूत आधार ये छः पदार्थ ही माने जाते हैं, पर अगर यही बाद में जोड़े गए हैं तो इस सूत्र ग्रन्थ को किस रूप में लिया जाए इससे बड़ी समस्या और क्या हो सकती है ?

असल में **वैशेषिक सूत्र** का मसला ही और है वह तो एक तरह से यज्ञ, ब्रह्म या आत्मा के बारे में न होकर उन मूल तत्वों के बारे में चिन्ता करता दिखाई देता है जिनसे विश्व के विभिन्न पदार्थों की रचना हुई है। अपने अणु सिद्धांत के लिए वह प्रसिद्ध है और इसी से यह मालुम होता है कि आत्मा आदि के बजाय उसकी दृष्टि उन मूल तत्वों को खोजने में लगी थी जिनके आपसी संबंधों के द्वारा ही इस जगत के विविध पदार्थों की रचना हुई है। ऐसा चिन्तन अनेक संस्कृतियों में हुआ है और ग्रीक दर्शन के प्रसिद्ध चिन्तक ल्यूसीपस और डेमोक्रिटस का नाम इसी संदर्भ में लिया जाता है। वह भी 'अणुवादी' कहलाते हैं।

तत्वचिन्तन का प्रादुर्भाव और उसके विभिन्न आयाम

भारतीय दार्शनिक परम्परा में तत्व चिन्तन सांख्य परम्परा में विशद रूप से हुआ था और ऐसा लगता है कि कणाद का दार्शनिक चिन्तन उसी का विकल्प है जो भी हो वैशेषिक तत्व चिन्तन और सांख्य के तत्व चिन्तन को एक साथ देखना चाहिए । क्योंकि उनकी आपस में तुलना करके ही भारतीय तत्व चिन्तन की परम्परा को एक दूसरे रूप में समझा जा सकता है। यही नहीं अगर यह बात ठीक है कि वैशेषिक सूत्र के प्रथम अध्याय का चौथा सूत्र बाद का लिखा हुआ है तो इससे ऐसा लगता है कि पहले अनेकानेक तत्वों की चर्चा हुई थी और फिर बाद में उनको विभिन्न कोटियों में बाँटकर इन छः कोटियों को गिनाया गया था।

इस सम्बन्ध में वास्तव में सत्य क्या है, यह कहना मुश्किल है पर इतना तो साफ ही है कि वैशेषिक सूत्र विस्तार से उन आधारभूत विभिन्न तत्वों की चर्चा करता है, जिन्हें वे इन छः कोटियों में रखते हैं। और दार्शनिक दृष्टि से ये कोटियाँ ही महत्व की हैं, न कि वे विशिष्ट तत्व जो इन कोटियों में आते हैं , जो है या जिसकी सत्ता है, वह या तो द्रव्य होगा या गुण होगा या कर्म होगा क्योंकि संसार में तीन प्रकार की ऐसी ही सत्तावान चीजें मिलती हैं। असल में देखा जाय तो जो हमें मिलता है वह या तो गुण है या कर्म। और हम चूँकि यह मानकर चलते हैं कि गुण या कर्म स्वतंत्र रूप में नहीं रह सकते इसलिए हमें किसी द्रव्य को मानने की जरूरत महसूस होती है जिसमें उनकी सत्ता मानी जाय। बौद्ध दार्शनिकों ने 'द्रव्य' के प्रत्यय का खण्डन किया था और यह कहा था कि उसको मानने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि जो हमें अनुभूत होता है वह तो गुण है या कर्म। 'कर्म' से यहाँ मतलब उस गत्यात्मकता से है जो सब जगह दिखाई देती है। उसी से परिवर्तन होता है, वस्तुएं अपना स्थान बदलती हैं और कर्म हर परिवर्तन के आधार में सदैव विद्यमान रहता है।

'द्रव्य' के प्रत्यय को लेकर पश्चिमी दर्शन में भी चिन्तन हुआ है और इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध अनुभववादी दार्शनिक जॉन लॉक उसकी अनिवार्यता को गुणों के आधार रूप में स्वीकार करते हुए यह कहते हैं कि वह वास्तव में क्या है इसके बारे में हम कुछ भी नहीं जान सकते क्योंकि जो भी हम जानते हैं वह केवल गुण मात्र होता है। इसी संदर्भ में एक ऐसे आन्तरिक द्रव्य की कल्पना की गई जो हमारे सारे मानसिक गुणों और प्रक्रियाओं का आधार है और जिसे साधारणतः 'आत्मा' कहा जाता है। जहाँ भी ऐसे गुण या क्रियाएं दिखाई देती हैं जो किसी चेतना की पूर्वापेक्षा करती हैं, वहीं हम किसी ऐसे द्रव्य की कल्पना करते हैं, जिसका चेतना अनिवार्य गुण हो, दूसरी ओर वे सब द्रव्य जड़ प्रतीत होते हैं जो अन्य गुण या क्रियाओं का आधार नज़र आते हैं। इस प्रकार जड़ और चेतन का भेद हर दार्शनिक चिन्तन में किया गया है। पश्चिमी दर्शन में लॉक के बाद प्रसिद्ध अंग्रेज दार्शनिक बर्कले ने जड़ द्रव्य की सत्ता मानने की अनिवार्यता से इंकार किया और कहा कि ऐसी चीज़ को मानने की क्या जरूरत है जिसके बारे में हम कुछ जान ही नहीं सकते। लेकिन उसने भी चेतना के आधारभूत आन्तरिक द्रव्य को माना था, क्योंकि उसके विचार में जड़ द्रव्य की कल्पना विसंगतियों से भरी थी। बर्कले के बाद इंग्लैण्ड के ही प्रसिद्ध दार्शनिक ह्यूम ने इस चेतन द्रव्य को मानने की अनिवार्यता को भी अस्वीकार किया और कहा कि अगर जड़ जगत के क्षेत्र में किसी द्रव्य को आधारभूत मानने की वैचारिक अनिवार्यता नहीं है, तो मानसिक जगत में वह क्यों स्वीकार की जाय ?

लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में केवल बौद्धों ने ही द्रव्य की सत्ता को मानने से इंकार किया है, शेष करीब-करीब सब लोगों ने उसकी सत्ता को स्वीकार किया है। लेकिन इस पक्ष पर विचार नहीं किया कि उसे मानने की मजबूरी हमारी वैचारिक प्रक्रिया की मजबूरी है, या वास्तव में ही वह अपने आप में स्वतंत्र रूप में विद्यमान है। एक तरह से 'द्रव्य' का विचार 'अवयवी' के विचार से जुड़ा हुआ है क्योंकि यदि हम केवल अवयवों को ही सत्य मानें और 'अवयवी' को परिकल्पना मात्र, तो फिर द्रव्य को मानने की आवश्यकता शायद नहीं रहेगी। बौद्धों ने दोनों का ही परित्याग किया था, लेकिन अन्य दार्शनिकों ने इन दोनों प्रत्ययों के आपसी सम्बन्धों पर कोई विचार नहीं किया है। पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में तो अवयवी के विचार पर कोई विशेष ध्यान दिया ही नहीं गया प्रतीत होता है। लेकिन अवयवी के विचार को केवल परिकल्पना मान लेने पर यह समस्या उठती है कि 'अवयव' किसे माना जाय क्योंकि जिस किसी को भी 'अवयव' स्वीकार करेंगे, वह भी 'अवयवी' का रूप ही ले लेगा क्योंकि उसके भी अन्य अवयव होंगे। 'अवयवहीन अवयवी की कल्पना करना कठिन है और ऐसे अवयव की कल्पना करना जो स्वयं अवयवी नहीं हो और भी मुश्किल प्रतीत होता है, इसी कठिनाई से बचने के लिए **वैशेषिक सूत्र** के रचयिता कणाद ने अणु या परमाणु की कल्पना की जिसके स्वयं के कोई अंश नहीं होते, न जिसका विभाजन ही किया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन की परम्परा में उन्होंने 'अणुवाद' को जन्म दिया। ऐसा साधारणतः माना जाता है, लेकिन बौद्ध दार्शनिकों ने इसी के कुछ-कुछ अनुरूप 'स्वलक्षण' के सिद्धांत को माना था। इस सिद्धांत के अनुसार अंतिम सत्ता क्षणिक थी और उसके ही क्षण-क्षण प्रवाहमान, सतत् उदीयमान और सतत् नष्ट होनेवाले

क्षणों को संघात रूप में मानकर ही हम वस्तुओं की कल्पना करते हैं और उनको स्थायित्व प्रदान करते हैं। पर इन क्षणिक सत्ताओं में आपस में सम्बन्ध किस प्रकार होता है और कौन करता है, इसकी चर्चा उन्होंने नहीं की प्रतीत होती है। इसके विपरीत कणाद का परमाणु स्थायी है और देश में स्थित है। वह नष्ट नहीं होता लेकिन वह किन शक्तियों के द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध होकर जगत की विभिन्न वस्तुओं को बनाते हैं। इस पर कणाद ने विशेष ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है। ग्रीस की दार्शनिक परम्परा में एक अणुवादी चिन्तक एम्पीडोक्लीज़ ने उन शक्तियों को जो परमे परमाणुओं को आपस में मिलाती हैं और फिर एक दूसरे से विलग करती हैं, राग और द्वेष के रूप में देखा था। लेकिन इन प्रत्ययों में मानसिकता की झलक दिखाई देती है, इसलिए जड़ जगत के शुद्ध परमाणुवादी चिन्तन ने इन शक्तियों को राग-द्वेष के रूप में न देखकर इस रूप में देखा कि वे दो परमाणुओं को आपस में मिलाती हैं या एक दूसरे से विलग करती हैं। ग्रीस के जड़वादी परमाणु केन्द्रित चिन्तन ने इनको इसी रूप में देखा था। समस्या पुरानी है और आज भी भौतिक विज्ञान में इन दो तरह की शक्तियों की बात मिलती है। हालांकि यह ठीक है कि आज का भौतिकवादी वैज्ञानिक अणु-परमाणु के परे इलैक्ट्रॉन, प्रोटोन, न्यूट्रॉन आदि ऐसे ही अनेक कणों की बात करता है। लेकिन वह इनको विद्युत शक्ति कणों के रूप में देखता है और चूँकि विद्युत के शक्ति कण दो तरह के होते हैं जिन्हें पोजीटिव (Positive) और नेगेटिव (Negative) कहते हैं, और जिनके आपस के सम्बन्ध इस प्रकार के हैं कि यदि दोनों शक्ति कण एक ही प्रकार के हों तो वे एक दूसरे से विलग हो जाते हैं, और अगर एक-दूसरे के विपरीत होते हैं तो आपस में मिल जाते हैं। शक्तियों की बात एक तरह से वही है लेकिन मूलभूत भेद यह है कि आज का विज्ञान जड़ शक्ति और जड़ द्रव्य में इतना आपस का साहचर्य सम्बन्ध मानता है कि आइन्सटाईन के फार्मूले द्वारा एक का दूसरे में रूपान्तर सम्भव ही नहीं सत्य भी मानता है। इसी आधार पर आणविक शक्ति का जन्म हुआ और अणु बम का सृजन। पर जहाँ एक ओर जड़-द्रव्य और जड़ शक्ति का आपस में सतत रूपान्तर संभव है, वहीं दूसरी ओर शक्ति के मूल प्रकारों की समस्या आज के विज्ञान के सामने है, और इन शक्तियों में सामंजस्य कैसे बैठाया जाय ? यह आधुनिक विज्ञान की एक मूलभूत समस्या है। आज जड़ जगत में चार मूलभूत शक्तियाँ मानी जाती हैं उनका अंग्रेजी में नाम है : Gravitational Forces (ग्रेवीटेशनल फोर्सेस), जिनका पता न्यूटन ने लगाया था और जो समस्त ब्रहमाण्ड में प्रत्येक जड़ वस्तुओं को एक दूसरे से उसके प्रसिद्ध फार्मूले $\frac{M1XM2}{D_2}$ के अनुसार सीमित करती है। विद्युत-चुम्बकीय शक्ति (Electro-Magnatic Forces) जिनका एक दूसरे से तादात्म्य मैक्सवैल ने बताया था और यह सिद्ध किया था कि ये दोनों अलग-अलग दिखने वाली शक्तियाँ वास्तव में एक ही हैं। Weak Interaction और Strong Interaction नाम से ज्ञात, अणु के भीतर के विद्युत कणों के आपसी सम्बन्धों को स्थिर रखने वाली शक्तियाँ आज के विज्ञान में सर्व स्वीकृत हैं। लेकिन इन सब शक्तियों का आपस में क्या सम्बन्ध है और क्या इन सब शक्तियों को एक ही शक्ति के भिन्न-भिन्न रूप में देखा जा सकता है ? इस पर कोई मतैक्य नहीं है। हालांकि भौतिक वैज्ञानिक इस ओर सतत प्रयत्नशील हैं, कि इन सब शक्तियों में किस प्रकार एकत्व स्थापित किया जाय ? इस ओर उनको कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। पाकिस्तान

के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अब्दुस सलाम, जिनको नोबल पुरस्कार भी दिया गया था , ने इस दिशा में विशेष कार्य किया है।

गुण तथा कर्म में सारे तथ्यों का विभाजन जो **वैशेषिक सूत्र** के रचयिता ने किया था वह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि जब भी हम संसार की अनेकानेक वस्तुओं का वर्णन करते हैं तो उनको इन्हीं रूप में प्राप्त करते हैं, यानि या तो वे द्रव्य रूप में मिलते हैं या गुण रूप में या कर्म रूप में मिलती हैं। कर्म का अर्थ यहाँ उस गत्यात्मकता से है जो किसी भी वस्तु में पाई जाती है। एक तरह से गति का ही दूसरा नाम कर्म है और जैसा कि सब को पता है, गति अनेक प्रकार की हो सकती है।

पर इनके अलावा वैशेषिक दर्शन के सूत्रकार ने एक ऐसा सवाल उठाया जो अन्य दार्शनिक परम्पराओं में साधारण तौर पर नहीं उठाया गया था। उन्होंने यह पूछा कि द्रव्य का गुण से सम्बन्ध कैसे होता है या 'कर्म' द्रव्य से किस प्रकार सम्बन्धित होता है? और इसका उत्तर उन्होंने एक विशेष सम्बन्ध की बात करके किया जिसका नाम उन्होंने 'समवाय' रखा। बाद में भारतीय परम्परा के दार्शनिक विश्लेषण में इस सम्बन्ध पर बहुत विचार हुआ और इसको कुछ दार्शनिक परम्पराओं ने तो अपने विचार के केन्द्र-बिन्दु में ही रखा। आश्चर्य की बात यह है कि भारत से बाहर की दार्शनिक परम्पराओं में इस प्रकार के सम्बन्ध की कोई विशेष चर्चा नहीं हुई और न उन्होंने अपनी दार्शनिक संरचना में ऐसे किसी सम्बन्ध को मानने की कोई खास ज़रूरत समझी। 'समवाय' के साथ ही कणाद ने 'सामान्य' और 'विशेष' की चर्चा भी की। और इनको 'समवाय' के समान ही उन कोटियों में माना जिनके द्वारा हम संसार को समझने की चेष्टा करते हैं। सामान्य को मानने की आवश्यकता इसलिए पड़ती है कि हमें वही वस्तु या गुण या कर्म बार-बार दिखाई पड़ता है और हम उसको देश और काल में भिन्न होते हुए भी वही मानते हैं जैसे किसी दूसरे को जो किसी अन्य देशकाल में स्थित है। इसीलिए हम एक ऐसे 'सामान्य' की कल्पना करते हैं जिसकी वे सब वस्तुएं उदाहरण मात्र हैं, जो अलग-अलग रूप में हमें दिखाई देती हैं। एक गाय अन्य गायों के समान होती है और सफेद रंग अन्य सफेद रंगों के समान और एक चलने या दौड़ने की क्रिया दूसरे चलने या दौड़ने की क्रिया के समान ही मानी जाती है इसलिए हम इन सब को एक ही तरह की चीज़ मानते हैं और इसीलिए 'सामान्य' का विचार उपस्थित होता है। लेकिन खाली 'सामान्य' को मानने से ही काम नहीं चलता, क्योंकि प्रत्येक गाय विशेष होती है और इसी प्रकार प्रत्येक सफेद रंग या हर चलने या दौड़ने की प्रक्रिया। इसलिए जहाँ विचार को एक ओर 'सामान्य' को मानना पड़ता है, उसी तरह दूसरी ओर उसे 'विशेष' को भी मानना पड़ता है। कणाद ने इसलिए समवाय के साथ 'सामान्य' और 'विशेष' की भी बात की। और इस प्रकार उन्होंने मूल रूप में उन छः पदार्थों की चर्चा की जिनके द्वारा हम सारे संसार की वस्तुओं को जानते हैं या उन पर विचार करते हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने एक ऐसा भेद किया जो दार्शनिक दृष्टि से बहुत महत्व का है। पर जिस पर भारतीय दार्शनिक परम्परा में अधिक ध्यान नहीं दिया गया। उन्होंने यह भेद 'सत्ता' और 'भाव' के बीच में किया और यह कहा कि जहाँ पहली तीन कोटियाँ यानि द्रव्य, गुण और कर्म सत्तात्मक हैं वहीं दूसरी अन्य कोटियाँ यानि सामान्य, विशेष और

समवाय सत्तात्मक न होकर, भाव रूप हैं। सत्ता और भाव का यह भेद उस फ़र्क की ओर इशारा करता है जिसे पश्चिमी दर्शन में 'Existence और Reality' के बीच में करने की कोशिश की गई थी।

इस भेद को इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जो भाव रूप में है वह स्वतंत्र रूप में सत् नहीं है क्योंकि उसको 'होने' के लिए किसी अन्य की जरूरत पड़ती है। लेकिन इस प्रकार से इस भेद को समझना कुछ-कुछ ठीक होते हुए भी दोषपूर्ण है। इस प्रकार से समझने में एक दोष यह है कि गुण और कर्म भी एक तरह से स्वतंत्र रूप में न रह कर किसी द्रव्य में ही रहते हैं और इस प्रकार उनकी सत्ता भी अन्याश्रित हो जाती है। दूसरी ओर इस भेद को इस प्रकार भी समझ सकते हैं कि जो भाव रूप है, वह बुद्धि के द्वारा जाना जाता है जबकि जिसकी सत्ता है उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है। पर ऐसा मानने पर यह मानना पड़ेगा कि 'द्रव्य' का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा होता है जबकि यह सबको पता है कि कम से कम बौद्ध दार्शनिकों ने द्रव्य की सत्ता को अस्वीकार किया है और केवल 'गुण' और 'कर्म' की सत्ता को ही माना है। अगर द्रव्य का ज्ञान भी इन्द्रियों द्वारा होता तो फिर उसको अस्वीकार करने की आवश्यकता क्यों महसूस होती ? जो कुछ भी हो सत्ता और भाव में भेद महत्वपूर्ण है, लेकिन जैसे ही वैशेषिक परम्परा के दार्शनिकों ने 'अभाव' को भी पदार्थ रूप में स्वीकार किया वैसे ही यह समस्या उत्पन्न हुई कि क्या 'अभाव' को भी 'भाव' रूप में समझा जा सकता है। प्रथम दृष्टि में 'अभाव' तो 'भाव' रूप हो ही नहीं सकता क्योंकि उसमें तो भाव का ही निषेध किया गया है। लेकिन गहराई से देखें तो कभी-कभी तो अभाव का भी प्रत्यक्ष होता है जैसे अगर हम किसी कमरे में जहाँ हम रहते हैं और अगर वहाँ से कोई चीज़ गायब है जो अक्सर वहाँ होती है,तो हमें यह प्रत्यक्ष रूप में उसके बारे में हमें आभास होता है कि यहाँ 'कुछ' नहीं है। जो वहाँ होता था परन्तु हमें यह स्पष्ट नहीं होता कि उस वस्तु के अभाव का आभास हो रहा है। इसके अन्य उदाहरण भी दिए जा सकते हैं — जैसे, हमें किसी का नाम याद नहीं आ रहा है। ऐसी अवस्था में हमें स्पष्ट रूप में उस नाम के ज्ञान के अभाव का आभास होता है। भारतीय दर्शन में अभाव को समझने की बहुत कोशिश की गई है और इस संदर्भ में इस प्रकार के साक्षात अभावात्मक प्रत्यक्ष अनुभवों की बात भी की गई है। लेकिन इस संदर्भ में शायद वैशेषिक परम्परा के दार्शनिकों ने ही 'अभाव' को पदार्थ रूप में माना, अन्य ने नहीं। इस संदर्भ में एक और समस्या यह है कि अभाव के बारे में विचार करना इसलिए कठिन है क्योंकि जब भी हम विचार करते हैं उसका रूप यही होता है कि 'यह है' या 'यह नहीं है'। लेकिन जब हम यह कहते हैं कि 'यह नहीं है' तब भी उस 'नहीं' की उपस्थिति तो होती ही है। दूसरी ओर जब हम यह कहते हैं कि, 'यह है' तो उसमें ही यह निहित होता है कि कुछ अन्य नहीं है। इस प्रकार निषेध हमारी सोचने की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है और 'अभाव' को पदार्थ रूप में मानकर वैशेषिक दार्शनिकों ने शायद यही कहने की कोशिश की है कि 'अभाव' को माने बगैर बौद्धिक ज्ञान की प्रक्रिया हो ही नहीं सकती। अगर जगत में अनेक सत्ता हैं तो उनमें 'भेद' को मानना पड़ेगा और भेद एक तरह से एक-दूसरे के अभाव रूप में ही विद्यमान होगा।

इस तरह से देखने पर वैशेषिक दर्शन में जो पदार्थ की कोटियाँ हैं वे शायद बौद्धिक विचार की उन कोटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं जिनके बगैर बौद्धिक ज्ञान की प्रक्रिया हो ही नहीं सकती। पश्चिमी दर्शन में इस प्रकार की बात अरस्तु और कान्ट ने स्पष्ट रूप में कही थी और वहाँ इन कोटियों को Categories का नाम दिया गया था। पर ऐसा ठीक होने पर भी यह स्पष्ट नहीं है कि वैशेषिक दर्शन में यह कोटियाँ केवल बौद्धिक विचार की ही कोटियाँ हैं या जगत में पाई जाने वाली वस्तुओं की कोटियाँ भी। **वैशेषिक सूत्र** के बाद में आने वाले चिन्तकों ने भी इस प्रश्न पर कोई विशेष ध्यान दिया प्रतीत नहीं होता। हाँ, यह जरूर है कि कणाद के **वैशेषिक सूत्र** पर प्रथम भाष्य लिखने वाले प्रशस्तपाद ने अपने ग्रंथ पदार्थ धर्म संग्रह में 'गुण' के अन्दर आने वाले पदार्थों की संख्या को उससे कहीं अधिक बढ़ाकर बताया है जो **वैशेषिक सूत्र** में बताई गई है। उदाहरण के तौर पर जबकि **वैशेषिक सूत्र** में गुणों की संख्या 17 बताई गई है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में उनकी संख्या 24 बतायी है। यही नहीं, उन्होंने गुणों का विभाजन नई दृष्टियों के आधार पर किया है, जिनमें कुछ तो आजकल के पश्चिमी दर्शन के चिंतन से काफी मेल खाती दिखाई देती हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि उस काल के भारतीय चिन्तकों ने सूत्रों को उस रूप में प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं माना था जिस रूप में भारतीय दर्शन के इतिहासकार उन्हें प्रस्तुत करते हैं। प्रशस्तपाद ने अपने ग्रन्थ में किन और पदार्थों की चर्चा की है उनका वर्णन हम आगे विस्तार से करेंगे। यहाँ तो केवल इसी पर ध्यान देने की बात है कि उन्होंने ऐसा करने में किसी संकोच या कठिनाई का अनुभव नहीं किया और न ही किसी ने उनके बारे में यह कहा कि उन्होंने ऐसा क्यों किया ? दार्शनिक विचार की स्वतंत्रता का इससे अच्छा उदाहरण और क्या हो सकता है।

कणाद के वैशेषिक सूत्रों के बारे में एक और भी बात ध्यान देने की है और वह यह कि उन्होंने प्रमाणों की चर्चा करते समय शब्द प्रमाण को अस्वीकार किया। गौतम ने अपने **न्याय सूत्र** में पहले ही शब्द प्रमाण की इस तरह व्याख्या की थी कि अगर उसको माना जाय तो **मीमांसा सूत्र** और **ब्रह्म सूत्र** में पाई जाने वाली शब्द प्रमाण की व्याख्या खण्डित हो जाती है। लेकिन कणाद ने तो इसके भी आगे एक कदम रखा और उन्होंने शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता का ही विरोध किया। **वेद** और **उपनिषद्** को प्रामाणिक मानने की परम्परा का इससे अधिक और क्या खण्डन हो सकता था ? लेकिन जो लोग वैशेषिक दर्शन को वैदिक परम्परा का अंग मानते हैं वे इस बात की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते कि उसके रचयिता कणाद ने शब्द प्रमाण को स्पष्ट रूप में अस्वीकार किया था।

वास्तव में वैशेषिक दर्शन की तत्व चर्चा को उन अन्य दार्शनिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में नहीं देखना चाहिए जो वैदिक यज्ञ या उपनिषदों में होने वाली आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्धों की चर्चा में ही प्रधानत: संलग्न थी और जिन्हें जगत के तत्वों को समझने में कोई विशेष रुचि नहीं थी। इसके विपरीत उसको उन दार्शनिक परम्पराओं के संदर्भ में देखना चाहिए जिनके ध्यान का केन्द्र-बिन्दु जगत और उसमें पाए जाने वाले विभिन्न तत्व थे। सांख्य चिन्तन की दार्शनिक परम्परा इसी कोटि में आती है, और इसलिए वैशेषिक दर्शन के पदार्थ मीमांसा को सांख्य दर्शन की तत्व

मीमांसा के साथ मिलाकर देखना चाहिए। साधारणतः ऐसा नहीं किया जाता और वैशेषिक दर्शन की परम्परा को न्याय के साथ जोड़ा जाता है और सांख्य दर्शन की परम्परा को योग के साथ। यह ठीक है कि बाद में होने वाले परिवर्तनों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इन दार्शनिक परम्पराओं को इस प्रकार देखने में कुछ सच्चाई अवश्य प्रतीत होती है। पर इस तरह से इनको देखना ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही कुछ हद तक ठीक हो, दार्शनिक दृष्टि से तो गलत ही प्रतीत होता है।

सांख्य के तत्व चिन्तन की परम्परा बहुत पुरानी है और उसका वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। पर संगठित रूप में सांख्य दर्शन का विस्तार से वर्णन ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** से पहले नहीं मिलता। सांख्य सूत्र के नाम से विख्यात ग्रन्थ विद्वानों की राय में बहुत पुराना नहीं है, इसलिए उसको उन मूलभूत सूत्रों में नहीं माना जाता जो किसी विशेष दार्शनिक परम्परा के आधारभूत ग्रन्थ के रूप में सब स्वीकार करते हैं, फिर भी कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि सांख्य सूत्र के कुछ अंश बहुत पुराने हैं लेकिन इन अंशों को दूसरे अंशों से अलग करने की कोशिश नहीं की गई है। ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका** से पहले के **षष्ठि तंत्र** आदि कुछ ग्रन्थ सांख्य परम्परा में पाने जाते हैं और उनमें वर्णित सांख्य दर्शन को कारिका-पूर्व-सांख्य का नाम दिया जाता है। जो कुछ भी हो सांख्य की परम्परा में ऐसा लगता है कि पहले 60 तत्व माने जाते थे लेकिन बाद में इन तत्वों की सांख्य घटकर 24 या 25 रह गई। सांख्यकारिका में जिन तत्वों की चर्चा है वे पंच महाभूत से प्रारम्भ होकर अहंकार तक गिनाए जाते हैं। ये सब प्रकृति का अंग माने जाते हैं और इनके अलावा एक अन्य तत्व जिसे इस परम्परा में 'पुरुष' की संज्ञा दी जाती है, माना जाता है। पंच महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के नाम से जाने जाते हैं और इन्हीं के स्थूल रूप से जगत की सारी वस्तुएं बनी हुई मानी जाती हैं। इन्हीं का सूक्ष्म रूप भी है जिन्हें 'तन्मात्रा' कहा जाता है। इनके अलावा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी स्वीकार की जाती हैं। इस तरह से यह सब मिलकर 20 तत्व स्वीकार किए जाते हैं। इनके अलावा मन, बुद्धि, अहंकार भी तत्व रूप में माने जाते हैं। यह सब मिलकर 23 पदार्थ बनते हैं और सांख्य चिन्तन परम्परा में इन्हें तत्व रूप में स्वीकार किया गया है। इनके अलावा जैसा हमने पहले कहा था वे एक अन्य तत्व को भी मानते हैं जिसका नाम 'पुरुष' है। 'पुरुष' वास्तव में उस चेतन तत्व का नाम है जो दृष्टा है और जिसको ही सब ज्ञात होता है। सांख्य चिन्तन पुरुष और प्रकृति में मूलभूत भेद स्वीकार करता है और पुरुष के अलावा जिन 23 तत्वों का वर्णन है वे वास्तव में प्रकृति के ही रूप हैं जिसको वह पूर्ण रूप में जड़ या अचेतन मानता है। इस संदर्भ में आश्चर्य की बात यह है कि मन, बुद्धि और अहंकार को भी यह चिन्तन अचेतन या जड़ प्रकृति का ही अंग मानता है। वह इनमें 'चेतना' को स्वीकार नहीं करता। आमतौर पर मन और बुद्धि को चेतन रूप में माना जाता है। यही नहीं ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी चेतना से ही परिचालित होती हैं क्योंकि ज्ञान और कर्म चेतन व्यक्ति के ही लक्षण माने जाते हैं, जड़ वस्तुओं के नहीं। लेकिन सांख्य दर्शन का विश्लेषण इन सब को उसी कोटि में रखता है जिसमें अन्य लोग जड़ जगत की वस्तुओं को रखते हैं जैसे पत्थर या पहाड़। इसका कारण शायद यह है कि सांख्य की दृष्टि मूल रूप में चेतना और उसके विषय में आधारभूत भेद करती है और यह मानती प्रतीत होती है कि जो कुछ भी 'विषय' रूप में

उपस्थित हो सकता है, चेतना कभी भी उसका गुण नहीं हो सकती। यह भेद एक सूक्ष्म भेद है और आम लोगों को आसानी से समझ में नहीं आता है। पर दार्शनिक चिन्तन की यह पहली सीढ़ी है क्योंकि चेतना और उसका विषय जब आत्म-चिन्तन का विषय बनते हैं तब दार्शनिक चिन्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है; अन्यथा तो हम केवल विषयों के प्रकार और उनके भेद में ही उलझे रहते हैं। परन्तु चेतना स्वयं अपना विषय हो सकती है और इसी को आत्म चिन्तन या स्वचेतन होना कहा जाता है। पर अगर ऐसा है तो वह 'आत्मा' जो विषय रूप होकर आत्म-चिन्तन में उपस्थित होती है वह जड़ होगी या चेतन। सांख्य द्वारा मन, बुद्धि और अहंकार को जड़ प्रकृति का अंग मानने में यही दृष्टि दिखाई देती है, क्योंकि वे विषय रूप में उपस्थित होते हैं और उस आत्म के अंश दिखाई देते हैं जो चेतना के विषय के रूप में उपस्थित होता है। यह एक सूक्ष्म दृष्टि है जिसका विस्तार आगे हुआ है और जिसने भारतीय दर्शन के इतिहास में अनेकों रूप लिए हैं। लेकिन यह ध्यान देने की बात है कि सारा जगत जिन तत्वों से रचित है वह सांख्य की दृष्टि में प्रकृति का अंग ही नहीं है बल्कि उसमें एक ऐसा मूलभूत तारतम्य है जो स्थूल से सूक्ष्म की ओर और जड़ पदार्थों से मन, बुद्धि और अहम्-भावना जैसे मनोवैज्ञानिक तत्वों तक फैला हुआ है। एक तरह से आज का विज्ञान इसकी पुष्टि करता है, क्योंकि उसके अनुसार मन और बुद्धि उसी एक प्रक्रिया के अंग हैं जो भौतिक जगत की वस्तुओं में दिखाई देती है। 'Cybernetics' (साइबरनेटिक्स) के नाम से जानी जाने वाली विद्या जिसके आधार पर अनेक तरह के कम्प्यूटर बनाए गए हैं इसी ओर इशारा करती है कि मशीन में भी बुद्धि हो सकती है और वह भी उन सब यांत्रिक, वैचारिक प्रक्रियाओं को कर सकती है जो मनुष्य का दिमाग करता है।

सांख्य में मन और बुद्धि के अलावा अहम्-भाव को एक अलग विशिष्ट तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है। परन्तु इसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है और न ही इसकी स्वतंत्र रूप में कोई विशेष चर्चा की गई है। इसके अलावा सांख्य चेतन तत्व को भी मानता है और उसकी सत्ता इन सब से अलग स्वीकार करता है, और इसीलिए उसकी यह धारणा है कि चेतना को मन बुद्धि आदि से अलग करके देखना चाहिए।

सांख्य दर्शन में एक और भेद पाया जाता है जो न आज के आधुनिक विज्ञान के तत्व सम्बन्धी विचार में मिलता है और न ही प्राचीन भारतीय दार्शनिक विचार में। यह भेद सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों के आधार पर किया गया है जिसके अनुसार संसार में जितने भी तत्व है उन सब में सर्वदा ये तीन गुण पाये जाते हैं जिनमें से एक स्थायित्व प्रदान करता है दूसरा गतिशीलता और परिवर्तन तथा तीसरा शुद्धता तथा निर्मलता। पहले पक्ष का नाम तमस् दिया गया है, दूसरे का रजस् और तीसरे का नाम सत्व। इनको अनेक प्रकार से समझने की कोशिश की गई है, पर इनके विषय में सांख्य की मूलभूत दृष्टि यही प्रतीत होती है कि प्रत्येक वस्तु में ये तीनों पक्ष मिश्रित रूप में विद्यमान रहते हैं और जिसका भी प्राधान्य होता है उसी के अनुसार उसमें वह गुण दिखाई देता है। लेकिन उसके अनुसार किसी भी गुण का यह प्राधान्य सदैव नहीं रहता [illegible] आप कुछ काल के बाद दूसरे गुण का प्राधान्य होने लगता है। पर प्राधान्य किसी का भी हो दूसरे अन्य गुण गौण रूप में या प्रच्छन्न रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। इसके अलावा सांख्य चिन्तन में

स्थूल और सूक्ष्म का भी भेद किया गया है जो इस भेद से भिन्न है और जिसके अनुसार प्रत्येक तत्व ये दो रूप ले सकता है यानि या तो वह सूक्ष्म हो सकता है या स्थूल।

वैशेषिक दर्शन में द्रव्यों का विभाजन नित्य-अनित्य के आधार पर किया गया है और नित्य द्रव्यों में एक ओर जहाँ आत्मा और मन को माना गया है वहीं दूसरी ओर आकाश, काल और दिक् या दिशा जैसी चीज़ों को भी नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। आत्म-द्रव्य के दो भेद किए गए हैं जिनमें एक को परमात्मा या ईश्वर तथा दूसरे को जीवात्मा कहा गया है। ये दोनों ही नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार किए गए हैं और जीवात्मा के नानात्व को भी स्वीकार किया गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि गौतम ने अपने न्याय सूत्र में प्रमेयों की चर्चा में केवल आत्मा को ही स्वीकार किया था परमात्मा या ईश्वर को नहीं। हालांकि बाद के भाष्यकारों ने ऐसा माना है कि आत्मा शब्द से परमात्मा और जीवात्मा दोनों को समझना चाहिए। सांख्य दर्शन इस प्रकार का भेद नहीं करता और केवल पुरुष को ही मानता है, ईश्वर या परमात्मा को नहीं। वैशेषिक दर्शन में नित्य द्रव्य की कल्पना से जो समस्या उत्पन्न होती है उस पर कोई विशेष विचार नहीं किया गया प्रतीत होता है, क्योंकि या तो यह मानना पड़ेगा कि नित्य द्रव्य के गुण भी नित्य होते हैं क्योंकि अगर ऐसा नहीं माना जाता तो अनित्य गुण द्रव्य की नित्यता को क्या खण्डित नहीं करेंगे। यह बात मन के बारे में विशेष रूप से लागू होती है जहाँ तक दिक् को नित्य द्रव्य मानने की बात है वह तो और भी अजीब लगती है क्योंकि दिशाएं अपने आप में कोई द्रव्य हो ही नहीं सकतीं और यह समझना मुश्किल है कि उन्हें 'नित्य' किस आधार पर कहा जा सकता है। लेकिन इस संदर्भ में भी यहाँ यह जानना ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व का होगा कि तत्व सम्बन्धी विचार में भारत की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में क्या साम्य और क्या भेद है। इसी तरह से इस पर भी ध्यान देना होगा कि इन विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तत्व सम्बन्धी विचारों में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुए हैं। सांख्य में जबकि **षष्ठि तंत्र** में 60 तत्वों की चर्चा की गई थी, **सांख्य-कारिका** में 24 तत्वों की ही चर्चा मिलती है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में पहले **वैशेषिक सूत्र** में 6 पदार्थों की चर्चा मिलती है जबकि बाद में एक ग्रन्थ में 10 पदार्थों की चर्चा की गई है और 16वीं शताब्दी के प्रसिद्ध नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने अपने ग्रन्थ **पदार्थ तत्व निरूपण** में अनेक पुराने पदार्थों का खण्डन करके नये पदार्थों को सिद्ध करने की कोशिश की। इस तरह से देखने पर यह पता चलता है कि पदार्थ तत्व चिन्तन अलग-अलग दार्शनिक परम्पराओं में ही भिन्न-भिन्न ही नहीं है, पर एक दार्शनिक परम्परा में भी काल भेद से उसमें अनेक परिवर्तन हुए जिनकी ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

मीमांसा, ब्रह्म-सूत्र, न्याय, वैशेषिक और **सांख्य** के नाम से ज्ञात दार्शनिक परम्पराओं के अलावा अक्सर लोग योग का नाम भी लेते हैं और इस संदर्भ में पतञ्जलि के **योग सूत्र** की चर्चा भी करते हैं। लेकिन **योग सूत्र** वास्तव में दार्शनिक ग्रन्थ नहीं है वह तो केवल उन विशेष साधनाओं का वर्णन करता है जिनके करने से समाधि की प्राप्ति होती है। उसका दार्शनिक विचार से सीधा सम्बन्ध न होकर केवल इसी प्रकार का सम्बन्ध है कि जो लोग परम पुरुषार्थ के रूप में निःश्रेयस, अपवर्ग या मोक्ष को मानते हैं वह उसे प्राप्त करने का एक सुसम्बद्ध रूप में मार्ग

बताता है और, जैसाकि हमने अन्य सूत्र ग्रन्थों के बारे में कहा है वह भी बहुत पुराने जमाने से प्रचलित साधन विधियों को सुसंगठित रूप में रखने की कोशिश करता है। इसका प्रथम सूत्र 'योग' की परिभाषा को बताता है और सब लोग योग को चित्तवृत्ति निरोध के नाम के लक्षण से स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार ईसा के 200 से 300 वर्ष बाद तक भारतीय दर्शन के सारे मूल ग्रन्थ उपस्थित हो गये थे और आगे आने वाले काल में उन्होंने भारत की अनेक दार्शनिक परम्पराओं को जन्म दिया पर इसके पहले कि हम इन परम्पराओं के विकास की विस्तार से चर्चा करें, हमें जैन दर्शन के प्रारम्भ के बारे में भी जानना ज़रूरी है, क्योंकि उसने एक ऐसी दार्शनिक परम्परा को जन्म दिया जो सारी दार्शनिक परम्पराओं को अपनी एक अलग दृष्टि से देखने की कोशिश करती है, और उनमें एक सामंजस्य बैठाने की चेष्टा करती है।

शुरू से ही जैन दृष्टि सब चीज़ों को देश, काल, द्रव्य और पर्याय के संदर्भ में देखने की कोशिश करती है। ऐसा लगता है कि उसके लिए किसी भी चीज को जानने का अर्थ ही यह था कि वह इन चार कोटियों के द्वारा समझी जाय क्योंकि यह चार उसके अनिवार्य पक्ष हैं। स्वयं महावीर से, जब पूछा गया था कि सिद्धि का अंत है या अनन्त, तब इसका उत्तर उन्होंने इन चार कोटियों के अन्तर्गत ही दिया था। इससे यह सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में किसी भी चीज़ को खाली देश या खाली काल या खाली द्रव्य या पर्याय की दृष्टि से ही नहीं समझा जा सकता। यही नहीं उनके उत्तर से यह भी पता चलता है कि इन विभिन्न कोटियों के द्वारा किसी बात को समझने में एक दूसरे से विरोधी गुण उपस्थित हो सकते हैं और यह परस्पर विरोधी गुणों के एक साथ उपस्थित होने में कोई दोष नहीं है। उनके अनुसार सिद्धि या जिसे जैन लोग परम अवस्था की प्राप्ति कहते हैं, वह 'देश' की दृष्टि से सांत हैं और काल की दृष्टि से अनन्त। यही नहीं, महावीर के अनुसार 'सिद्धि' की अवस्था द्रव्य की दृष्टि से सांत है और पर्याय की दृष्टि से अनन्त। 'सांत' और 'अनन्त' दोनों का उसी स्थिति में एक साथ होना कोई अनिवार्य विरोध उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि यह परस्पर विरोधी गुण भिन्न-भिन्न कोटियों के अन्तर्गत आते हैं। इस संदर्भ में किसी ने यह सवाल नहीं पूछा है कि काल के अनन्त होने का क्या अर्थ है और पर्याय के अनन्त होने का क्या ? इसी तरह यह भी एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या पर्याय बगैर काल के हो सकते हैं और क्या पर्याय की अनन्तता काल की अनन्तता को पूर्वापेक्षित नहीं करती? फिर पर्याय की अनन्तता का अर्थ क्या है, और वह भी सिद्धि की अवस्था में ? यही नहीं इस संदर्भ में यह भी प्रश्न उठता है कि अगर सिद्ध पुरुष अनेक हैं जैसा कि जैन मानते हैं तो उनकी अनन्त पर्यायों की प्रक्रिया में क्या अन्तर होगा ? यही नहीं अगर सिद्धि प्राप्त करने वाले भी अनन्त हैं और उन सब का 'देश' में स्थित होना ज़रूरी है और अगर देश सीमित है तो फिर ये सब अनन्त सिद्ध पुरुष द्रव्य रूप में उस सीमित देश में कैसे समाएंगे ?

यह सब प्रश्न कितने ही महत्व के हो लेकिन जैन दर्शन शायद इन सब पर विचार नहीं करता वह तो इस बात की ओर अधिक ध्यान देता प्रतीत होता है, क्योंकि जो भी सत् है वह

अनेकान्तिक है इसलिए उसे एकांगी दृष्टि से देखा ही नहीं जा सकता और यदि ऐसा किया जाएगा तो विचार की प्रक्रिया में ही एक मूलभूत गलती होगी। लेकिन सत् के अनेकान्तिक होने का अर्थ क्या है और यह 'अनेक' कितना अनेक है। इस पर स्पष्ट रूप से विचार नहीं किया गया प्रतीत होता है।

इसके अलावा जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में एक मूलभूत प्रश्न यह भी उठता है कि क्या वह दृष्टि जो जैन दर्शन में स्यादवाद के नाम से जानी जाती हैं, साधारण मनुष्य पर ही लागू होती है या वह सर्वज्ञ के ज्ञान के लिए भी उचित ठहरती है। जैन दर्शन 'सर्वज्ञ' के विचार को स्वीकार करता है और यह मानता है कि महावीर ही नहीं बल्कि वह प्रत्येक मनुष्य जो सिद्ध अवस्था को प्राप्त होता है सर्वज्ञ हो जाता है। महावीर से पहले होने वाले तीर्थंकर तो सर्वज्ञ थे ही, और इस प्रकार जैन दर्शन अनेक सर्वज्ञ सिद्धों की सत्ता को सत्य मानता है। पर सर्वज्ञ के ज्ञान का स्वरूप क्या होता है और अनेक सर्वज्ञों को मानने से जो समस्या उत्पन्न होती है उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता है। सर्वज्ञ के बारे में पहली समस्या तो यह है कि उसका ज्ञान उसे 'स्याद-रूप में' उपस्थित हो ही नहीं सकता क्योंकि सर्वज्ञ होने का अर्थ ही यह है कि उसमें संदेह या शंका का कोई स्थान ही नहीं रहता। पर यदि ऐसा है तो ज्ञान के स्याद्-रूप होने का सिद्धांत केवल मनुष्य तक ही सीमित रहेगा। और वह भी इसलिए कि उसकी चेतना सीमित और अपूर्ण है। लेकिन अगर ऐसा है तो यह बात अनेकान्त के बारे में भी सत्य होगी क्योंकि आमतौर पर स्यादवाद और अनेकान्तवाद एक दूसरे से अनिवार्य रूप में सम्बद्ध माने जाते हैं। पर जहाँ एक ओर यह समस्या है वहीं दूसरी ओर यह भी समस्या उत्पन्न होती है कि एक 'सर्वज्ञ' के ज्ञान का दूसरे सर्वज्ञ के ज्ञान से क्या सम्बन्ध है ? क्या वे एक दूसरे के ज्ञान को जानते हैं, पर यदि दूसरे वास्तव में अन्य है तो उनके ज्ञान को उस रूप में कभी भी नहीं जाना जा सकता, जिस रूप में वे उसे स्वयं जानते हैं। अगर ऐसा नहीं माना जाय तो फिर यह कहने का अर्थ क्या होगा कि दूसरा, दूसरा है। और फिर क्या दूसरा होने का मतलब ही यह नहीं है कि अगर वह नहीं चाहे तो अन्य कोई उसके बारे में वह नहीं जान सकता जो वह उसे नहीं जानने देना चाहता है। आधुनिक दर्शन में इसे 'Knowledge of Other Minds' के संदर्भ में उठाया गया है। इस सम्बन्ध में मूलभूत समस्या यही है कि 'अन्य' का अर्थ क्या होता है और सर्वज्ञ का अर्थ क्या?

यही नहीं अगर हम ज्ञान को उस कर्म से सम्बन्धित माने जो चरम को चरितार्थ करने वाला हो तो फिर जैन संदर्भ में यह समस्या उठेगी कि महावीर से पहले होने वाले तीर्थंकरों के आचार-व्यवहार में और महावीर के आचार-व्यवहार के क्षेत्र में भेद क्यों था ? इस भेद को तो स्वयं महावीर ने भी स्वीकार किया था और यह कहा था कि पार्श्वनाथ के अनुयायी जैन रंगीन कपड़े पहनते थे और उनके लिए ऐसा करना जैन मत के विरुद्ध नहीं था। लेकिन ऐसा मानने पर भी उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए यह ठीक नहीं समझा कि वे रंगीन कपड़े पहने । लेकिन अगर पार्श्वनाथ भी सर्वज्ञ थे तो उन्होंने जो किया वह भी उचित ही था और महावीर जो स्वयं भी सर्वज्ञ थे उन्होंने जो किया वह भी उचित ही था। पर यदि ऐसा था तो उन दोनों के कर्म-औचित्य में भेद क्या था ? क्या इस कर्म औचित्य के भेद का कारण उनके ज्ञान में था। लेकिन ज्ञान के संदर्भ

में ज्ञान की दृष्टि से तो वे दोनों सर्वज्ञ ही थे। फिर उनके ज्ञान में भेद कैसे माना जा सकता है ? तो फिर क्या यह मानना पड़ेगा कि ज्ञान में कोई भेद न भी हो तब भी कर्म में भेद हो सकता है। लेकिन ऐसा मानने पर यह समस्या उठेगी कि क्या वही ज्ञान भिन्न-भिन्न कर्म-औचित्य को जन्म दे सकता है ।

'सर्वज्ञ' के विचार को लेकर और भी अनेक समस्याएं हैं जिन पर जैन दर्शन में विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। जैन दार्शनिक काल की सत्ता मानते हैं और काल को अनन्त स्वीकार करते हैं पर अगर ऐसा है तो सर्वज्ञ को काल का ज्ञान कैसे होगा क्योंकि यदि वह सम्पूर्ण काल को उसकी अनन्तता में जानता है तो एक तरह से न वह काल, काल रह जाएगा और न उसकी अनन्तता अनन्त। काल के काल होने का अर्थ ही यह है कि उसमें भूत भविष्य और वर्तमान के भेद हैं और जो भविष्य है उसके बारे में एक ऐसी अनिवार्य अनिश्चितता है जो कभी भी समाप्त नहीं की जा सकती। दूसरी ओर, अनन्त का अर्थ ही यह है कि उसका कोई अन्त नहीं होता। लेकिन अगर कोई उसके 'अन्त' को जान लेता है तो फिर उसे अनन्त किस प्रकार कहा जा सकता है। और यदि काल के लिए भविष्य का होना ज़रूरी है और भविष्य के लिए उसका अनिश्चित होना अनिवार्य है तो फिर काल का ज्ञान कैसे हो सकता है, क्योंकि अगर भविष्य का निश्चित ज्ञान है तो फिर वह कम से कम उसे जानने वाले के लिए तो 'भविष्य होगा ही नहीं'। ऐसा कहा जा सकता है कि भूत भविष्य और वर्तमान के भेद केवल उस चेतना के लिए हैं जो अपने आप में सीमित है । इसी कारण से वह अखण्ड काल को एक साथ नहीं देख सकती। जो सर्वज्ञ है उसकी चेतना के लिए यह कोई बाधा नहीं है और इसीलिए वह सब काल को एक अखण्ड रूप में देखता है उसके लिए न कोई भूत है और न भविष्य। सब कुछ एक साथ वर्तमान है। पर अगर ऐसा है तो फिर काल को स्वतंत्र रूप में सत्तात्मक मानने का अर्थ क्या होगा ? यही नहीं अगर यह मानें कि सर्वज्ञ को अपनी उस अवस्था का उसी रूप में ज्ञान होता है जब वह सर्वज्ञ नहीं था, तब यह समस्या उत्पन्न होगी कि क्या इस प्रकार का 'ज्ञान' सर्वज्ञ के ज्ञान की सर्वज्ञता को दूषित या खण्डित नहीं करेगा ?

हालांकि यह सब प्रश्न सर्वज्ञता के विचार से सम्बन्धित हैं पर यह जैन दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों को समझने के लिए ज़रूरी हैं क्योंकि जब तक यह बात स्पष्ट नहीं होती कि जैन दर्शन के ज्ञान और सत्ता सम्बन्धी विचार सीमित मनुष्य की सत्ता और चेतना के संदर्भ में ही सार्थक हैं, या उनका उससे कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, तब तक जैन दर्शन की मूल मान्यताओं पर ठीक-ठीक चिन्तन नहीं हो सकता।

जैन दृष्टि का प्रारम्भ तो महावीर के वचनों में शुरू से ही मिलता है, परन्तु जैन दर्शन का सुव्यवस्थित रूप आचार्य कुन्द-कुन्द और उमास्वाति के ग्रन्थों से प्रारम्भ हुआ माना जाता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि दार्शनिक सूत्रों की चर्चा के प्रसंग में अधिकतर वैदिक धारा से सम्बन्धित सूत्रों की ही चर्चा की जाती है, लेकिन जैन और बौद्ध दार्शनिकों ने भी अपनी दार्शनिक परम्परा सूत्र ग्रन्थों से प्रारम्भ की थी, इस पर अधिकतर ध्यान नहीं दिया जाता। उमास्वाति

का **तत्वार्थ सूत्र** और नागार्जुन का **वैदल्य सूत्र** इसका प्रखर उदाहरण है और जिस प्रकार भाष्य, वार्तिक, टीका, आदि की परम्परा अन्य दार्शनिक परम्पराओं में विकसित हुई, उसी प्रकार वह जैन और बौद्ध दर्शन में भी मिलती है। भारतीय दर्शन के इतिहासकारों ने इन परम्पराओं को अपने ऐतिहासिक रूप में कम ही देखा है और इनके आपसी सम्बन्धों की ओर तो बहुत कम ही ध्यान दिया है। यही नहीं इन परम्पराओं के विकास में विशिष्ट दार्शनिकों का क्या योगदान रहा है, इस पर तो शायद ही किसी ने विचार किया हो। जैन दार्शनिक परम्परा में उमास्वाति के बाद पुण्यराज, समन्तभद्र, अकलंक, सिद्ध सेन, दिवाकर और हेमचन्द्र सूरि जैसे विख्यात दार्शनिक हुए जिन्होंने जैन दार्शनिक परम्परा को आगे बढ़ाया। यही नहीं जैन दार्शनिकों ने शायद भारतीय परम्परा में पहली बार ऐसा ग्रन्थ लिखा जिनमें अन्य दार्शनिक परम्पराओं का विस्तार से वर्णन था। यह शायद उन्होंने इसलिए किया कि वे अन्य दार्शनिक दृष्टियों को भी अंशतः सत्य मानते थे और इसलिए उन्हें कुछ हद तक स्वीकार भी करते थे।

ईसा की चौथी शताब्दी के बाद करीब-करीब सब दार्शनिक धाराओं के मूलभूत ग्रंथ लिखे जा चुके थे। इनमें **मीमांसा सूत्र** और **ब्रह्म सूत्र** तो सीधे वैदिक परम्परा से जुड़े हुए थे, जबकि **न्याय सूत्र** और **वैशैषिक सूत्रों** का विषय इनसे स्वतंत्र ही था, बल्कि उनकी परम्परा भी वैदिक परम्परा से स्वतंत्र लगती है। सांख्य की परम्परा तो बहुत पुरानी है, लेकिन उसके प्रामाणिक ग्रंथ बाद में रचे गये कहे जाते हैं। इन सबको भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का एक अभिन्न अंग माना जाता है। योग सूत्रों की रचना भी इसी काल में मानी जाती है। पर, जैसाकि हमने पहले भी कहा है, योग स्वयं एक साधना की परम्परा का नाम है और इसी को क्रमबद्ध रूप में रखने की चेष्टा **योग सूत्र** में की गई है। इसके अलावा बौद्ध एवं जैन परम्पराएं तो बुद्ध और महावीर के जमाने से ही चलती आई थी। लेकिन उनका भी सुव्यवस्थित दार्शनिक रूप इसी काल में मिलता है। इसके अलावा अन्य आगम परम्पराएं भी इस काल में अपना शास्त्रीय रूप लेती प्रतीत होती हैं। वैष्णव परम्परा पाञ्चरात्र के ग्रंथों में मिलती है। हालांकि शैव आगम के मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं, फिर भी शिव का वर्णन भरत के **नाट्य शास्त्र** में मिलता है, भरत मुनि ने अपना नाट्य शास्त्र शिव को दिखाया था और यह पूछा था कि इसमें क्या कमी है ? ऐसा पूछने पर शिव ने कहा था कि इसमें सब कुछ तो ठीक है पर नृत्य नहीं है। उन्होंने फिर अपना ताण्डव नृत्य तण्डु को दिखाया था और तण्डु ने इसका वर्णन अपने ग्रंथ में किया था। इसके पहले संगीत पर चिंतन **सामवेद** में मिलता है, जिनमें **ऋग्वेद** के वे मंत्र जो गायन के लिए उपयुक्त थे उन्हें अलग से संग्रहीत किया गया है। इसमें उन मंत्रों को विभक्त किया गया है जो ग्राम या नगर में गाये जाते थे और जो जंगल में गाने के लिए ही ठीक समझे जाते थे। यह 'ग्रामगेय गान' और 'अरण्यगेय गान' के नाम से जाने जाते हैं। 'साम' के गायन के विषय में एक अन्य रुचिकर चर्चा यह है कि जो साम, ऋक् मंत्रों के साथ ही गाया जाता था, पर बाद में वह इन मंत्रों के शब्दों से स्वतंत्र होकर गाया जाने लगा। गाने की यह स्वतंत्र प्रक्रिया इस बात की ओर ध्यान दिलाती है कि संगीत या गायन अपने आप में स्वतंत्र कला के रूप में देखा जाने लगा था, जिसका शब्द या उसके अर्थ के साथ कोई अनिवार्य संबंध नहीं था। यह बात इससे और भी स्पष्ट होती है कि साम के बाद संगीत का

गान्धर्व के रूप में स्वतंत्र विकास हुआ जिसका वेदों से कोई संबंध नहीं था । शब्द और अर्थ की समस्या पहले ही उठ चुकी थी और जैसाकि हमने कहा है, यह बात विवाद का विषय थी कि वाक्य का अर्थ संज्ञा पर निर्भर करता है या क्रिया पर । पाणिनि ने संस्कृत के व्याकरण को शास्त्रीय रूप बहुत पहले ही दे दिया था और इस प्रकार उसमें शास्त्रीय ज्ञान का वह मानदण्ड स्थापित कर दिया जिसे बाद में आनेवाले सब शास्त्रों ने अपने आदर्श रूप में देखा था । यही नहीं ज्योतिष और आयुर्वेद दोनों शास्त्रों के मूल ग्रंथ भी रचे जा चुके थे । इस संदर्भ में यह ध्यान में रखने की बात है कि ज्योतिष शास्त्र का शास्त्रीय संबंध गणित और खगोल शास्त्र से था, हालांकि 'फलित' से भी उसका संबंध था, पर उसका इतना प्राधान्य नहीं था जितना कि समझा जाता है । इस प्रकार सब विद्याओं, कलाओं और दार्शनिक परम्पराओं के मूलभूत ग्रंथ ईसा की शताब्दी के प्रारम्भ होने के आसपास रचे जा चुके थे और इनका आपस में गहरा संबंध था । विज्ञान, कला और दर्शन की परम्पराएँ एक दूसरे से संबंधित थी, हालांकि साधारण तौर पर उन्हें न इस रूप में प्रस्तुत किया जाता है और न देखा जाता है । यही नहीं मानवीय कर्म से संबंधित धर्म और व्यवहार के ग्रंथ भी लिखे जा चुके थे, क्योंकि ज्ञान और भावना मनुष्य के जीवन का जितना महत्त्वपूर्ण अंग हैं, उतना ही कर्म भी है । **धर्म सूत्र** और **कल्प सूत्र** के नाम से विख्यात सूत्र इसी से संबंधित हैं और स्मृति के नाम से विख्यात ग्रंथों की परम्परा भी यहाँ से प्रारंभ होती है। **मनु—स्मृति** और **याज्ञवल्क्य-स्मृति** का नाम करीब-करीब सबको पता है। इनमें मनुष्य का व्यावहारिक और सामाजिक जीवन किस प्रकार व्यतीत हो, इसकी विशद् चर्चा है । यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जिसे आजकल 'कानून' कहते हैं, उसको ही संस्कृत की परम्परा में 'व्यवहार' कहा जाता है । इन क्षेत्रों के अलावा राजनीति शास्त्र और शासन व्यवस्था भी शुद्ध बौद्धिक चिंतन का विषय बन गयी थी और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना हो चुकी थी जिसमें राज्य और शासन की समस्या पर विधिवत विचार किया गया है । व्यक्ति, समाज और राज्य के गहरे संबंधों पर विचार ही नहीं हुआ था, बल्कि यह मूलभूत प्रश्न भी उठाया गया था कि क्या मनुष्य अनिवार्य रूप से 'सामाजिक' या 'राजनैतिक' प्राणी है जैसाकि ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तु और चीन के प्रसिद्ध चिंतक कंफ्यूसियस ने माना था ।

इसके अलावा मनुष्य के बारे में यह भी गहन चर्चा का विषय था कि इसे ज्ञान प्रधान या कर्म प्रधान या भावना प्रधान माना जाए या उसको समझने में इन तीनों को समझने के बराबर का महत्व दिया जाए । इस संदर्भ में ज्ञान और कर्म की चर्चा अधिक हुई थी और भावना पक्ष की कम । लेकिन अगर हम आगम केन्द्रित भक्ति परम्पराओं की ओर ध्यान दें तो यह कथन उतना ठीक नहीं लगेगा जितना प्रथम दृष्टि में लगता है, क्योंकि भक्ति हमेशा भावना केन्द्रित रही है। यही नहीं सारा कला व्यापार तो भावना केन्द्रित होता ही है और उसके विषय में भारतीय चिंतन हमेशा रस के विचार पर केन्द्रित रहा है, जो स्वयं भावना को अपना चरम आदर्श मानता है। 'ज्ञान' की परम्परा ने भी चेतना की सहर्ष अवस्था को 'आनन्दमयी' माना है। इसलिए यह कहना कि भारतीय परम्परा में मानव के संदर्भ में भावना केन्द्रित चिंतन नहीं हुआ, गलत ही होगा। वास्तव में देखा जाये तो, मानव संबंधी चिंतन को परम्परा ने कार्यकारण व्यापार, प्रमाण-प्रमेय

व्यापार और रसना व्यापार में बाँटा है, और ये मनुष्य के तीनों पक्षों यानी कर्म, ज्ञान और भावना को अपने में पूर्ण रूप से समाहित करता है।

मनुष्य का तात्विक स्वरूप : पुरुषार्थ और कर्म विचार

मनुष्य पर चिंतन का एक नया रूप पुरुषार्थों से संबंधित था, जिसका लक्ष्य यह निर्धारित करना था कि मनुष्य का साध्य क्या है और किन-किन ध्येयों की प्राप्ति की कोशिश भी मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करती है ? साधारणतया ये पुरुषार्थ धर्म, अर्थ काम और मोक्ष के नाम से जाने जाते हैं। बाद में, भक्ति को परम पुरुषार्थ के रूप में चिंतकों ने जोड़ा था। इस संदर्भ में यह भी चर्चा है कि पहले केवल तीन पुरुषार्थ ही माने जाते थे, जिनमें मोक्ष को पुरुषार्थ के रूप में बाद में जोड़ा गया था। यह एक तरह से ठीक भी लगता है क्योंकि 'अर्थ' और 'काम' ये दोनों मनुष्य के सहज पुरुषार्थ के रूप में सब को ही स्पष्ट तो दिखाई देते हैं और धर्म इनको मनुष्य के अपने हित में और समाज के हित में नियंत्रित करता है। यही नहीं, 'धर्म' को मनुष्य के उस विशिष्ट लक्षण के रूप में भी देखा गया जो उसे अन्य सब प्राणियों से अलग करता है, और इसलिए उसे मनुष्यत्व प्रदान करता है। 'अर्थ' और 'काम' व्यक्ति-केन्द्रित होते हैं और इनका प्रयोग साधारणत: बड़े व्यापक रूप में किया जाता है। 'काम' का अर्थ इच्छा मात्र है, हालांकि इसका संकीर्णतम अर्थ स्त्री-पुरुष के यौन संबंधों से संबंधित है और उनके बीच का सहज आकर्षण ही इसका केन्द्र बिन्दु माना जाता है। लेकिन वास्तव में मनुष्य के संदर्भ में 'काम' शारीरिक न होकर मानसिक होता है और इसीलिए उसका दूसरा नाम 'मनसिज' भी कहा गया है। 'मनसिज' का सहज अर्थ यह होता है कि जो मन से उत्पन्न होता है, इसी प्रकार 'अर्थ' का मतलब भी बहुत व्यापक है। एक प्रकार से यह उन सब साधनमात्र को इंगित करता है जो किसी भी इच्छा की पूर्ति में साधक बनते हैं। धन और शक्ति इसके प्रमुख उदाहरण हैं और पुरुषार्थ के रूप में इसका प्रयोग इन्हीं की ओर इशारा करता है। जिसके पास धन या शक्ति है, वह इनके द्वारा अपनी सब इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। मनुष्य के स्तर पर जहाँ इच्छाएं अनेक रूप लेती हैं, वहीं उसके साधन धन व शक्ति भी अनेक रूप लेते हैं। इच्छाएं अनन्त हैं और प्रत्येक इंद्रिय इच्छा से जनित अपना एक अलग संसार बनाती है। जरा जिह्वा को ही देखिए, उसके आधार पर कितना विशाल स्वाद का जगत बनता है और मनुष्य कितने प्रकार के भोजन बनाता है। इसी प्रकार गंध का संसार भी है, और रंगों का स्वर का भी। कहने का मतलब यह है कि मनुष्य की प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय अपना एक अलग संसार रचती है जिसकी अपने आप में कोई सीमा नहीं है और जिसमें एक ऐसी सहज विविधता मिलती है जो मनुष्य को अपनी ओर आकृष्ट ही नहीं करती, बल्कि उस जगत में कुछ 'अन्य' उत्पन्न करने की प्रवृत्ति को भी जागृत करती है। यही सब 'काम' का संसार है और जब हम इसको पुरुषार्थ के रूप में देखते हैं तो यह मनुष्य के उस सृजनात्मक पक्ष की ओर ध्यान दिलाता है जो सब इस संसार में अभिव्यक्त होता है। यही बात 'अर्थ' के संबंध में भी है। यहाँ भी साधनों की रचना स्वयं काम का विषय हो सकता है और होता भी है। आज का सारा तकनीकी जगत इसका उदाहरण है। पर 'अर्थ' और 'काम' दोनों उच्छृंखल होते हैं और इन्हें साधारणतया अपने सहज रूप में कोई नियंत्रण या नियम स्वीकार नहीं होता है। यह उच्छृंखलता मनुष्य के आपसी संबंधों में अनेक

समस्याएं उत्पन्न करती है जिन्हें सुधारने के लिए कायदे-कानून बनते हैं, जिससे उनके आपसी संबंधों में टकराव कम हो। साधारणत: धर्म को मनुष्य के सामाजिक पक्ष से संबंधित माना जाता है, पर इसका मनुष्य के अपने व्यक्तिगत जीवन से भी उतना ही गहरा संबंध है जितना कि उसका अन्य के संबंधों के साथ। मनुष्य की अनेक इच्छाएं भी आपस में एक दूसरे की विरोधी हो सकती हैं और उसको हानि पहुँचा सकती हैं इसलिए मनुष्य के बीच के संबंधों का नियमन जरूरी है। उसी तरह मनुष्य की इच्छाओं के आपसी संबंधों का भी । इसलिए जहाँ धर्म मनुष्य के आपसी संबंधों में एक ऐसी व्यवस्था बनाने की कोशिश करता है जहाँ एक का साध्य दूसरे के साध्य से टकराये नहीं, वहीं वह व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में भी इस प्रकार की व्यवस्था करने की चेष्टा करता है; जहाँ एक इच्छा और दूसरी अन्य इच्छाओं के बीच अन्तर्विरोध नहीं हो। आन्तरिक अन्तर्विरोध मानसिक संतुलन को नष्ट कर सकता है और पागलपन को जन्म दे सकता है, ठीक उसी तरह से जिस तरह नियम के अभाव में समाज में चोरी, डकैती, हिंसा की वारदातें, यातायात की दुर्घटनाएं आदि उत्पन्न हो सकती हैं। लेकिन धर्म के ये दोनों पक्ष निम्न कोटि के ही माने जायेंगे उसका उदात्त पक्ष तो इससे अलग है। वह मनुष्य को एक-दूसरे के श्रेय और प्रेय पाने में सहायक होता है और इसी प्रकार अपने व्यक्तित्व को मनुष्य महान आदर्शों की प्राप्ति के लिए उन्मुख करता है। धर्म के भी अनेक रूप होते हैं और धर्म भी अनेक प्रकार के संसार रचता है क्योंकि नियम एक ही नहीं हो सकता। जैसे-जैसे नई इच्छाओं का जगत और इच्छाओं की पूर्ति के साधनों का जगत फैलता जाता है, उसी प्रकार धर्म के लिए भी नई समस्याएं उत्पन्न होती हैं।

यही नहीं इन्हीं अनेक जगतों से नए धर्मों की उत्पत्ति होती है, और इसी से धर्म संकट उत्पन्न होता है। राजधर्म कुछ और कह सकता है तथा व्यक्ति और समाज के हितों में तो रोज ही द्वन्द्व दिखाई देता है। इसीलिए भारतीय चिंतन में अनेक धर्मों की चर्चा की गई है, जो देश, काल, जाति, वर्ण आदि के भेद से अलग-अलग हो सकते हैं। इनके अलावा साधारण धर्म और आपद् धर्म की चर्चा भी की गई है। धर्म के बारे में जितना चिंतन भारत में हुआ है, उतना शायद ही कहीं हुआ हो। पर, इस संदर्भ में यह ध्यान में रखने की बात है कि 'धर्म' शब्द का अर्थ यहा उस धर्म से नहीं है जो आजकल समझा जाता है और अंग्रेजी में जिसे Religion कहते हैं।

धर्म, अर्थ और काम के अलावा पुरुषार्थों के संदर्भ में मोक्ष की भी चर्चा की गई है, और मोक्ष एक प्रकार से इन सब पुरुषार्थों से बिल्कुल ही अलग और भिन्न कोटि का दिखाई देता है, क्योंकि जहाँ धर्म, अर्थ और काम मनुष्य के सहज सांसारिक, सामाजिक और राजनैतिक जीवन से संबंधित दिखाई देते हैं, वहीं मोक्ष पूर्ण रूप से व्यक्तिगत और व्यक्तिनिष्ठ प्रतीत होता है। यही नहीं, मोक्ष जिस 'व्यक्ति' की चर्चा करता है वह कोई देहधारी व्यक्ति प्रतीत नहीं होता और न ही वह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके मन, बुद्धि आदि हो और जो अनेक आदर्शों को अपने व्यक्तिगत जीवन में चरितार्थ करने की कोशिश करता हो। यह तो कुछ इस प्रकार की दृष्टि है जिसके अनुसार यह सारा धर्म, अर्थ और काम द्वारा रचित जगत पूर्ण रूप से अर्थहीन ही नहीं लगता, बल्कि उसकी सत्ता ही बेमायनी हो जाती है। मनुष्य के सारे आयाम इस दृष्टि से देखने पर उसके सही

मार्ग में बाधक ही दिखाई पड़ते हैं। एक प्रकार से यह दृष्टि बौद्ध और जैन परम्पराओं की देन है जिसके प्रवर्तकों ने समाज और राज्य को छोड़कर सत्य की खोज की थी। श्रमण परम्परा का यह पुरुषार्थ भारतीय सामाजिक और राजनीतिक चिंतकों के लिए हमेशा समस्या उत्पन्न करता रहा है और धर्म और मोक्ष के आपसी संबंधों के बारे में मूलभूत विरोधों को जन्म देता रहा है। धर्म की समस्या जहां एक ओर अर्थ और काम से उत्पन्न होती है, वहीं दूसरी ओर वह मोक्ष के पुरुषार्थ से भी जन्म लेती है।

धर्म और मोक्ष के बारे में भारतीय चिंतन कुछ ऐसी पूर्व मान्यताओं से बंधा हुआ है जिनपर यहा थोड़ा-सा ध्यान देना जरूरी है। धर्म जहाँ एक ओर व्यक्ति से संबंधित है, वहीं दूसरी ओर समाज से भी है, और समाज के बारे में भारतीय चिंतन वर्ण व्यवस्था के विचार से इतना बंधा हुआ है । उससे अलग करके उसके बारे में सोचा ही नहीं जा सकता। दूसरी ओर व्यक्ति के बारे में भारतीय चिंतन उसकी उन चार शारीरिक एवं मानसिक व्यवस्थाओं से बंधा हुआ है जो विद्यार्थी और गृहस्थ जीवन से संबंधित है, दूसरी ओर बुढ़ापे की उन अवस्थाओं से जो अनिवार्य रूप में प्रत्येक मनुष्य के सामने उत्पन्न होती हैं और जब वह धीरे-धीरे गृहस्थ और समाज के संबंधों से विलग होता जाता है। बच्चे के बड़े होने पर यह व्यवस्था सहज रूप में उत्पन्न होती है और जिस प्रकार पहली अवस्था को दो भागों में बाँटा गया था उसी प्रकार इस अवस्था को भी दो भागों में बाँटा गया है। आमतौर पर इनको ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास के नाम से जाना जाता है। लेकिन ये नाम गलत हैं, क्योंकि वानप्रस्थ और सन्यास न तो प्रत्येक व्यक्ति लेता है और न परम्परा में इसका प्रत्येक को अधिकार ही दिया गया है, केवल कुछ वर्ण के लोग सन्यास ले सकते हैं, और वानप्रस्थ तो गृहस्थ और सन्यास के बीच की एक ऐसी अवस्था है जहाँ मनुष्य अपने सामाजिक और पारिवारिक संबंधों से धीरे-धीरे अलग होता है। इसका अधिकार भी कुछ वर्णों तक सीमित है। विद्यार्थी जीवन तो सबके ही लिए होता है पर वह भी वर्ण भेद से विभिन्न प्रकार का हो सकता है, और उसे 'ब्रह्मचर्य' का नाम देना बहुत उचित नहीं लगता, विशेषकर उस समाज में जहाँ लड़के-लड़कियों की शादी बहुत कम उम्र में कर दी जाती थी। कहने का अर्थ यह है,कि व्यक्ति के विभिन्न आश्रमों के साधारणतः जो नाम परम्परा में दिए गये हैं और उनके अनुकूल जो आश्रम व्यवस्था की गई है, वह केवल ब्राह्मण वर्ग को ही ध्यान में रखकर की गई है, मनुष्य मात्र को नहीं। लेकिन 'पुरुषार्थ' की बात करना किसी एक वर्ण के व्यक्ति के लिए नहीं हो सकता। वह तो व्यक्ति मात्र के लिए ही होगा। यही नहीं पुरुषार्थ की बात केवल आदमी के लिए ही नहीं वह तो स्त्रियों के लिए भी उतनी ही सार्थक होनी चाहिए क्योंकि पुरुषार्थ तो उनका भी होता है, और होना भी चाहिए। पर क्या स्त्रियों के स्वतंत्र पुरुषार्थ की बात परम्परा में की गई है, और यदि ऐसा नहीं है तो यह उस विचार की कमी ही समझी जायेगी। यही बात वर्णों के पुरुषार्थ के बारे में लागू होती है, क्योंकि यह सहज रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता कि वर्ण केवल चार ही होते हैं और वर्णभेद होने से पुरुषार्थ भेद भी अनिवार्य हो जाता है, अगर हम इन सब बातों की ओर ध्यान दें तो यह स्पष्ट दिखाई देगा कि इन सब विषयों पर पुनः चिंतन की आवश्यकता है, और परम्परा से इन विषयों पर मिलनेवाला चिंतन हमें अधूरा ही

लगेगा। लेकिन परम्परा से की गई इन विषयों पर चर्चा को समझना भी जरूरी है। इसको समझकर ही हम आज के परिप्रेक्ष्य में विचार को आगे बढ़ा सकते हैं। लेकिन ईसा के आसपास की जिन शताब्दियों की हम बात कर रहे हैं, उस समय तक यह चिंतन एक परिपक्व मूर्तरूप ले चुका था और उस समय तक रचे हुए अनेक विभिन्न शास्त्रों ने यह बताने की चेष्टा की थी कि वे केवल शुद्ध बौद्धिक ज्ञान से ही संबंधित नहीं हैं बल्कि वे मानव के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष साधना के अनिवार्य अंग हैं। इसलिए इनको धर्मशास्त्र, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र और मोक्षशास्त्र की कोटियों में भी रखा जाता है। दर्शन शास्त्र अधिकतर अपने को मोक्ष शास्त्र की कोटि में रखता है क्योंकि यह तो सब को पता ही है कि इससे न किसी का 'अर्थ' सधता है न 'काम' और न 'धर्म'। यह विडम्बना क्यों पैदा हुई इसकी ओर कम ही ध्यान दिया गया है। अगर कोई यह पूछे कि गणित शास्त्र को आप किस कोटि में रखेंगे, तो कोई क्या उत्तर देगा। उससे मोक्ष तो मिलती नहीं और न धर्म और काम की सिद्धि होती है। हाँ कोई यह कह सकता है कि व्यापार में गणित कुछ हद तक सहायक होती है, पर शुद्ध गणित का तो उससे कोई लेना-देना नहीं है, और अगर कोई यह कहे कि मनुष्य का हित गणित ज्योतिष के द्वारा होता है क्योंकि वह ज्ञान यह बताता है कि आगे क्या होने की संभावना है तो भी इससे शुद्ध गणित की पुरुषार्थ सार्थकता सिद्ध नहीं होती है। इस प्रकार की समस्या उत्पन्न होने का सीधा कारण यह है कि बुद्धि के स्वतंत्र पुरुषार्थ की परम्परा में कोई चर्चा नहीं है, और न ही ज्ञान प्राप्ति को अलग से शुद्ध पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन पुरुषार्थ चार ही हों यह कोई आवश्यक नहीं है। नये पुरुषार्थों की चर्चा हो सकती है और जिस प्रकार परम्परा ने मोक्ष और भक्ति को नये पुरुषार्थों के रूप में स्वीकार किया था। उसी प्रकार आज के परिप्रेक्ष्य में अब नये पुरुषार्थों की बात हो सकती है। नये पुरुषार्थों में शुद्ध बौद्धिक ज्ञान पुरुषार्थ के रूप में मानने पर दर्शन को मोक्ष शास्त्र के अन्दर मानने की कोई जरूरत महसूस नहीं होगी और जैसाकि हम बाद में देखेंगे कि भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदायों ने अपने को मोक्ष से संबंधित करने की चेष्टा जबरदस्ती ही की थी, क्योंकि सहज रूप में उनका उससे कोई संबंध होना प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार सारी कलाओं की काम शास्त्र के अन्दर चर्चा करना उनके प्रति अन्याय करना है। यही नहीं राज्य व्यवस्था और राज्य शक्ति पर विचार अर्थशास्त्र और उद्योग तथा व्यापार की प्रकियाओं से अलग करके देखना और समझना चाहिए। दोनों को एक ही पुरुषार्थ में रखने से उनके बारे में सही-सही विचार नहीं बनता इसलिए आज अर्थ शास्त्र और राजनीति शास्त्र में गहरा अन्तर किया गया है, लेकिन आज का विचार नीति और धर्म में अन्तर नहीं करता और यह इसकी कमी है। यही नहीं जहां वह राजधर्म की बात तो कुछ-कुछ करता है लेकिन अर्थ क्षेत्र में 'धर्म' की चर्चा बिल्कुल ही नहीं करता। परम्परागत विचार में 'नीति' और 'धर्म' में भेद किया गया है और यह भेद आज के विचार के लिए भी सहायक हो सकता है।

इन प्रसंगों पर हम आगे विशेष चर्चा करेंगे लेकिन विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों के विकास के इतिहास को देखने से पहले हमें कुछ और बातों की ओर ध्यान देना होगा जो ईसा की शताब्दी के आसपास अपना वह रूप ले चुकी थी जिन्होंने भारतीय संस्कृति और विचार को गहरे रूप में प्रभावित किया है।

इस संदर्भ में **श्रीमद्भगवत गीता** नामक ग्रंथ की ओर ध्यान देना ज़रूरी है, क्योंकि उसका प्रभाव उस समय तो इतना अधिक नहीं हुआ था लेकिन ८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शंकराचार्य के इस पर भाष्य लिखने के बाद से उसको एक प्रामाणिक ग्रंथ का दर्जा दिया जाने लगा और जैसे-जैसे **श्रीमद्भागवत** के लिखे जाने के बाद भक्ति का प्रभाव फैलने लगा, वैसे-वैसे उसका महत्व भी बढ़ने लगा। आज तो वह **वेद** और **उपनिषद्** के समकक्ष या उससे भी अधिक महत्व की मानी जाती है। गीता का दार्शनिक महत्व उसके कर्म चिंतन में है, और उस चिंतन को उस समय के परिप्रेक्ष्य में देखने की आवश्यकता है, क्योंकि उसके संदर्भ में ही उसे समझा जा सकता है । लेकिन **गीता** की चर्चा करने से पहले यह बात ध्यान में रखनी ज़रूरी है कि गीताएं अनेक हैं और उनमें से बहुत सी स्वयं कृष्ण के द्वारा **महाभारत** में कही गयी हैं। 'अनुगीता' तो इस प्रसंग में प्रसिद्ध ही है। इस गीता के प्रसंग में एक रोचक बात यह है कि अर्जुन ने कृष्ण से यह कहा था कि उन्होंने युद्ध स्थल में जो उपदेश दिया था, उसको वह भूल गया है और वह उसको फिर से सुनना चाहता है। इस बात से कृष्ण बहुत नाराज़ हुए और उन्होंने अपनी यह नाराज़गी अर्जुन को स्पष्ट शब्दों में बताई भी थी। लेकिन बाद में उन्होंने मित्र होने के नाते उससे यह कहा कि वह तो मुझे भी पूर्ण रूप से याद नहीं लेकिन मैं उसके बजाय तुम्हें कुछ और बताता हूँ! यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि अर्जुन जिसको **महाभारत** के समय कृष्ण ने गीता का उपदेश दिया था, वह उसको भूल गया था। यही नहीं कृष्ण को यह जानकर बुरा लगा कि वह भूल गया। उन्होंने इस भाव को स्पष्ट रूप से व्यक्त किया। यह दोनों बातें सहज और स्वाभाविक है। पर, साधारण मनुष्यों के संदर्भों में ही हम इन्हें ठीक मानते हैं। लेकिन कृष्ण जिन्होंने स्वयं **गीता** के उपदेश में स्थितप्रज्ञ की चर्चा की थी, उनके नाराज होने से ऐसा पता चलता है कि वे स्वयं 'स्थितप्रज्ञ' नहीं थे। अगर होते, तो नाराज क्यों होते ?

इस **अनुगीता** के अलावा एक अन्य गीता भी **महाभारत** में मिलती है और वह भी कृष्ण द्वारा कही गई है। उसका नाम और विषय और भी अजीब है, क्योंकि वह **काम-गीता** के नाम से जानी जाती है और उसमें कृष्ण कुछ इस बात का खण्डन करते प्रतीत होते हैं जो उन्होंने **भगवत गीता** में कही थी। 'काम-गीता' बहुत छोटी है लेकिन उसमें कृष्ण निष्काम होने की संभावना पर ही संदेह करते प्रतीत होते हैं। इस गीता की ओर तो शायद ही किसी ने ध्यान दिया हो, और कम से कम इसकी तो चर्चा हुई ही नहीं है कि वही कृष्ण जिन्होंने निष्काम कर्म का आदर्श गीता में देने की चेष्टा की थी। उन्हीं कृष्ण ने इस गीता में मनुष्य के निष्काम होने की संभावना पर ही प्रश्नचिह्न क्यों लगाया ?

जो कुछ भी हो, गीता की चर्चा **श्रीमद्भगवत गीता** के संदर्भ में ही की जाती है, क्योंकि वही सतत् चिंतन और मनन का केन्द्र रही है। आज के युग में भी तिलक और गांधी जैसे विचारकों ने गीता की व्याख्याएं लिखी हैं और करीब-करीब हिन्दुस्तान के हर शहर में गीता के प्रवचन रोज ही होते रहते हैं। यही नहीं, कुछ लोगों ने तो गीता के अध्यायों का पारायण और उस पारायण के फल पर भी लिखा है । इस प्रकार गीता पाठ बहुत लोगों के रोजमर्रा के जीवन का अंग बन चुका है। गाँधीजी की प्रार्थना सभा में तो स्थितप्रज्ञ वाले अंश का रोज ही पाठ होता

था। **गीता**,**महाभारत** का अभिन्न अंग है, और उसका उपदेश **महाभारत** के युद्ध के प्रारम्भ में दिया गया था। लेकिन सत्य कुछ भी हो, इतना तो साफ ही है कि जैन और बौद्ध परम्पराएं कर्म सन्यास की बात कर चुकी थीं । बुद्ध और महावीर ने अपने आचरण से यह स्पष्ट कर दिया था कि सत्य की प्राप्ति के लिए मनुष्य को गृहस्थ, समाज और राज्य को छोड़ना ही पड़ेगा। यही कर्म के क्षेत्र हैं और इनको छोड़े बगैर चरम सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। यही नहीं, उन्होंने अपने-अपने संघ की भी स्थापना की थी जिसमें लोग संसार छोड़कर सत्य की प्राप्ति की खोज में बुद्ध और महावीर के संग दाखिल होते थे। प्रधान रूप से कर्म सन्यास के यही दो सम्प्रदाय थे, परन्तु इसके अलावा भी सन्यास का मार्ग बढ़ता ही गया और यह मान्यता करीब-करीब सर्वव्यापी हो गई कि अगर सत्य को प्राप्त करना है तो संसार को छोड़ना ज़रूरी है। सन्यास को चौथे आश्रम के रूप में वैदिक परम्पराओं में स्वीकार किया जाना इस बात का एक स्पष्ट द्योतक है और यही बात मोक्ष को चौथे पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करने से सिद्ध होती है। इस संदर्भ में एक बात ध्यान देने की है कि जैन और बौद्ध परम्पराएं सन्यास को चौथे आश्रम के रूप में इस तरह से नहीं मानतीं कि वह मनुष्य तीन आश्रम व्यतीत करने पर ही चौथे आश्रम में प्रवेश करता है और न ही निर्वाण या सिद्धि को मोक्ष की तरह चौथे पुरुषार्थ के रूप में मानती हैं। वह तो यह मानती हैं कि कोई भी मनुष्य कभी भी भिक्षु या मुनि बन सकता है और उनके लिए जीवन का एक ही लक्ष्य है और वह है निर्वाण प्राप्त करना या कर्म का पूरा क्षय। इसके द्वारा ही महावीर के अनुसार सिद्धि प्राप्त होती है। आज भी जैन सम्प्रदाय में बाल दीक्षा दी जाती है और भिक्षुक संघ में भी ऐसा होता था। हालांकि बुद्ध ने अपने पिता शुद्धोदन को यह वचन दिया था कि वे संघ में बालकों को भिक्षु के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे।

वैदिक परम्परा में जब सन्यास को चौथे आश्रम के रूप में स्वीकार किया गया और मोक्ष को चौथे पुरुषार्थ के रूप में, तब से ही यह समस्या उत्पन्न हुई थी कि क्या सन्यास आश्रम में प्रवेश तभी किया जा सकता है, जब मनुष्य गृहस्थ धर्म का पालन कर चुका हो ? यह बात अनेक बार उठी है और आचार्य शंकर के बारे में तो यह प्रसिद्ध कथा है कि उन्होंने बगैर गृहस्थ का पालन किए सन्यास में प्रवेश किया था। यह सवाल भी बराबर उठता रहा है कि मोक्ष के पुरुषार्थ का धर्म, अर्थ और काम से क्या संबंध है ? इसका कोई समुचित उत्तर अभी तक मिला नहीं है।

वैदिक परम्परा में साधना की जो परम्परा थी वह उस कर्म सन्यास की परम्परा से भिन्न थी जो बुद्ध और महावीर के संघों में मिलती है। इस प्रकार की कर्म-सन्यास की इन परम्पराओं का विरोध वैदिक परम्परा ने हमेशा किया था। वैदिक परम्परा के ऋषि गृहस्थ आश्रम में रहते थे। बादरायण उपनिषद के प्रसिद्ध ऋषि याज्ञवल्क्य के दो पत्नियाँ थीं हालांकि उन्होंने संसार छोड़ने की बात कही है पर उन्हें ब्रह्मज्ञान पहले ही हो चुका था। वे बुद्ध और महावीर की तरह ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए संसार को नहीं छोड़ना चाहते थे। उन्हें तो संसार में रहते हुए ही ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो चुका था। यह बात राजा जनक के बारे में सत्य भी है, जिनकी सभा में याज्ञवल्क्य ने ब्रह्म की चर्चा की थी। राजा जनक स्वयं राजऋषि कहलाते थे और उन्हें ब्रह्मज्ञान था। उनकी स्थितप्रज्ञता का वर्णन गीता में हुई स्थितप्रज्ञ की चर्चा से मिलता है और जनक का नाम **गीता** में उदाहरण के

रूप में लिया गया है। लेकिन यह सब होते हुए भी, वैदिक परम्पराओं में ज्ञान और यज्ञ-केन्द्रित साधनाओं के विषय में गहरा मतभेद था। इस युग में प्रायः **ब्रह्म** ज्ञान की चर्चा है, जिसके द्वारा ही अंतिम् सत्य की प्राप्ति होती है। दूसरी ओर वैदिक परम्परा में यज्ञ की प्रधानता थी जिससे अमरत्व की प्राप्ति होती थी। अमृत की प्राप्ति के अलावा और भी अनेक वांछित फल इन यज्ञों के द्वारा मिलते थे। चक्रवर्ती होने के लिए राजसूय और अश्वमेध यज्ञ आदि का वर्णन है। इनके अलावा रोजमर्रा की सुबह-शाम की संध्या हरेक ब्राह्मण के लिए अनिवार्य समझी जाती थी और गृहस्थ आश्रम का आरम्भ भी अग्नि की स्थापना से शुरू होता था। इस सबको ही कर्मकाण्ड की संज्ञा दी जाती थी और वैदिक परम्परा में होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति का यह धर्म माना जाता था कि वह इसका पालन करे।

इन दोनों परम्पराओं में गहरा विरोध था और गीता में यह विरोध खुलकर सामने आता है, क्योंकि वहाँ इन स्वर्ग देने वाली कर्म-केन्द्रित यज्ञों की खुलकर निन्दा की गई है। लेकिन इस निन्दा के बावजूद यज्ञ के अन्य अर्थों पर भी **गीता** में विचार हुआ है, इसके पहले इस तरह का विचार ब्राह्मण ग्रंथों में भी मिलता है। बहुत पुराने समझे जाने वाले **जैमिनी ब्राह्मण** में याज्ञवल्क्य से यह पूछे जाने पर कि कुछ भी न हो तो यज्ञ कैसे किया जाए? वे कहते हैं अगर ऐसी अवस्था आ जाए जब कुछ भी न हो तो सत्य की आहुति श्रद्धा में देनी चाहिए। इसके पहले उन्होंने कई अन्य विकल्प सुझाये थे जब यह न हो तो क्या किया जाए, उन्होंने अन्य चीजों को आहूति में देने की चर्चा की थी। 'सत्य' की 'श्रद्धा' में आहूति देने की बात बड़ी अजीब लगती है, पर ध्यान से सोचने पर ही कुछ-कुछ ऐसा अर्थ आभासित होता है जो इसमें छिपे हुए गहरे अर्थ की ओर संकेत करता है। श्रद्धा का अर्थ उस असीम, अनन्त, अदृश्य, अग्राही शक्ति से है जो मन और बुद्धि से परे है; जिसका ज्ञान सिद्धान्ततः हो ही नहीं सकता और इसलिए जो केवल विश्वास का ही विषय हो सकता है और जिसमें आस्था होने पर, श्रद्धा उत्पन्न होती है। याज्ञवल्क्य के कहने का मतलब ऐसा प्रतीत होता है कि अंतिम त्याग, अंतिम आहूति, किसी आस्था और श्रद्धा में उस सब ज्ञान की है, उस सब सत्य की है जो इंद्रिय, मन, बुद्धि आदि से प्राप्त होता है, और यही मनुष्य की अंतिम आहूति है। इसी से 'यज्ञ' सम्पूर्ण होता है।

लेकिन यह सब होने पर भी, यज्ञ का साधारण अर्थ वही था जो श्रौत सूत्रों में लिया गया है और जिनके बारे में **मीमांसा सूत्रों** में विशद चर्चा की गई है। लाक्षणिक अर्थ कितने ही हों, या व्यजंना से उसका अर्थ कुछ भी लिया जाए, अभिधा से तो उसका अर्थ सब वही लेते हैं जो इन ग्रंथों में लिखा गया है और जिन्हें करने की विधि इनमें बताई गई है। दूसरी ओर उपनिषदों में इस सब को निरर्थक बताते हुए **ब्रह्म** ज्ञान की चर्चा की गई है जिससे ही उस अंतिम सत्य की प्राप्ति होती है जिससे मनुष्य को अखण्ड शान्ति और आनन्द प्राप्त होता है। इस संदर्भ में यह ध्यान रखने योग्य है कि **छान्दोग्य उपनिषद** में नारद जब उन सब विधाओं का वर्णन करते हैं जो उन्होंने जान ली थीं, लेकिन जिन्हें जानने से उन्हें शांति प्राप्त नहीं हुई थी, उनमें चारो वेदों के ज्ञान का भी नाम लिया गया है। कहने का अर्थ यह है कि उपनिषदों में ही वेद-विरोधी प्रवृत्ति मिलती है, हालांकि वे स्वयं वेद का अंग माने जाते हैं। **ब्रह्म सूत्र** में इसी ब्रह्म ज्ञान केन्द्रित परम्परा को

सुव्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया गया है, जैसा कि **मीमांसा सूत्रों** में कर्म केन्द्रित विचार को सुव्यवस्थित करने की कोशिश की गई थी।

इस प्रकार एक ओर जहाँ अवैदिक परम्पराओं में पूरे कर्म सन्यास की बात की जा रही थी और संसार को छोड़ना, सत्य की प्राप्ति के लिए अनवार्य माना जा रहा था वहीं दूसरी ओर वैदिक परम्परा में भी यज्ञ केन्द्रित कर्मकाण्ड के प्रति अरुचि बढ़ती जा रही थी और उसका प्रत्यक्ष विरोध किया जा रहा था। यज्ञ का विरोध एक प्रकार से गृहस्थ आश्रम का मूल रूप में विरोध था, क्योंकि अग्निहोत्र, नित्य कर्म, गृहस्थ धर्म का आवश्यक अंग था। इसलिए यज्ञ का विरोध एक प्रकार से संसार में रहने का विरोध था, जैसा कि बाद में इस बात से साबित होता है कि जो सन्यास लेता है उसे इस प्रकार के अग्निहोत्र करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती।

गीता में कर्म की चर्चा को इस परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए क्योंकि वह कर्म के विषय में होने वाले चिंतन को यहीं से आगे बढ़ाने की चेष्टा करती है और वह यह प्रश्न उठाती है कि क्या कर्म अपने आप में ही मोक्ष का बाधक है और इसलिए उसका मूलतः त्याग जरूरी है। इस संदर्भ में **गीता** एक नये विचार को प्रस्तुत करती है और कहती है कि कर्म स्वयं बंधन का कारण नहीं होता; बंधन मन की आसक्ति के कारण होता है। मन में ही वासना जन्म लेती है और उस वासना से ही मनुष्य का कर्म परिचालित होता है और ऐसा कर्म काम, लोभ, मोह आदि से ग्रसित होकर मनुष्य की चेतना के बंधन का कारण बनता है। धीरे-धीरे हम अपनी पहचान खो बैठते हैं और कर्म से रचे हुए जगत में ऐसे बंध जाते हैं जैसे मछली भोजन के लोभ से जाल में फँसती है। इसलिए कर्म के बंधन से छूटने का उपाय कर्म को छोड़ना नहीं है, पर उस वासना को छोड़ना है जिससे कर्म परिचालित होता है; उस फल के प्रत्येक लोभ और मोह को छोड़ना है जिसके लिए कर्म आमतौर पर किया जाता है। अगर लोभ और मोह नहीं है, तो बंधन भी नहीं है। **गीता** इस संदर्भ में एक और बात भी कहती है, और वह यह कि कर्म को मनुष्य छोड़ ही नहीं सकता, थोड़ा बहुत कर्म तो जीवन यात्रा के लिए अनिवार्य है। इसलिए सवाल कर्म को छोड़ने का नहीं है, पर यह है कि कर्म कैसे किया जाए? इसलिए **गीता** में 'योग' की एक परिभाषा 'कर्म-कौशल' के रूप में दी गई है। कर्म का यह 'कौशल' क्या है? गीता के अनुसार यह 'कौशल' कर्म को इस प्रकार करने में निहित है कि वह बंधन का कारण न बने, चेतना को विषयों के लोभ और मोह में फँसने नहीं दें। 'काम' का अर्थ ही विषयों के प्रति लोभ और मोह से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति है और यही चेतना के बंधन का कारण बनती है। अगर मन इस प्रवृत्ति को छोड़कर कर्म करे तो वह बंधन का कारण नहीं बनेगा। इसी को **गीता** में निष्काम कर्म कहा गया है।

गीता में और भी बहुत सी बातें हैं। ज्ञान, भक्ति और कर्म के समन्वयन की चेष्टा भी की गई है, लेकिन उसकी हम चर्चा अभी यहा नहीं करेंगे। यहाँ तो केवल उस चर्चा की ओर ध्यान दिलाना था जो ज्ञान और कर्म के संबंधों के बारे में वैदिक और अवैदिक परम्पराओं में ईसा से प्रारम्भ होने वाले युग में हो रही थी और यह देखना था कि **गीता** ने किस प्रकार उस चिंतन को नयी दिशा देने की कोशिश की? यह कोशिश केवल **गीता** ने ही की हो ऐसा नहीं था। उसी समय एक

दूसरी कोशिश बौद्ध परम्परा में भी विकसित हुई जिसे महायान के नाम से जाना जाता है और जिसने मनुष्य के एक नये आदर्श और एक नये पुरुषार्थ की बात की, जिसकी ओर भारतीय चिंतन में बहुत ही कम ध्यान दिया गया है। यह आदर्श 'बोधि सत्व' था और मनुष्य के सामने एक नये पुरुषार्थ के रूप में रखा गया था। इसकी प्रेरणा बुद्ध के उस आचरण में थी जिसमें उन्होंने निर्वाण की प्राप्ति के बाद भी मनुष्य के कल्याण के लिए जगत में लौटना स्वीकार किया और सारनाथ में पहला उपदेश देकर संसार में धर्म चक्र प्रवर्तन किया। बोधि सत्व का आदर्श मनुष्य की चेतना को अन्य केन्द्रित बनाता है और उसको ऐसा आदर्श पुरुष होने की प्रेरणा देता है जो संसार के कल्याण के लिए अनवरत चेष्टारत रहता है, जिसकी साधना ही 'पारमिताओं' की साधना है। ईसा से प्रारम्भ होने वाले युग के आस-पास बौद्ध परम्परा में जो अनेक पारमिता ग्रंथों की रचना हुई, वह इसका प्रबल प्रमाण है। उस समय मनुष्य का यह नया आदर्श काफी फैल चुका था। बोधि सत्व होने के लिए मनुष्य को किन अनेक पारमिताओं की साधना करनी पड़ती थी और जन्म जन्मान्तर की साधनाओं के बाद वह बोधि सत्व इस काबिल होता था कि वह संसार का कल्याण कर सके। बोधि सत्व का आदर्श और इससे संबंधित पारमिताओं की साधना के बारे में भारत में बहुत ही कम चर्चा हुई, और इसकी गीता के निष्काम कर्म सिद्धान्त से तुलना तो शायद किसी ने की ही नहीं है। लेकिन अगर हम उस समय के बौद्धिक वातावरण को देखें और उसमें कर्म सन्यास और कर्म योग के विषय में जो चर्चा हुई थी उसकी ओर ध्यान दें तो ऐसा लगेगा कि बोधि सत्व का आदर्श कुछ-कुछ वही करने की चेष्टा करता है जो गीता के निष्काम कर्म का विचार करता है। लेकिन दोनों में एक अन्तर तो रहता ही है और वह यह कि धर्म के लिए युद्ध करने की जरूरत और उस युद्ध में हिंसा की अनिवार्यता पर बोधिसत्व केन्द्रित परम्परा में कोई विचार नहीं किया गया है। वास्तव में समाज, राज्य और अर्थ की समस्याएं कर्म सन्यास केन्द्रित विचार में उठती ही नहीं हैं और जिन लोगों ने इन पर विचार किया है वे कभी सन्यास के विचार को स्वीकार कर ही नहीं सकते। फिर भी, बोधि सत्व का आदर्श और उससे संबंधित पारमिताओं की आवश्यकता को समझना जरूरी है क्योंकि उन्होंने भारतीय परम्परा में एक नये आदर्श और एक नये पुरुषार्थ को जन्म दिया था।

कर्म सिद्धांत ने अनेक रूप लिए हैं पर इन सब के मूल में एक यह भावना है कि अगर संसार में कोई धर्म व्यवस्था है तो यह नैतिक दृष्टि से अक्षम्य होगा कि मैं किसी दूसरे के किये कर्मों का फल भोगूँ क्योंकि जो मैंने किया ही नहीं है, उसका फल मुझे क्यों भोगना पड़े। यह बात सब दृष्टि से उचित ही प्रतीत होती है, लेकिन इसके एक पक्ष की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया, वह यह कि अगर कोई मेरे सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता तो मैं भी किसी के सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता और मेरा यह समझना कि मेरे इस कर्म से किसी अन्य का श्रेय या प्रेय सिद्ध हो सकता है, यह एक बड़ी भारी भूल पर ही आधारित हो सकता है। लेकिन यदि मैं किसी के सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता, मैं किसी की कोई मदद नहीं कर सकता, उसका कोई भला या बुरा नहीं कर सकता और न कोई मेरे बारे में ही ऐसा कुछ कर सकता है, तो फिर धर्म कहाँ रह जाएगा ? न मैं किसी के लिए कुछ कर सकता हूँ, न कोई मेरे लिए कुछ कर सकता

है। इस चिंतन के अनुसार तो नैतिक आचरण एक तरह से असंभव ही हो जाएगा और धर्म की जड़ ही नष्ट हो जायेगी। हम सारे जगत में नैतिक या धार्मिक व्यवस्था देखने चले थे लेकिन उस खोज का नतीजा यह निकला कि वास्तव में धर्म या नैतिकता हो नहीं सकती। हाँ मैं अपने लिए कुछ जरूर कर सकता हूँ, पर धर्म का यह अर्थ कितना अजीब है, इस पर भारतीय चिंतकों ने अभी तक भी कुछ ध्यान दिया ही नहीं है।

इस दृष्टि से देखने पर कर्म का सिद्धांत हमें स्वकेन्द्रित बना देता है और हम या तो अपने पाप-पुण्य का लेखा-जोखा बनाते रहते हैं, या अपनी चेतना को शुद्ध करने में लगे रहते हैं। दूसरे तो केवल निमित्त मात्र हो जाते हैं, और अगर मैं उनके प्रति कोई अच्छा व्यवहार भी करता हूँ तो भी वह या तो पुण्य कमाने के लिए होता है या चित्त शुद्ध करने के लिए। इस प्रकार की दृष्टि भारतीय चेतना में गहरी जड़ें जमा चुकी है और यह कहना मुश्किल होगा कि कोई चिन्तन या व्यवहार इससे प्रभावित नहीं है। दूसरी ओर, यह भी देखने में आता है कि बहुत सारा कर्म—व्यापार इससे विरोधी मान्यता पर आधारित प्रतीत होता है। श्राद्ध की ही बात लें, तो इसमें जो हम करते हैं उसका फल हमारे पितरों को मिलता है। यही नहीं, अनेक ऋणों से उऋण होने की बात इतने व्यापक रूप में प्राचीन भारतीय संस्कृति में मिलती है, उसका मूल भी यही है कि किसी ने हमें कुछ दिया था या हमारे लिए कुछ किया था और इसलिए हमें उसके बदले में कुछ करना चाहिए। संकल्प करके अपने किए हुए पुण्य का फल दूसरों को देना इसी कोटि में आता है। और अधिक गहराई से देखने पर सिद्ध पुरुष अपने शिष्यों को जो मार्ग बताते हैं या उपदेश देते हैं वह भी कुछ इसी तरह की बात है। भक्ति के संदर्भ में तो भगवत कृपा का विचार इसी विश्वास पर आधारित है कि भगवान हमारे लिए कुछ कर सकते हैं, उसके लिए हमारे किए हुए कर्म कोई विशेष बाधा प्रस्तुत नहीं करते। गीता में स्वयं कृष्ण ने कहा भी है कि 'अहम् त्वाम् सर्व पापेभ्यः मोक्षयिष्यामि मा शुचः'।

यह दोनों कर्म के संदर्भ में परस्पर विरोधी विचार परम्परा में मिलते हैं, पर न तो इन दोनों में विरोध देखा गया है, और न इस विरोध को समाप्त करने की कोशिश नज़र आती है। हाँ कुछ हद तक यह सत्य है कि मीमांसा सूत्रों में कुछ स्थानों पर कर्म के सिद्धांत को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है और इसका उत्तर देने की कोशिश की गई है। लेकिन मीमांसा जो भी श्रुति में है उसको अक्षरशः स्वीकार करता है इसलिए उसका ध्यान केवल इसी पर केन्द्रित है कि इस संदर्भ में श्रुति का क्या मतलब है और वह उसे ही सिद्धांत के रूप में प्रतिपादित करता है, उसका अपना कोई कर्म के बारे में स्वतंत्र सिद्धांत नहीं है। इसलिए जहाँ श्रुति कहती है कि यज्ञ का फल यजमान ऋत्विकों दोनों को मिलता है वहाँ वह यह स्वीकार करती है, और जहाँ वह यह कहती है कि यज्ञ का फल केवल यजमान को मिलता है, ऋत्विकों को नहीं, वहीं वह इसे स्वीकार कर लेती है। उसका इस प्रश्न से कोई संबंध नहीं है कि यज्ञ तो ऋत्विक करते हैं फिर उसका फल यजमान को कैसे मिल सकता है ? दूसरी ओर अगर यह माने कि ऋत्विकों को तो दक्षिणा देकर यज्ञ करने के लिए बुलाया गया है इसलिए जो भी वह करते हैं उसका फल उन्हें स्वयं

नहीं मिलता, तो यह साधारण दृष्टि से तो ठीक लगता है पर कर्म के सिद्धांत के अनुकूल कैसे बैठेगा ? इस पर कोई विचार नहीं हुआ दिखाई देता है।

कर्म के संबंध में भी इन विरोधी विचारधाराओं में कोई समन्वय हो भी सकता है या नहीं, यह कहना मुश्किल है। लेकिन इतना तो ज़रूर कहा जा सकता है कि अपने शुद्ध और प्रखर रूप में कर्म का सिद्धांत भारत में दार्शनिक परम्परा का एक अनिवार्य अंग रहा है, यही नहीं इसने पूर्व जन्म और पुनर्जन्म के सिद्धांतों को भी जन्म दिया है, क्योंकि जब तक हम यह नहीं माने कि कोई पूर्व जन्म था जिसमें हमने कुछ कर्म किये थे, तब तक ये कैसे समझा जा सकता है कि जन्म के समय ही मनुष्यों में अनेक भेद होते हैं और वह भेद शारीरिक या मानसिक दृष्टि तक ही सीमित नहीं होते, बल्कि परिवार, भाषा, संस्कृति, देश और काल आदि तक भी फैले रहते हैं। हमने मीमांसा की चर्चा करते समय अपूर्व और अदृष्ट की बात की थी और उनका संबंध पहले और बाद में होने वाले जन्म से स्थापित किया था। इस प्रकार भारतीय धर्म और पुरुषार्थ चिंतन गहरे रूप में कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत से जुड़ा हुआ है और यह चिंतन प्रारम्भ से ही दृष्टिगोचर होता है। बाद की अन्य धाराओं ने इसको नई दिशाएं देने की कोशिश की, लेकिन ये कहना मुश्किल है कि ये प्रयास कहाँ तक सफल हुए । परन्तु कर्म या पुनर्जन्म का सिद्धांत कोई नियतिवाला सिद्धांत नहीं हैं क्योंकि वह कभी भी यह नहीं कहता कि मनुष्य में कर्म स्वातंत्र्य नहीं है। मनुष्य केवल भोक्ता मात्र मात्र है, कर्ता नहीं ऐसा उसने कभी नहीं माना । प्रश्न कर्म स्वातंत्र्य का नहीं है, वह तो यह कि इस स्वातंत्र्य में 'अन्य' की क्या भूमिका है ? विशेषकर, जबकि अन्य भी 'स्वतंत्र' हों। स्वतंत्र व्यक्तियों के आपसी संबंधों की समस्याओं पर भारतीय चिंतन में शायद ही कभी कोई ध्यान दिया गया हो। इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि ध्यान दिया भी नहीं जा सकता। आज के परिप्रेक्ष्य में इस चिंतन की ओर ध्यान देने की गहरी आवश्यकता है, और इसकी जरूरत है कि कर्म संबंधी भारतीय चिंतन इस प्रकार इन नयी समस्याओं को अपने में समाहित करे जो अनेक स्वयं मनुष्यों के पुरुषार्थों के आपसी संबंधों से पैदा होती है।

3

भारतीय दार्शनिक चिंतन परम्पराओं की मूल समस्याएँ और उनके परस्पर संबंध

भारत में दर्शन की कहानी को आगे बढ़ाने से पहले हम, यह जानने के लिए पीछे की ओर देखें को ईसा के आसपास की शताब्दियों तक क्या हो चुका था ? इस समय तक, जैसाकि हम पहले बता चुके हैं, वैदिक परम्परा में संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद की रचना के साथ-साथ जिन ग्रंथों को वेदांग व उप- वेदों की संज्ञा दी जाती है उनकी भी रचना हो चुकी थी। उन्हीं के साथ उन सूत्र ग्रंथों की भी रचना हो चुकी थी जो वेद के विभिन्न अंगों से संबंधित थे जैसे श्रौत सूत्र आदि। इन्हीं के साथ गृह्य सूत्र और धर्म सूत्र आदि की भी रचना हो चुकी थी जो मनुष्य के गृहस्थ और सामाजिक जीवन से संबंध रखते थे। इनके अलावा अनेक शास्त्रों की रचना भी हो चुकी थी जिनमें पाणिनि का व्याकरण शास्त्र जो अष्टाध्यायी के नाम से प्रसिद्ध है, भरत का नाट्य शास्त्र, और कौटिल्य का अर्थशास्त्र सबसे प्रसिद्ध थे, इन्हीं के साथ तण्डु के नट सूत्रों की चर्चा है जो नृत्य से संबंध रखते थे। दर्शन के क्षेत्र में मूल सूत्रों की रचना की जा चुकी थी जिनका विस्तार से वर्णन हम पहले कर चुके हैं। इन्हीं के साथ **काम शास्त्र** और **स्मृति ग्रंथों** की रचना भी प्रारम्भ हो चुकी थी। इस प्रकार भारत की परम्परा में मनुष्य के भिन्न-भिन्न आयाम से संबंध रखने वाले सभी शास्त्रों की रचना हो चुकी थी और अब उस नये युग का श्रीगणेश होता है जो इनके परिप्रेक्ष्य में ज्ञान की विभिन्न विद्याओं को आगे बढ़ाता है। इनके अलावा जैन और बौद्ध आगम से प्रारम्भ होनेवाली परम्पराएं भी विकसित हो चुकी थीं और जैसाकि हम देख चुके हैं उनकी विभिन्न दृष्टियाँ एक ओर अनेकांतवाद में और दूसरी ओर शून्यवाद तक पहुँच चुकी थीं। इन परम्पराओं ने नये पुरुषार्थों और आदर्शों को जन्म दिया था जो मनुष्य को मनुष्येतर प्राणी होने की सम्भावनाओं की ओर ले जाने की चेष्टा करते और यह बताते थे कि मनुष्य केवल सामाजिक प्राणी ही नहीं, बल्कि उसमें कुछ ऐसा 'और' भी है जिसे गृहस्थ, समाज और राज्य की परिधि में बांधा ही नहीं जा सकता और जिसका साक्षात्कार इन सबको छोड़कर ही हो सकता है।

इस नये युग का प्रारम्भ इन मूल ग्रंथों पर लिखे गये भाष्य की परम्परा से प्रारम्भ होता है, और यह परम्परा अनवरत आज तक चलती रही है। इस 2000 साल के समय में क्या परिवर्तन आये और इन परिवर्तनों के क्या कारण थे ? आमतौर पर लिखे गये इतिहास इन बातों को कुछ ऐसे बताते हैं जैसे शुरू से ही ये विभिन्न दर्शन अपनी एक ऐसी पूर्ण अवस्था में पहुँच गये थे

जिसमें कोई परिवर्तन ही नहीं हो सकता था । इतना बड़ा अन्याय भारतीय चिंतन परम्परा के साथ शायद ही किसी और ने किया हो। हाँ, शायद इससे भी बड़ा अन्याय यह है कि इन विभिन्न दार्शनिक दृष्टियों को इस प्रकार से रखा जाता है जैसे इनमें आपस में कोई संबंध ही नहीं हो और जैसे इनका एक दूसरे पर कोई प्रभाव ही नहीं हुआ है । यह उतना ही गलत है जितना कि यह मानना कि इन परम्पराओं में कोई परिवर्तन ही नहीं हुआ है। पर, 'चिंतन' की इन परम्पराओं को आपस में संबंधित रूप में देखने की कोशिश तभी सफल हो सकती है जब हम इनको अलग-अलग दार्शनिक दृष्टियों के रूप में न देखकर इन्हें इस रूप में देखें कि वे सब एक साथ मिलकर किन समस्याओं से जूझ रहे थे ? जब तक हमें यह स्पष्ट नहीं होगा कि वे समस्याएँ क्या थीं जिनका उत्तर ये सब अलग-अलग तरह से देने की कोशिश कर रहे थे। तब तक हम इनके उत्तरों के वैशिष्ट्य को समझ ही नहीं पायेंगे। इस कहानी को नये ढंग से देखने के लिए यह समझना जरूरी है कि वह कौन सी समस्याएं थीं जो उस समय सबके चिंतन का केन्द्र बिन्दु बन चुकी थी? यह समझने के लिए हमें फिर वैदिक और अवैदिक परम्पराओं के आपसी संबंधों की ओर एक बार फिर ध्यान देना होगा।

भगवान बुद्ध से प्रारम्भ होने वाली चिंतन की परम्परा ने भारतीय दर्शन के क्षेत्र में एक ऐसी समस्या को उत्पन्न किया जो कम से कम डेढ़ हजार साल तक उसको किसी न किसी रूप में प्रभावित करती रही और वह दृष्टि यह थी कि 'सत्त्व' नाम की कोई चीज़ है ही नहीं, जिसके बारे में हम यह कह सकें कि वह वास्तव में है, क्योंकि जो कुछ भी है वह क्षणिक है और इसलिए उसके बारे में यह कहना कि वह 'यह है' असंभव है। अगर 'सत्त्व' या 'सत्' कोई चीज़ नहीं है, सब कुछ क्षणिक है तो हमारा यह कहना कि अमुक वस्तुएं हैं यह वास्तव में अज्ञान और भ्रम के कारण ही हो सकता है। लेकिन यह बात केवल वस्तुओं पर ही लागू नहीं होती, मनुष्य के बारे में भी यह बात उतनी ही सच है जितनी जगत के बारे में। मनुष्य के बारे में यह मानना कि आत्मा जैसी कोई चीज़ है जो नित्य द्रव्य के रूप में रहती है और जिसमें बौद्धिक या मानसिक गुण पाये जाते हैं, वैसी ही भ्रममूलक धारणा है जितना कि यह मानना कि सतत प्रवाहमान क्षणों के पीछे कोई नित्य वस्तु है। 'नित्यता' का इतना बड़ा खण्डन संसार के इतिहास में शायद कभी भी नहीं हुआ है। यह ठीक है कि ग्रीक दार्शनिक 'हेराक्लाइटस' के बारे में यह कहा जाता है कि उसने कुछ-कुछ इस प्रकार के मत का प्रतिपादन किया था। परन्तु यदि यह सत्य भी है, तो भी इसमें संदेह नहीं किया जा सकता कि उसका ग्रीक दर्शन पर कोई गहरा प्रभाव नहीं हुआ, और न ही उसने किसी ऐसी चिंतन परम्परा को जन्म दिया जो उसके बाद के आनेवाले दार्शनिकों ने आगे बढ़ाई हो ।

'नित्य-अनित्य' का यह प्रश्न बुद्ध के बाद भारतीय चिंतन का केन्द्रबिन्दु बन गया और करीब-करीब सब दर्शन परम्पराओं ने आत्मा को नित्य द्रव्य के रूप में सिद्ध करने की चेष्टा की । लेकिन जहाँ एक ओर इन्होंने आत्मा को नित्य द्रव्य के रूप में स्वीकार किया वहीं दूसरी ओर संसार की किसी ऐसी नित्य वस्तु को भी मानने की चेष्टा की जो उसी तरह द्रव्य हो, जैसी आत्मा। आमतौर पर यह जड़ पदार्थ के क्षेत्र में उन अणुओं के रूप में मानी गयी जिसका आगे विभाजन नहीं किया जा सकता। लेकिन अणु के नित्य होने की कल्पना और आत्मा की नित्यता

में मूलभूत भेद यह था कि अंगों के मिलने से संसार की सब दृष्टिमान चीज़ें बनती हैं, जबकि आत्मा कोई ऐसा नित्य द्रव्य नहीं जो अपने ही प्रकार के अन्य द्रव्यों के साथ मिलकर एक नयी संरचना बनाता हो। इससे एक ओर जगत की सब वस्तुओं के संबंध में एक नई समस्या उत्पन्न होती है जो 'अवयव- अवयवी' के नाम से जानी जाती है। अगर सब कुछ जो हम जानते हैं वह 'अवयवी' है यानि कुछ अवयवों से मिलकर बना है, और यह 'अवयव' स्वयं 'अवयवी' है तब यह समस्या उठती है कि क्या अन्ततोगत्वा कोई ऐसा 'अवयव' है जो स्वयं 'अवयवी' नहीं है। अणु या परमाणु एक ऐसे ही अवयव का नाम है जो स्वयं 'अवयव' तो है लेकिन 'अवयवी' नहीं। 'अणु' और 'परमाणु' की कल्पना अनेक परम्पराओं में हुई है, लेकिन अगर हम यह मानें कि इन परमाणुओं के संघात के मिलने से नई चीजें बनती हैं तो फिर यह सवाल उठता है कि एक परमाणु का दूसरे परमाणु से मिलकर नई चीज़ बनाने का अर्थ क्या है ? परमाणुओं के भाग तो किए ही नहीं जा सकते, तो फिर एक परमाणु से दूसरे परमाणु का संबंध कैसे समझा जाएगा ? क्या उसमें कोई स्थान भेद मानना होगा ? जिससे कि उसका परमाणु से संबंध हो सकता है। यह सब समस्याएं 'अवयव' 'अवयवी' के विचार को लेकर सदैव रही है और बौद्ध विचार परम्परा ने अपने वस्तु विश्लेषण में इस विचार को प्रधानता दी थी। इसलिए, जिस प्रकार नित्य-अनित्य का विचार भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का केन्द्रबिन्दु बना, वहीं अवयव-अवयवी के संबंधों का विचार भी उसके लिए एक सतत् समस्या रही। यह विचार अधिकतर जड़ परमाणुओं के आपसी संबंधों में हुआ लेकिन चेतन द्रव्य के संबंध में यह बात अधिकांशतः नहीं की गई चेतना को द्रव्य रूप में देखने की कोशिश शायद ही कभी हुई हो। जर्मन दार्शनिक 'लाइबनित्ज़' ने चिद् रूप परमाणुओं की कल्पना की थी और यह कहा था कि जगत उन जड़ परमाणुओं से नहीं बना है जिनके बारे में दार्शनिकों और वैज्ञानिकों ने तब तक सोचा था । जो कुछ भी है वह चिद् रूप में है, हालाँकि उसमें स्तर भेद है। परन्तु इस विचार को परिचय की दार्शनिक परम्परा में भी आगे नहीं बढ़ाया गया। चेतन से जड़ की उत्पत्ति को समझना ही असंभव प्रतीत होता है जितना कि 'जड़' से चेतन को । पर, अगर इन दो विकल्पों में से किसी को भी न माने तो दो ऐसी चरम सत्ताएँ माननी पड़ेगी जो एक दूसरे से पूर्ण रूप से स्वतंत्र हो और, एक जड़ है और दूसरी चेतन। लेकिन ऐसा मानने पर भी कठिनाई हल नहीं होती, क्योंकि तब यह समस्या उठती है कि इन दो सत्ताओं के बीच में संबंध कैसे स्थापित हो सकता है । भारतीय दार्शनिक परम्परा में इस समस्या को किस प्रकार से सुलझाने की कोशिश की इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

भगवान बुद्ध ने जिस दूसरी समस्या को जन्म दिया वह उस 'ज्ञान' के संबंध में थी जो साधारण रूप में हमेशा हमें प्रतिदिन प्राप्त होता है। यह 'ज्ञान' प्रत्यक्ष के संदर्भ में भी उतने ही सहज रूप में प्राप्त होता है जितना कि अनुमान से मिलने वाले ज्ञान के संदर्भ में। प्रत्यक्ष से प्राप्त होने वाले ज्ञान में हमें ऐसी वस्तुओं का आभास होता है जो नित्य न भी हो तो भी परिवर्तनशील नहीं दिखाई देती। उनमें 'स्थिरता' मिलती है और यही स्थिरता उनके प्रति हमारे कर्म का आधार बनती है। इस स्थिरता का आधार बौद्ध चिंतकों ने 'नाम-रूप' में पाया जो अनिवार्य रूप से भाषा के शब्द व्यापार से जुड़ा है। इस तरह ज्ञान के संदर्भ में सतत तथा विकल्प की समस्या उत्पन्न

हुई और यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि नाम—रूप से परे जो सत् है उसका स्वरूप क्या है? बौद्ध दार्शनिकों ने इस संदर्भ में यह कहा था कि 'नाम-रूप' के आधार पर सत के स्वरूप को समझना बिल्कुल भ्रान्तिपूर्ण है, क्योंकि जब कोई भी चीज़ अपने आप में कुछ क्षण के लिए भी स्थिर रह ही नहीं सकती तब उसका कोई 'रूप' कैसे हो सकता है? यदि, किसी वस्तु के होने का अर्थ ही यह है कि वह 'काल' में है और अगर काल नित्य परिवर्तनशील है, तो वस्तु को भी नित्य परिवर्तनशील मानना पड़ेगा। और अगर ऐसा है तो फिर उसका कोई भी रूप होना असंभव होगा। और इसलिए उसकी सत्ता भी केवल क्षणिक ही होगी। जो कुछ भी हम कहते हैं या सोचते हैं, वह सब भाषा में आबद्ध है और इसलिए विकल्प मात्र है। भाषा केवल सामान्य को ही पकड़ सकती है उस अन्त: विशेष को नहीं जो क्षणिक है और नि:सत्व है।

बौद्धों के इस खण्डन ने भाषा और सत् के संबंध की समस्या को उत्पन्न किया और यह प्रश्न उठाया कि क्या भाषा कभी भी सत् को पकड़ सकती है ? दूसरी ओर उसने इस समस्या को जन्म दिया कि उस सामान्य का जो भाषा से अनिवार्य रूप से संबंधित है, उसकी सत्ता किस प्रकार की है, और उसका सत् से क्या संबंध है ? लेकिन ऐसा लगता है कि इस समस्या के एक दूसरे पक्ष की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, और वह थी 'भाषा' की सत्ता की समस्या। आख़िर, भाषा 'कुछ' तो है और अगर है तो फिर उसका अपना सत् क्या है? बौद्ध दार्शनिकों का भाषा चिंतन क्या है, इस पर गहराई से शायद अब तक सोचा नहीं गया है।

एक अन्य समस्या जिसकी ओर स्वयं बुद्ध ने ध्यान दिलाया था वह 'कार्य-कारण' की समस्या थी। जिस प्रकार से उन्होंने इसे देखा और जिस संदर्भ में इसकी चर्चा की उसने इस समस्या की व्यापकता को सीमित ही किया, क्योंकि ऐसा लगता है उसके अन्य संदर्भ देखे ही नहीं गये। बुद्ध का संदर्भ दु:ख के मूल कारण को ढूँढना था और उसका पता लग जाने के बाद मूल रूप से उसका इस प्रकार विनाश करना कि फिर दु:ख की संभावना उत्पन्न ही नहीं हो। यह संदर्भ बौद्ध चिंतन के चार प्रसिद्ध आर्य सत्यों से संबंधित है। इसका दूसरा संदर्भ उस 'प्रतीत्य-समुत्पाद' के सिद्धांत से संबंधित है जिसके अनुसार प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है और स्वयं दूसरे को उत्पन्न करती है। यह 'उत्पन्न होने' और 'जन्म देने' की प्रक्रिया ही कार्य-कारण की क्रिया है, और बुद्ध का कार्य-कारण का सिद्धांत इस संदर्भ में ही समझा जा सकता है। कुछ लोगों की राय में इस सिद्धांत से ही उस सिद्धांत का जन्म होता है जिसके अनुसार सब सत्ता क्षणिक है और जिसे 'क्षणभंगवाद' का नाम दिया जाता है। 'प्रतीत्य-समुत्पाद' का सिद्धांत यह कहता दिखाई पड़ता है कि किसी भी वस्तु को सत् रूप में दिखने पर उसे इस तरह देखना चाहिए कि वह स्वयं में कुछ नहीं हैं बल्कि उत्पन्न हुई है और उसकी अपनी सत्ता इसी बात में है कि वह किसी अन्य को उत्पन्न करे। पर, यदि प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धांत केवल यही कहता है तो उसे कार्य-कारण का सिद्धांत नहीं माना जा सकता है, क्योंकि उस सिद्धांत में यह सवाल उठाया ही नहीं गया है कि जो उत्पन्न हुआ है, वह क्या किसी भी अन्य वस्तु से उत्पन्न हो सकता था या उसके उत्पन्न होने के लिए किसी विशेष परिस्थिति की अनिवार्य रूप में जरूरत थी। इसी प्रकार इस पर भी कोई प्रकाश नहीं डाला गया कि वह किसी भी अन्य चीज़ या स्थिति को उत्पन्न कर

सकती है, या वह सत् को उत्पन्न करने में असमर्थ है और केवल किसी विशेष स्थिति को ही जन्म दे सकती है। जब तक इन सवालों का साफ जवाब नहीं मिलता तब तक केवल यह कहना कि वह किसी अन्य से उत्पन्न हुई है और किसी को जन्म देती है उसे कार्य कारण का सिद्धांत नहीं कहा जा सकता । यही नहीं, इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया गया कि प्रतीत्य-समुत्पाद का दोनों संदर्भों में गहरा अन्तर्विरोध है। आर्य सत्यों के संदर्भ में तो यह स्पष्ट है कि कार्यकारण सिद्धांत हमें यह बताता है कि दु:ख का अन्तिम कारण यही है जो बुद्ध ने बताया था कोई अन्य नहीं, और यह कार्यकारण का ज्ञान हमको यह स्वतंत्रता प्रदान करता है कि यदि उस दु:ख के मूल कारण का ही नाश कर दें तो दु:ख का भी नाश हो जायेगा। यह प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धांत नहीं है : यह तो 'कारणता' का सिद्धांत है जो यह बताता है कि किसी 'कारण' से ही विशिष्ट कार्य की उत्पत्ति होती है और यह जान लेने पर कि अगर हम उस कारण को नष्ट कर दें तो कार्य भी अपने आप सहज रूप में समाप्त हो जायेगा, क्योंकि वह पूर्ण रूप से अपने कारण पर ही निर्भर है।

इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त कार्यकरण के सिद्धान्त से भिन्न प्रतीत होता है । क्योंकि कार्य-कारण का सिद्धान्त केवल यही नहीं कहता कि प्रत्येक वस्तु का हर क्षण में जन्म और नाश होता है, परन्तु यह कि जो कुछ भी होता है उसका कोई विशिष्ट कारण है और यदि हम उस कारण को फिर उत्पन्न करेंगे तो कार्य भी उत्पन्न होगा। कार्य-कारण का सिद्धांत जगत में सतत् प्रवाहमान परिवर्तनशील घटनाओं को स्थायित्व प्रदान करता है और उनको इस प्रकार देखता है कि अगर कार्य में भेद है तो कारण में भी अवश्य भेद होगा और यह कारण पुन:-पुन: उत्पन्न होकर अपने विशिष्ट कार्य को बार-बार उत्पन्न करता है, और इसलिए हमको यह स्वतंत्रता प्रदान करता है कि यदि हम कारण को पुन: उत्पन्न कर सकते हैं तो कार्य भी स्वत: उत्पन्न हो जायेगा।

इस बौद्ध विचार के संदर्भ में और भी अनेक समस्याएं है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस प्रकार बौद्ध दृष्टि ने नित्य-अनित्य की समस्या को उठाया था, उसी प्रकार उसने प्रत्यक्ष रूप से स्थायी प्रतीत होने वाली सत्ता के संदर्भ में नित्य उत्पन्न और विनाश होने वाली सतत प्रक्रिया की ओर भी दार्शनिकों का ध्यान आकृष्ट किया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि 'द्रव्य' के विचार की सम्भावना ही समाप्त हो गई और वस्तुओं के द्रव्य गुण के आधार पर भेद गलत दिखाई दिया। द्रव्य के विचार को नकारने के बाद एक प्रकार से पदार्थ विचार भी स्वयं दोषयुक्त प्रतीत होता है। अगर न द्रव्य है, न स्थायित्व है, न पदार्थ है, न कोई बार-बार होने वाला कारण है जिससे उसी प्रकार के कार्य की बार-बार उत्पत्ति होती है। तो फिर विचार का विषय ही क्या रह जायेगा, और प्रमाण व्यापार का क्या होगा इसलिए बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन ने प्रमाण के विचार का ही खण्डन किया और यह कहा कि प्रमाण व्यापार संभव ही नहीं हो सकता।

इस प्रकार प्रमाण की समस्या भी दार्शनिक विचार का केन्द्र-विन्दु बन गई और नित्य-अनित्य, सामान्य—विशेष, कार्य-कारण आदि के साथ प्रमाण-प्रमेय भी भारतीय दार्शनिक चिंतन का मुख्य विषय बन गया। लेकिन जिस प्रकार बौद्ध दर्शन ने इस दार्शनिक परम्परा को भारतीय

दार्शनिक चिंतन के मूल में रखा, इसी प्रकार उसने जगत और जीवन को, मूलत: दुःख रूप में स्वीकार किया और कर्म सन्यास के द्वारा उस अनादि वासना के मूल उच्छेद की बात कही है, जिसके द्वारा कभी न बुझनेवाली तृष्णा अपने आप समाप्त हो जाती है, जातीय चेतना का अभिन्न अंग बन गई। बुद्ध के बाद करीब-करीब सब दार्शनिक परम्पराओं ने जीवन को मूलत: दुःख से ग्रसित माना और मनुष्य का परम पुरुषार्थ इस दुःख के नाश में ही समझा। इसके पहले वेद या उपनिषदों में ऐसा विचार नहीं मिलता है और इसलिए यह मानना पड़ेगा कि यह दृष्टि मूलतः बुद्ध की ही देन थी।

जैन परम्परा ने कोई विशेष दार्शनिक समस्या दी हो, ऐसा नहीं लगता। हाँ उसने अहिंसा को भारतीय चिंतन के केन्द्र में अवश्य उपस्थित किया। यह ठीक है कि बौद्ध परम्परा में भी अहिंसा का वर्णन है लेकिन वहाँ उसको उस रूप में परम मूल्य नहीं माना गया, जिस तरह जैन परम्परा ने उसे स्वीकार किया। बुद्ध के अनुयायी माँस खा सकते थे, लेकिन महावीर ने इसको पूर्णत: मना किया था। अहिंसा की बात वेद में भी कही गई है पर वैदिक यज्ञ में हिंसा होती थी और पशु बलि दी जाती थी। जैन और बौद्ध परम्पराओं के प्रारम्भ होने के बाद भारतीय कर्म चिंतन का यह मुख्य बिन्दु बना कि क्या यज्ञ में हिंसा होनी चाहिए या नहीं। इसके विषय में चर्चा बहुत काल तक होती रही और यह प्रश्न भी एक तरह से भारतीय चिंतन का मूल प्रश्न बन गया कि अहिंसा का अर्थ क्या है? गीता में इसकी चर्चा विशद रूप में की गई है और यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या धर्म युद्ध जैसी कोई चीज़ हो सकती है और अगर हो सकती है तो उसमें हिंसा का होना अनिवार्य है। इसी तरह यदि आत्मा अमर है तो फिर हिंसा की बात कैसे की जा सकती है, क्योंकि हिंसा से तो शरीर ही नष्ट हो सकता है, आत्मा नहीं। अहिंसा के अलावा जैन परम्परा ने घोर तप का जो आदर्श रखा वह भी भारतीय साधना का एक अभिन्न अंग बन गया। और परम सत् के ज्ञान की साधना, अहिंसा, तप के आदर्श और गहन चिंतन से प्रभावित होती रही। बौद्ध और जैन दर्शन में जो दार्शनिक समस्याएं उत्पन्न हुईं और उनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी अन्य दार्शनिक समस्याएँ थीं जो वैदिक परम्परा में अलग से उत्पन्न हुई थीं। इन सबको हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं--

1. वाक्यार्थ विचार, 2. पदार्थ विचार, 3. प्रमाण-प्रमेय-व्यापार विचार, 4. पुरुषार्थ विचार, 5. रस-व्यापार विचार

इन समस्याओं के अपने अनेक भेद हैं और उन पर आगे चलकर विस्तार से विचार किया जाएगा। लेकिन अभी तो हमें यह देखना है कि मूल सूत्रों की रचनाओं के बाद इन विभिन्न विषयों पर भारतीय परम्पराओं में दार्शनिक चिंतन कैसे आगे बढ़ता है? लेकिन इन परम्पराओं के विकास का वर्णन करने से पहले यह ध्यान में रखना जरूरी है कि जो कुछ भी हम कहेंगे उसमें अपूर्णता अनिवार्य है, क्योंकि भारतीय दार्शनिक चिंतन को इस दृष्टि से अब तक देखा ही नहीं गया है।

'वाक्यार्थ का विचार' जैसाकि हम पहले ही कह चुके हैं, वेद के संदर्भ में शुरू हो चुका था और जैसा कि यास्क के निरुक्त में बताया गया है कि दो विपरीत मत प्रतिपादित हो चुके थे। एक मत वाक्य के अर्थ को क्रिया-केन्द्रित मानता था, जबकि दूसरा संज्ञा केन्द्रित। वाक्य में दोनों का सहयोग जरूरी है, लेकिन झगड़ा इस बात का था कि प्रधानता किसको दी जाए? यास्क ने यह कह कर कि दोनों ही जरूरी हैं झगड़े को खत्म करना चाहा था पर दार्शनिक झगड़े कुछ-कुछ राजनीतिक झगड़ों के समान ही होते हैं, वे इतनी आसानी से समाप्त नहीं किए जा सकते। दूसरी ओर, वाक्य के संबंध में एक समस्या और थी और वह यह कि वाक्य में शब्द तो अनेक होते हैं, पर वे सब मिलकर एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं। अर्थ की एकता शब्दों की अनेकता के द्वारा अभिव्यक्त होती है, और इस प्रकार यह प्रश्न उठता है कि इस अर्थ की एकता का शब्दों की अनेकता से क्या संबंध है? यही नहीं शब्द बोले भी जाते हैं और लिखे भी। लेकिन अच्छा बोला जाए या लिखा जाए, उसके संबंध में एक अजीब बात यह है कि बोला गया शब्द तो बोलने के बाद नष्ट हो जाता है या कम से कम हमको सुनाई नहीं देता। इसी प्रकार लिखे हुए शब्द को भी पढ़ना पड़ता है, हालांकि वह उस प्रकार नष्ट नहीं होता जिस प्रकार बोला हुआ शब्द होता है, परन्तु फिर भी सारे शब्द एक साथ नहीं पढ़े जा सकते और इसलिए जो शब्द पहले पढ़े गए थे वह एक तरह से उसी प्रकार स्मृति में रहते हैं जैसे सुने हुए शब्द। लेकिन यह सच होते हुए भी कि जो शब्द सुना जाता है या पढ़ा जाता है वह सुनने या पढ़ने के बाद एक तरह से हमारी चेतना में स्थित नहीं रहता, फिर भी वह हमें उस 'अर्थ' को पकड़ने में सहायक होता है, जो उन सब शब्दों के मिलने से व्यक्त होता है। इस तरह से देखने पर 'अर्थ' वह 'अभिव्यक्ति' है जो शब्दों के द्वारा व्यक्त होती है। पर वाक्य तो 'एक' नहीं होता; एक वाक्य के बाद दूसरा वाक्य आता है और दूसरे के बाद तीसरा। यह क्रम भी एक तरह से अनन्त है, हालांकि आम तौर पर इसका 'अंत' देखा जाता है। अनेक वाक्य मिलकर जिस 'अर्थ' को अभिव्यक्त करते हैं, वह 'एक' है या 'अनेक'। क्या सारी पुस्तक किसी एक ही बात को कहने में लगी हुई नहीं हैं, और अगर ऐसा है तो क्या वे सब अनेक अलग-अलग दिखनेवाले या सुननेवाले वाक्य 'एक' ही अर्थ को अभिव्यक्त नहीं करते? पर यह बात किसी उस पुस्तक के बारे में ही क्यों सच मानी जाए, जिसे हम 'एक' समझते हैं? क्या यह उन सब अलग-अलग दिखनेवाली पुस्तकों के बारे में सत्य नहीं है जो उस विषय विशेष से संबंध रखती है।

वाक्यार्थ की इस समस्या ने आगे चलकर एक व्यापक रूप लिया जो भाषा और अर्थ के विभिन्न संबंधों से संबंधित थी और जिनको 'शाब्द बोध' के नाम से इंगित किया जाता है और इस संदर्भ में इस बात की भी चर्चा की जाती है कि आखिर शब्द में वह क्या शक्ति है जो हमें 'अर्थ' का ज्ञान कराती है। यही नहीं यह कैसे फैसला होता है कि किसी एक शब्द के बाद केवल कुछ शब्दों का ही प्रयोग किया जाए क्योंकि अगर ऐसा नहीं किया जाता तो कोई अर्थ प्रकट ही नहीं होता। शब्दों के इस क्रम का फैसला किस आधार पर होता है, क्योंकि शब्दों का यह क्रम तो अन्तहीन दिखाई देता जान पड़ता है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा, और इस प्रकार इस अंतहीन प्रक्रिया के नाम को ही हम भाषा का नाम देते है। शब्दों की एक दूसरे के अर्थ को

उत्पन्न करने की योग्यता क्या है ? यही नहीं हम यह भी मानते हैं कि अगर एक शब्द बोला जाए और दूसरा शब्द बहुत काल बीतने के बाद बोला जाए तो उनमें 'योग्यता' होने पर भी शायद ही कोई संबंध स्थापित करेंगे। यही बात लिखने के बारे में भी है। इसी के साथ ही जुड़ी हुई समस्या यह है कि अर्थ के अभिव्यक्त होने में शब्द प्रधान है या वाक्य। दूसरी तरह से कहें तो अर्थ के आशय की समस्या। अर्थ का आशय शब्द है या शब्दों का वह समूह जिसे हम वाक्य कहते हैं। अर्थों के भी अनेक भेद हैं, जैसे मुख्य अर्थ और गौण अर्थ।

इसी प्रकार एक नया भेद अभिधा, लक्षणा और व्यंजना को लेकर किया जाता है। लक्षणा और व्यंजना का प्रयोग साधारणत: काव्य और साहित्य में होता है, लेकिन आम बोल-चाल की भाषा में भी यह प्रयोग होता है। जैसे कोई यह कहे कि 'तुम तो बिल्कुल गधे हो', तो यहाँ गधे शब्द का प्रयोग गधे के अर्थ में न होकर बेवकूफ होने के अर्थ में किया गया है। इस प्रकार का प्रयोग लाक्षणिक या व्यजंनात्मक कहलाता है। यही नहीं शब्दों का अर्थ कई बार तो उससे बिल्कुल भिन्न होता है जो उनका सीधा-साधा स्पष्ट अर्थ है : जैसे कोई कहे कि 'तुम बड़े अफलातून हो', इसका मतलब यह नहीं होता कि तुम कोई प्लेटो के समान महान दार्शनिक हो, बल्कि इसका अर्थ इससे बिल्कुल उल्टा होता है। यही नहीं, बहुत बार शब्दों के अर्थ उनकी ध्वनि पर ही आधारित होते हैं और उनके सांकेतिक अर्थ उन सबसे भिन्न होते हैं जो साधारणतया वे सहज रूप में व्यक्त करते हैं।

इस प्रकार अर्थ की समस्याएं अनेक हैं और भाषा से उसका क्या संबंध है, इस पर भी अनेक मत हैं जिनकी विशद् चर्चा भारतीय दार्शनिक परम्परा में हुई है। लेकिन भाषा संबंधी भारतीय दार्शनिक चिंतन कई ऐसी समस्याओं में भी उलझा रहा है जो उस भाषा विशेष से संबंधित थी जिसके संदर्भ में ही भारतीय दार्शनिक चिंतन उत्पन्न् हुआ और बाद में फला-फूला। यह भाषा, जैसा कि सब जानते हैं, संस्कृत है। संस्कृत में विभक्ति, संधि और समास तीनों अनिवार्य रूप से उपस्थित होते हैं। इसलिए कई बार अर्थ तब तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं किया जा सकता जब तक यह फैसला न कर लें कि संधि को किस तरह तोड़ा जाए और समास को कैसे समझा जाए ? यही बात कभी-कभी विभक्ति के बारे में भी उत्पन्न होती है, खासकर, तृतीया व पंचमी के संदर्भ में। यही नहीं, संस्कृत का व्याकरण पाणिनि से प्रारम्भ हुआ माना जाता है, और पाणिनि ने इसके प्रयोग के संबंध में कई नियम बताए थे, इसलिए अर्थ के बारे में फैसला करने के लिए यह भी निश्चय करना जरूरी हो जाता है कि प्रयोग पाणिनि नियम के अनुसार है या वह उनका उल्लंघन करता है। यह समस्या इस बात से और भी उलझ जाती है कि पाणिनि ने संस्कृत भाषा के नियम ही नहीं बताए थे, बल्कि उन नियमों के अपवाद की भी चर्चा की थी।

भाषा और अर्थ के संबंधों को लेकर अनेकानेक समस्याएं भारतीय दार्शनिक परम्परा में उठी हैं और उनके बारे में विस्तार से विचार किया गया है। साधारणत: इन समस्याओं की विशद् चर्चा व्याकरण, मीमांसा और न्याय तथा अलंकार शास्त्र के नाम से जाने जानेवाली दार्शनिक परम्पराओं में हुई है। लेकिन वेदान्त परम्परा में भी उपनिषद के महावाक्यों को लेकर उनपर

गंभीरता से चिंतन किया गया है, क्योंकि विभिन्न वेदांत सम्प्रदायों के बीच में इन वाक्यों के अर्थ को लेकर ही मतभेद है। 'एकमेव अद्वितीयम् नेह नानास्ति किंचन', 'तत्त्वमसि', 'अहम ब्रह्मास्मि', 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्यों का क्या सही अर्थ है ? इसी के विषय में वेदांत के विभिन्न सम्प्रदायों में मूलभूत भेद है और इसी के संदर्भ में उन्होंने भाषा और अर्थ के संबंध की भी चर्चा की है।

वाक्यार्थ अथवा शाब्द बोध की समस्या की तरह प्रमाण संबंधी भी अनेक समस्याएं हैं जो भारतीय दार्शनिक चिंतन का केन्द्र बिन्दु रही हैं। इसमें पहली समस्या तो यही है कि क्या प्रमाण द्वारा कुछ भी सिद्ध किया जा सकता है और अगर नहीं किया जा सकता तो फिर मनुष्य की बुद्धि इस व्यापार में संलग्न ही क्यों होती है ? और इस बात का निश्चय भी कैसे होगा कि प्रमाणों के द्वारा कुछ भी सिद्ध नहीं किया जा सकता ? क्योंकि इसको सिद्ध करने के लिए भी किसी न किसी तर्क या युक्ति की आवश्यकता होगी। दार्शनिक चिंतन खण्डन-मण्डन के बगैर चल ही नहीं सकता, और इसका आधार हमेशा कोई तर्क या युक्ति ही होती है। हम हमेशा यही कह कर आपत्ति करते हैं कि आपने जो तर्क दिया है उससे वह सिद्ध नहीं होता जो आप कह रहे हैं, या आप जो तर्क दे रहे हैं, यह दोषपूर्ण है। कहने का मतलब यह है कि प्रमाण प्रकिया पर मूलभूत संदेह एक तरह से बुद्धि का आत्महत्या करने का प्रयास ही है क्योंकि अगर यह सफल हो जाता है तो फिर बुद्धि का कोई काम रहता ही नहीं। नागार्जुन ने अपने ग्रंथ **विग्रह-व्यावर्तिनि** और **वैदल्य सूत्र** में सब प्रमाणों का मूलभूत खण्डन करने की कोशिश की थी। लेकिन अगर दार्शनिकों को अपने चिंतन व्यापार में प्रवृत्त होना है तो वे नागार्जुन की बात कभी भी नहीं मान सकते थे और भारतीय दार्शनिक परम्परा में हुआ भी ऐसा ही है। स्वयं बौद्ध दार्शनिकों को भी यह मान्य नहीं था और उनके बाद दिङ्गनाग और धर्मकीर्ति जैसे प्रबल तार्किकों ने **प्रमाण समुच्चय** और **प्रमाण वार्तिक** जैसे प्रसिद्ध ग्रंथों की रचना की है।

प्रमाणों का मूलत: खण्डन अगर स्वीकार नहीं भी करें तो भी यह प्रश्न तो उठता ही है कि प्रमाण कितने हैं ? करीब-करीब सब लोग प्रत्यक्ष को तो प्रमाण मानते ही हैं और अगर बुद्धि की बात है तो, अनुमान को भी प्रमाण रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। यह ठीक है कि चार्वाक के नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक परम्परा में प्रत्यक्ष के अलावा किसी और अनुमान को स्वीकार नहीं किया गया है। लेकिन अगर तर्क और युक्ति की बात एक बार शुरू हो जाए तो फिर यह भी सिद्ध करना पड़ेगा कि आखिर प्रत्यक्ष को भी प्रमाण क्यों माना जाए ? प्रत्यक्ष भी भ्रांति उत्पन्न करता है और अगर ऐसा है तो फिर प्रत्यक्ष को इसलिए प्रमाण नहीं माना जा सकता कि वह प्रत्यक्ष है, क्योंकि उससे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह सदैव भ्रांति रहित नहीं होता। उसका भ्रांत होना भी किसी अन्य प्रत्यक्ष के आधार पर सिद्ध किया जाता है। जैराशि ने इसी आधार पर प्रत्यक्ष को भी प्रमाण रूप में मानने से इकार किया था, और शायद नागार्जुन ने भी इसी आधार पर उसका खण्डन किया था। लेकिन जैसे ही अनुमान की बात होती है, वैसे ही यह प्रश्न उठता है कि क्या तर्क और प्रमाण में कोई अन्तर है, और यदि ऐसा है तो क्या तर्क को अनुमान से अलग प्रमाण मानना पड़ेगा। इसी तरह यह समस्या है कि क्या प्रत्यक्ष और अनुमान के अलावा भी किसी और

प्रमाण को भी मानने की आवश्यकता है ? भारतीय चिंतन परम्परा में इसके अलावा शब्द को भी स्वतंत्र प्रमाण माना है और साधारणतः इसका आधार यह दिया है कि अनुमान अन्ततोगत्वा प्रत्यक्ष पर आधारित होता है और इसलिए जो प्रत्यक्ष से नहीं जाना जा सकता, उसके ज्ञान के लिए किसी अन्य प्रमाण की आवश्यकता होगी और अगर हमें ऐसा कोई ज्ञान होता है तो वह 'शब्द' पर ही आधारित हो सकता है। मीमांसा ने यह बात 'धर्म' के ज्ञान को लेकर कही है, और यह कहा है कि 'क्या करना चाहिए' का ज्ञान कभी भी इस पर आधारित नहीं हो सकता कि 'क्या है'?

आजकल के पश्चिमी दर्शन में इस समस्या को इस तरह उठाया गया है कि क्या कर्म का औचित्य विचार पूर्ण रूप से वस्तुस्थिति से निगमित होता है ? अंग्रेजी में इसे इस तरह कहते हैं कि क्या 'Ought' की बात 'is' के आधार पर की जा सकती है ? लेकिन 'धर्म' या 'Ought' तो केवल उदाहरण मात्र हैं : बात तो यह है कि अगर किसी भी ऐसी वस्तु के ज्ञान की बात की जाए जिसका आधार न तो प्रत्यक्ष हो सकता है, न अनुमान, तो उस ज्ञान का आधार क्या होगा ? भारतीय परम्परा में इस तरह के 'ज्ञान के आधार' को 'शब्द' कह कर इंगित किया गया है। मीमांसा ने शब्द को प्रमाण रूप में स्वीकार करने के लिए, केवल उसी शब्द को प्रामाणिक माना है जो अपौरुषेय हो, जबकि न्याय-सूत्र के रचयिता गौतम ने इसे 'आप्त पुरुष' के उपदेश के रूप में स्वीकार किया है। अपौरुषेयता का अर्थ यह होता है कि वह न तो किसी मनुष्य का वचन है, न ईश्वर का। लेकिन अगर अपौरुषेयता का अर्थ यह लिया जाए, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि शब्द बगैर किसी के बोले हुए ही अभिव्यक्त हो सकता है। लेकिन ऐसा मानने पर यह समस्या उत्पन्न होगी कि वह किसी विशेष भाषा में ही अभिव्यक्त क्यों होता है — और वह भी ऐसी भाषा में जो मनुष्य जाति के एक विशेष वर्ग द्वारा ही समझी जाती है। शब्द के बारे में और भी अनेक समस्याएं है, जिन पर भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में बहुत विस्तार से विचार किया गया है, उनकी चर्चा हम आगे करेंगे। एक तरह से शब्द के स्वतंत्र रूप में प्रामाणिक होने की समस्या इस बात पर निर्भर करती है जो शब्द के द्वारा अभिव्यक्त होता है, वह क्या है ? दूसरी ओर, उसकी प्रामाणिकता इस बात पर भी निर्भर करती है कि वह शब्द किसका है ?

'शब्द बोध' की समस्या का शब्द प्रमाण की समस्या से क्या संबंध है, इस पर अधिक विचार नहीं किया गया है। परन्तु निर्विकल्पक ज्ञान के संबंध में **न्याय सूत्र** में अवयव्देश्यता की बात कही गई है, और बौद्ध दर्शन में तो भाषा के द्वारा जो भी ज्ञात होता है उस सबको 'विकल्प' के ही रूप में माना गया है। क्या कोई ऐसा ज्ञान भी हो सकता है जो शब्द की पकड़ में आ ही नहीं सकता, इसकी भी विशद् चर्चा, विशेषकर भृतहरि के ग्रंथ **वाक्यपदीय** में की गई है।

प्रमाण की चर्चा के अलावा तत्व मीमांसा भी दार्शनिक चिंतन का विषय रही है और तत्व कितने हैं इसकी चर्चा सांख्य और वैशेषिक दर्शन में विस्तार से हुई है। दूसरी ओर जैन दर्शन में इसकी विशद् चर्चा है और कुछ अन्य दर्शनों में भी इस पर कई चर्चाएं हुई

हैं। कई जगह इस प्रकार की तत्व चर्चा को पदार्थ चिंतन का नाम भी दिया गया है। लेकिन 'पदार्थ' शब्द भ्रामक है, क्योंकि 'पद' का प्रयोग साधारणतः भाषा के संदर्भ में ही किया जाता है, और तत्व की चर्चा उस 'सत्' की चर्चा है जो भाषा से स्वतंत्र या कम से कम भाषा पर आश्रित नहीं होता।

पुरुषार्थ की चर्चा उस 'साध्य' की चर्चा है जो मनुष्य को मनुष्यत्व का रूप देती है। इसका गहरा संबंध कर्म से है, क्योंकि कर्म के द्वारा ही किसी साध्य की प्राप्ति हो सकती है इसलिए मानवीय कर्म के संदर्भ में जहाँ एक ओर स्वतंत्रता की बात होती है, वहीं दूसरी ओर उन आदर्शों, मूल्यों या श्रेय की बात भी होती है जिसको चरितार्थ करने में ही कर्म की सफलता मानी जाती है। साधारणतया पुरुषार्थ की चर्चा धर्म और मोक्ष के संदर्भ में की जाती है। धर्म को मनुष्य का व्यावर्तक लक्षण माना है और मोक्ष को उसका चरम साध्य। इनके अलावा अर्थ और काम की भी पुरुषार्थ के रूप में चर्चा की गई है। इस संदर्भ में 'अर्थ' का मतलव एक ओर शक्ति से है, दूसरी ओर सम्पदा से। दोनों ही अर्थों में यह ऐश्वर्य और अभ्युदय से संबंधित है जो एक प्रकार से मोक्ष के पुरुषार्थ के विपरीत समझे गये हैं। बाद में भक्ति को पाँचवें पुरुषार्थ के रूप में भी स्वीकार किया गया था और यह कहा गया था कि यही परम पुरुषार्थ है। इसी संदर्भ में रस की भी चर्चा की गई है और उसको भी पुरुषार्थ के रूप में देखने की चेष्टा परम्परा में मिलती है। रस जहाँ एक ओर मनुष्य की सृजनात्मकता का प्राण है वहीं दूसरी ओर वह उस 'आनन्दमय' कोष से भी संबंधित है जो उपनिषदों में चेतना की चरम अवस्था के रूप में देखा गया है, और जिसको "रसो वै सः" कहकर इंगित किया गया है। रस व्यापार का काम और भावना से गहरा संबंध है और मनुष्य के इस सृजनात्मक पक्ष की चर्चा अलंकार शास्त्र, **नाट्य शास्त्र** और **काम शास्त्र** आदि में की गई है। परन्तु इन शास्त्रों में मनुष्य के इस भावना पक्ष की चर्चा और इससे संबंधित दार्शनिक समस्याओं की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। लेकिन भारतीय दार्शनिक चिंतन परम्परा में विशेषकर भक्ति से संबंधित साहित्य में इस पर गहराई से सोचा गया है।

इन सब विषयों से संबंधित दार्शनिक चिंतन के इतिहास की जो दो हजार वर्ष लम्बी परम्परा है उस पर अब हम थोड़ा अधिक विस्तार से विचार करेंगे। दार्शनिक सूत्रों में सबसे प्रथम सूत्र जैसा कि हम पहले कह चुके है **मीमांसा सूत्र** माना जाता है। साधारणतः इसे जैमिनी द्वारा रचित कहा जाता है, लेकिन यह ठीक नहीं है क्योंकि इन सूत्रों में स्वयं जैमिनी के मत का वर्णन ही नहीं बल्कि उसके मत को पूर्व पक्ष के रूप में रखकर उसका खण्डन भी किया गया है। लेकिन यह किसी की भी रचना हो **मीमांसा सूत्र** का सुव्यवस्थित प्रथम ग्रंथ यही माना जाता है। इस पर पहला भाष्य शबर स्वामी ने लिखा था और शायद दार्शनिक ग्रंथों पर पहला लिखा जाने वाला भाष्य यही है। इसी तरह गौतम के **न्याय सूत्र** जो **मीमांसा सूत्रों** के बाद की रचना के रूप में स्वीकार किए जाते है, उस पर पहला भाष्य वात्स्यायन का लिखा माना जाता है। **वैशेषिक सूत्र** जिनकी रचना **न्याय सूत्रों** के बाद मानी जाती है उन पर कोई सीधा भाष्य तो नहीं मिलता लेकिन उन पर लिखा जाने वाला प्रथम ग्रंथ प्रशस्तपाद का **पदार्थ**

संग्रह उपलब्ध होता है। ब्रह्म सूत्र की रचना मीमांसा सूत्र के कुछ ही बाद हुई थी और जो बादरायण द्वारा रचे माने जाते हैं, उन पर पहला भाष्य करीब-करीब सात सौ साल बाद लिखा गया था और वह शंकराचार्य का जगत प्रसिद्ध भाष्य है। योग सूत्र पर पहला भाष्य व्यास का मिलता है और जैसा हमने पहले कहा कि सांख्य सूत्रों के कुछ अंश बहुत प्राचीन होते हुए भी अपने आधुनिक रूप में बहुत बाद की रचना माने जाते हैं इसलिए सांख्य का पहला प्रामाणिक ग्रंथ ईश्वर कृष्ण की **सांख्यकारिका** माना जाता है। इन मूल ग्रंथों और भाष्यों का काल इस प्रकार है —

मीमांसा सूत्र	25 ईस्वी	जैमिनी (?)
ब्रह्म सूत्र	50 ईस्वी	बादरायण
वैशेषिक सूत्र	100 ईस्वी	कणाद
मीमांसा सूत्र का भाष्य	125 ईस्वी	शबर स्वामिन
न्याय सूत्र	150 ईस्वी	गौतम
वैदल्य सूत्र	150 ईस्वी	नागार्जुन
समय सार	200 ईस्वी	कुन्द कुन्द
योग सूत्र	300 ईस्वी	पतञ्जलि
सांख्यकारिका	350 ईस्वी	ईश्वर कृष्ण
अभिधर्म समुच्चय	350 ईस्वी	असंग
अभिधर्मकोश	360 ईस्वी	वसुबन्धु
तत्वार्थ सूत्र	400 ईस्वी	उमा स्वाति
न्याय सूत्र पर भाष्य	425 ईस्वी	वात्स्यायन
वाक्यपदीय	450 ईस्वी	भर्तृहरि
योग सूत्र पर भाष्य	475 ईस्वी	व्यास
प्रमाण समुच्चय	480 ईस्वी	दिङ्‌गनाग
माण्डूक्यकारिका	525 ईस्वी	गौड़पाद
पदार्थ धर्म संग्रह	530 ईस्वी	प्रशस्तपाद
न्याय वार्तिक (वात्स्यायन के न्याय सूत्र पर)	610 ईस्वी	उद्योतकर
आप्त मीमांसा	650 ईस्वी	समन्तभद्र

एक तरह से यह ईसा के प्रथम पाँच सौ वर्षों के आरम्भ की कहानी है और इस कहानी को जब तक हम इस रूप में नहीं देखेंगे कि इन ग्रंथों का आपस में संबंध क्या है ? और यह अपने चिंतन की मूल धाराओं को किन अन्य दिशाओं में ले जा रहे हैं, तब तक हम भारतीय दर्शन के इतिहास को समझ ही नहीं पाएंगे।

मीमांसा सूत्र के काफी पहले पाणिनि के प्रसिद्ध ग्रंथ अष्टाध्यायी की रचना हो चुकी थी। यही नहीं उस पर कात्यायन का **वार्तिक** और पतञ्जलि का महाभाष्य भी रचा जा चुका था। इस संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि पाणिनि तक्षशिला के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय के सबसे बड़े विद्वानों में से एक माने जाते थे, जो कि भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त में स्थित था। इसके विपरीत कात्यायन दक्षिणी भारत के रहने वाले माने जाते हैं और शायद **वार्तिक** नाम से लिखा जाने वाला ग्रंथ उनका ही पहला ग्रंथ था । वार्तिक का लक्षण साधारणतः यह कह कर दिया जाता है कि 'उक्तमनुक्तम् दुरुक्तम् च वार्तिकम्', अर्थात् वार्तिक वह ग्रंथ है जिसमें जो कुछ कहा गया है उसको विस्तार से समझाया जाता है जो नहीं कहा गया है लेकिन जो मूल ग्रंथ में निहित है उसको भी स्पष्ट करने की चेष्टा की जाती है, और यही नहीं, जो उसमें गलत कहा गया है उसके भी दोषों का वर्णन किया जाता है। अगर 'वार्तिक' का यह लक्षण सही है तो कात्यायन ने पाणिनि के मूल ग्रंथ को समझने की चेष्टा ही नहीं की बल्कि उसमें जो दोष थे उनका भी विस्तार से वर्णन किया। यह बात सही भी मालूम होती है क्योंकि पतञ्जलि ने अपने **महाभाष्य** में कात्यायन के बताए हुए दोषों का वर्णन किया और यह बताया कि पाणिनि सही थे और कात्यायन गलत। यहाँ प्रश्न यह नहीं है कि कौन ठीक था या कौन गलत, पर केवल यही कि 'वार्तिक' नाम से ज्ञात ग्रन्थ में ग्रंथकार अपना यह कर्तव्य समझते थे कि वे उन दोषों की ओर भी विद्वानों का ध्यान दिलवाएं जो मूल ग्रंथ में थे।

लेकिन इससे भी अधिक महत्व की बात यह प्रतीत होती है कि पाणिनि ने भाषा को समझने के लिए कुछ मूल नियम बनाये थे और इन नियमों में अगर कहीं अपवाद होता था तो उनकी ओर भी ध्यान दिलाया था। इन नियमों के लिए वहीं 'सिद्ध और असिद्ध ' शब्दों का प्रयोग किया है। ऐसा लगता है कि **मीमांसा सूत्र** के रचयिता ने भी अपने सूत्रों को पाणिनि के आधार पर बनाया था, लेकिन इस पर निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। हाँ इतना जरूर कहा जा सकता है कि जब पाणिनि अपने नियमों में अपवाद संस्कृत भाषा के प्रचलित प्रयोग के आधार पर करते थे, **मीमांसा सूत्र** का रचयिता अपने सूत्रों में अपवादों को केवल श्रुति के आधार पर ही स्वीकार करता है क्योंकि उसके लिए केवल श्रुति ही प्रमाण है।

शबर ने अपने मीमांसा सूत्र के भाष्य में किन विशेष बातों की चर्चा करके मीसांसा के चिंतन को आगे बढ़ाया, इस पर अधिकार से कुछ कहना कठिन है। लेकिन वल्लभ सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री वल्लभाचार्य ने उनके मतों का खण्डन किया है और यह कहा है कि वह मीमांसा सूत्र का सही-सही अर्थ नहीं समझे। सवाल यह नहीं है कि शबर ने ठीक समझा या नहीं, पर यह कि इतना बाद में होने वाले आचार्य ने इस बात को उचित समझा कि उनके भाष्य में वर्णित अर्थों का खण्डन किया जाए।

मीमांसा की वैचारिक परम्परा पर बहुत अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, लेकिन जैसा हम पहले बता चुके हैं उसमें शब्द के अपौरुषेयत्व और नित्यत्व की चर्चा करके जिस समस्या

को जन्म दिया था, वह भारतीय दर्शन के लिए चिंतन का विषय सदैव रही है। यही नहीं उसका दूसरा प्रसिद्ध मत, जिसके अनुसार धर्म का ज्ञान न प्रत्यक्ष से हो सकता है और न अनुमान से, सदैव दार्शनिक चर्चा का विषय बना रहा! इस का महत्व इसलिए भी था कि अगर हमें धर्म का ज्ञान है, और यदि वह प्रत्यक्ष या अनुमान के द्वारा नहीं हो सकता तो हमें किसी अन्य प्रमाण को मानने की ज़रूरत होगी। और यह अन्य प्रमाण 'शब्द' ही हो सकता है। इसलिए शब्द को अलग से प्रामाणिकता को स्वीकार करने का आधार यह था कि अगर ऐसा नहीं माना जाए तो फिर धर्म के ज्ञान को कैसे समझा जाएगा? इस संदर्भ में समस्या उठती है कि जो लोग 'शब्द' को स्वतंत्र रूप में प्रमाण नहीं मानते, वे धर्म के ज्ञान को किस प्रकार समझते हैं? क्या वे उसको प्रत्यक्ष या अनुमान पर आधारित मानते हैं और अगर ऐसा हीं है तो फिर उसको किस रूप में समझते हैं?

समस्या केवल धर्म के विषय में ही नहीं उठती। यह ज्ञान के उन सब विषयों पर लागू होती है जो प्रत्यक्ष या अनुमान पर आधारित नहीं प्रतीत होते। अलंकार शास्त्र में यह बात सौन्दर्य और रस को लेकर कही गई है और अभिनव गुप्त ने यह प्रश्न उठाया था कि कला का विषय किस प्रकार का विषय है और उसके संदर्भ में जो बात कही जाती है, उसकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध होती है? लेकिन ऐसा लगता है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में कला और साहित्य की चर्चा पर होने वाला विशद् चिंतन शुद्ध दार्शनिक परम्परा से अलग ही रहा है। यह आश्चर्य की बात है, लेकिन साधारण दृष्टि से देखने पर ऐसा लगता है कि मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, वेदांत आदि दार्शनिक परम्पराओं में साहित्य और कला में होनेवाले चिंतन का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता। ऐसा ही बौद्ध और जैन दार्शनिक परम्पराओं में भी दृष्टिगोचर होता है। यही नहीं इन परम्पराओं में मनुष्य के भाव पक्ष पर और उससे रचित होनेवाले संसार पर बहुत कम ही ध्यान दिया गया प्रतीत होता है।

गौतम के **न्याय सूत्र** और नागार्जुन के **वैदल्य सूत्र** में गहरा संबंध है, यह हम पहले ही कह चुके हैं। पर ऐसा लगता है कि समस्त प्रमाण-प्रमेय व्यापार का खण्डन दार्शनिकों को पसन्द नहीं आया, क्योंकि वे उसे मान लेते तो अपनी दुकान ही बंद करनी पड़ती। और अपनी दुकान कौन बन्द करना चाहता है। इसलिए नागार्जुन के प्रमाणों का विस्तार से खण्डन उसके बाद लिखे गये बौद्ध ग्रंथों में विस्तार से तो कहीं नहीं मिलता। हाँ, गौतम के **न्याय सूत्र** में इस बात की चर्चा ज़रूर की गई है, कि अगर कोई सभी प्रमाणों का खण्डन करता है तो वह यह कैसे कर सकता है क्योंकि खण्डन करने के लिए कोई न कोई युक्ति तो देनी ही पड़ेगी। यह ठीक है कि गौतम के **न्याय सूत्र**, नागार्जुन के **वैदल्य सूत्र** से पहले लिखे माने जाते हैं, पर उनकी इस युक्ति से ऐसा पता लगता है कि सर्व प्रमाण खण्डन की प्रक्रिया नागार्जुन से पहले ही प्रारम्भ हो चुकी थी, और नागार्जुन ने केवल उसको सुव्यवस्थित रूप में रखा था।

वात्स्यायन ने **न्याय सूत्र** पर लिखे अपने भाष्य में एक ऐसी समस्या उठाई थी जो एक प्रकार से सारे दार्शनिक चिंतन पर लागू होती है, लेकिन उन्होंने उस पर कोई विशेष

विचार नहीं किया। वह समस्या यह थी कि अगर मनुष्य का परम पुरुषार्थ निःश्रेयस् या मोक्ष है तो फिर प्रमाण-प्रमेय व्यापार की आवश्यकता ही क्या है? मनुष्य को तो केवल साधना करनी चाहिए।

इस उठाई गई समस्या का उत्तर वात्स्यायन ने यह कह कर दिया कि न्याय शास्त्र का विशिष्ट लक्षण प्रमाण-प्रमेय की चर्चा करना है और मोक्ष साधना तो साधारण पुरुषार्थ है जो किसी दर्शन विशेष का अपना स्वतंत्र अंग नहीं हो सकता, पर उन्होंने यह समस्या नहीं उठाई कि दर्शन चिंतन और मोक्ष साधना के परस्पर संबंध क्या हैं? यह बात करीब-करीब उन सब दार्शनिक परम्पराओं पर लागू होती है जो मोक्ष, निःश्रेयस्, अपवर्ग, निर्वाण या सिद्धि को परम पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। और यह बात करीब-करीब सब भारतीय दार्शनिक परम्पराओं के बारे में सत्य लगती है, क्योंकि चार्वाक को छोड़कर सभी लोग परम पुरुषार्थ के रूप में चेतना की किसी ऐसी अवस्था को मानते हैं जिसका बौद्धिक चिंतन के व्यापार से कोई संबंध नहीं है।

इस बात को अक्सर यह कह कर टाला जाता है कि दार्शनिक चिंतन का काम उन कुतर्कों का खंण्डन करना है जो व्यक्ति की मोक्ष साधना के मार्ग में बाधक बनते हैं। लेकिन जो लोग यह कहते हैं, वे यह आसानी से भूल जाते हैं कि भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में इस बात को लेकर झगड़ा नहीं हैं कि परम पुरुषार्थ क्या है? और अगर यह सच है, तो फिर उनमें दार्शनिक मतभेदों का आधार क्या है? यह ठीक है कि मोक्ष की अवस्था और जीवन मुक्ति आदि के बारे में कुछ भेद पाये जाते हैं। पर, ये भेद इन दार्शनिक परम्पराओं की विशिष्ट चिंतन धाराओं से संबंधित नहीं दिखाई देते। 'कुतार्किक' कौन है इसका फैसला 'कौन करेगा', और एक दूसरे को ऐसा कहना, केवल एक तरह से दार्शनिक गाली देना है, तर्क करना नहीं।

इस बात को इस तरह भी रखा गया है कि दर्शन का काम उन बौद्धिक शंकाओं का निराकरण करना है जो मोक्ष साधना के मार्ग में बाधक बन सकती हैं, या जो मोक्ष के विचार को ही संदेह की दृष्टि से देखती हैं। लेकिन भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को इस प्रकार से समझने की चेष्टा उतनी ही भ्रममूलक है, जितनी कि पहली, क्योंकि एक ओर तो यह बात यह मानकर चलती है कि शुद्ध-बुद्धिजन्य समस्याएं पुरुषार्थ के मार्ग में बाधक बन सकती है, वहीं दूसरी ओर यह तर्क, यह मानकर चलता है कि इस प्रकार की शंकाओं का अन्तिम निवारण हो सकता है। पहली मान्यता तो इसलिए गलत लगती है कि अर्थ, काम और धर्म जैसे पुरुषार्थों के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि शुद्ध बुद्धिजन्य समस्याएं उनकी साधना के मार्ग में बाधक बनती हैं और अगर ऐसा है तो फिर यह बात मोक्ष के विषय में ही क्यों सत्य मानी जाए। यही नहीं, सब जानते हैं कि बुद्ध के यह कहने पर कि सब कुछ क्षणिक है लोगों ने वस्तुओं के स्थायित्व में कोई संदेह नहीं किया, और न ही अद्वैत वेदांत के यह कहने पर कि 'भेद' सर्वथा मिथ्या है, किसी ने भी चीज़ों में फर्क करना छोड़ दिया। ये दार्शनिक खुद व्यवहार और परमार्थ में

भेद करते हैं, और अगर ऐसा है तो फिर यह तर्क कैसे सत्य हो सकता है कि परमार्थ के विषय में दार्शनिक चिंतन व्यवहार के क्षेत्र में कठिनाई पैदा कर सकता है? इस पर यदि कोई यह कहे कि मोक्ष साधना तो व्यवहार का विषय नहीं है तो उससे यही कहा जा सकता है कि साधना तो सब व्यवहार जगत में ही होती है चाहे उसका लक्ष्य परमार्थ ही क्यों न हो?

दार्शनिक चिंतन का मोक्ष से क्या संबंध है? इसके बारे में कृष्णचंद्र भट्टाचार्य ने एक नई दृष्टि देने की कोशिश की है। यह दृष्टि उनके लेखों में निहित है, हालांकि उन्होंने इसके विषय में स्पष्ट रूप में कुछ नहीं लिखा है। इस दृष्टि के अनुसार दार्शनिक चिंतन मोक्ष की संभावनाओं को जन्म देता है, क्योंकि अन्य प्रकार के चिंतन से केवल धर्म, अर्थ या काम जैसे पुरुषार्थों की सम्भावना ही उत्पन्न हो सकती है, मोक्ष की नहीं। मोक्ष की संभावना कोई साधारण संभावना नहीं है और उनके विचार में यह केवल दार्शनिक चिंतन की ही उपलब्धि हो सकती है। इस प्रकार से देखने पर दार्शनिक चिंतन वह शुद्ध बौद्धिक प्रक्रिया है जो एक ऐसी संभावना को मनुष्य के परम पुरुषार्थ के रूप में प्रस्तुत करती है, जो प्रयोगात्मक साधना के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। पर, इस प्रकार से देखने पर इस संबंध में एक समस्या उत्पन्न होती है। भारत के बाहर अन्य दार्शनिक परम्पराओं में जो चिंतन हुआ है उसने मोक्ष की अवधारणा को क्यों जन्म नहीं दिया? और दूसरा यह कि अगर यह मान भी लें कि मोक्ष के पुरुषार्थ की संभावना शुद्ध दार्शनिक चिंतन की देन है, तब भी यह सवाल तो रहता ही है कि उस संभावना के जन्म होने के बाद फिर दार्शनिक चिंतन की ज़रूरत क्या थी?

अब कोई यह कह सकता है कि भारतीय दार्शनिक चिंतन को समझने के लिए इन दोनों दृष्टियों को एक साथ मिलाना जरूरी है, क्योंकि जैसा एक ओर दार्शनिक चिंतन मोक्ष की संभावना को जन्म देता है वहीं दूसरी ओर उसके संबंध में होने वाली अनेक शंकाओं का निराकरण भी करता है। इस प्रकार से देखने पर भी, यह सवाल उठता है कि क्या वे सभी समस्याएं जो भारतीय दार्शनिक चिंतन का विषय रही हैं, इन दोनों कोटियों में समाहित की जा सकती हैं। अर्थात् क्या हम यह निश्चय के साथ कह सकते हैं कि प्रत्येक दार्शनिक समस्या या तो मोक्ष की अवधारणा से संबंधित है या उसके मार्ग में आनेवाली बाधाओं के निराकरण से। ढाई हजार साल के लम्बे इतिहास को देखने पर ऐसा लगता है कि यह मानना गलत होगा। और भारतीय दार्शनिक चिंतन को समझने के लिए हमें कोई और ही रास्ता अपनाना होगा, और वह अन्य रास्ता यह है कि हम यह माने कि भारत में दार्शनिक चिंतन शुद्ध-बुद्धि-जन्य समस्याओं को समझने व सुलझाने के संदर्भ में उत्पन्न हुआ और इस सुलझाने की प्रक्रिया में उसने अन्य बौद्धिक समस्याओं को जन्म दिया, जिनको समझना और सुलझाना भी बुद्धि ने अपना पुरुषार्थ माना। बौद्धिक समस्या मोक्ष के संदर्भ में भी उठ सकती है और किसी अन्य संदर्भ में भी, लेकिन उन समस्याओं का समस्यात्मक पक्ष इन संदर्भों से कोई विशिष्ट संबंध नहीं रखता जिनमें वे उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि शुद्ध दार्शनिक समस्या किसी भी संदर्भ में जन्म ले सकती है। इस तीसरे मत का प्रतिपादन हमने विशद् रूप में कई लेखों में किया है और

वहाँ यह देखने की कोशिश की है कि भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का यह कथन कि वे मोक्ष से संबंधित हैं, एक सांस्कृतिक अनिवार्यता की वजह से है, न कि कोई उनका विशिष्ट लक्षण। भारतीय संस्कृति में मोक्ष को परम पुरुषार्थ के रूप में काफी पहले ही स्वीकार कर लिया गया था और इसलिए संस्कृति में होने वाले सभी ज्ञान, विज्ञान, कला आदि ने अपने को इस पुरुषार्थ से जोड़ने की कोशिश की थी। केवल दार्शनिक चिंतन ने ही ऐसा किया है, यह सत्य नहीं है। चाहे संगीत शास्त्र हो या नृत्य शास्त्र या नाट्य शास्त्र या अन्य कोई शास्त्र सबने ही अपने को इस परम पुरुषार्थ से जोड़ने की स्पष्ट कोशिश की है और अगर ऐसा है तो इसको दार्शनिक चिंतन का व्यावर्तक लक्षण नहीं माना जा सकता।

इस बारे में किसी का कोई भी मत क्यों न हो इसमें कोई भी शक नहीं कर सकता कि वात्स्यायन की उठाई गई इस मूलभूत समस्या पर न्याय की दार्शनिक परम्परा में कोई गहरा चिंतन नहीं हुआ। वात्स्यायन ने अपने भाष्य में कई और भी समस्याएं उठाई थी उनमें से एक समस्या 'दृष्ट और अदृष्ट' को लेकर है जिसको बाद में उद्योत्कर ने अपने वार्तिक के प्रारम्भ में ही चर्चा की है। दृष्ट-अदृष्ट की चर्चा न्याय सूत्र में भी मिलती है, पर वहाँ इसका विस्तार से वर्णन नहीं है। एक तरह से यह समस्या मीमांसा शास्त्र में भी उठाई गई थी, लेकिन वहाँ उसका रूप कुछ भिन्न है। 'धर्म' की चर्चा करते समय, मीमांसा शास्त्र के रचयिता ने यह कहा था कि वह न 'प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है, न अनुमान से' और जो इन दोनों प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता वह एक प्रकार से अदृष्ट ही है। इस तरह यह समस्या उठती है कि जो अदृष्ट है उसका ज्ञान हमें कैसे प्राप्त होता है, या हो सकता है। मीमांसा शास्त्र ने इसका उत्तर यह कह कर दिया कि जो अदृष्ट है उसका ज्ञान हमें श्रुति ही करा सकती है और इसलिए इस संदर्भ में केवल शब्द प्रमाण ही सार्थक प्रमाण है। लेकिन अदृष्ट की चर्चा करते समय मीमांसा सूत्र के रचयिता ने इस पर ध्यान नहीं दिया प्रतीत होता है कि वेद में ऐसे यज्ञों की विधि भी बताई गई है जिनके करने से जो फल प्राप्त होता है, वह दृष्ट है, अदृष्ट नहीं। अगर कोई यज्ञ पुत्र की कामना से या वृष्टि की कामना से किया जाता है तो उसके विषय में 'अदृष्ट' की बात करना कहाँ तक ठीक होगा? यही नहीं 'अदृष्ट' का वास्तविक अर्थ क्या है, यह स्पष्ट नहीं है? इसका अर्थ उससे है जो किसी भी इंद्रिय के द्वारा ग्रहण हो ही नहीं सकता या इसका अर्थ केवल उन विषयों से है जो किसी इन्द्रिय विशेष जैसे यज्ञ आदि से प्राप्त नहीं हो सकते।

दूसरी ओर इस संदर्भ में एक अन्य समस्या यह भी है कि क्या अदृष्ट वह है जो इंद्रियों से ग्रहण नहीं होता या जो सिद्धांततः कभी भी किसी भी इंद्रिय द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता। यह समस्या इस संदर्भ में और भी सार्थक रूप में उठती है, क्योंकि श्रुति का ज्ञान हमें किस प्रकार होता है, इसकी चर्चा स्पष्ट रूप से कहीं नहीं मिलती। श्रुति के द्वारा 'अदृष्ट' का ज्ञान होता है, यह तो सब कहते हैं, पर यह कोई नहीं बताता कि श्रुति का ज्ञान किस प्रकार होता है? अगर श्रुति का ज्ञान सुनने से होता है, तो सुनना तो 'कर्णेन्द्रिय' द्वारा होता है, और अगर हम उस ज्ञान को दृष्ट ज्ञान माने जो किसी भी इंद्रिय द्वारा प्राप्त होता है, तो हमें श्रुति के ज्ञान को भी दृष्ट ज्ञान की कोटि में रखना पड़ेगा। लेकिन यदि हम ऐसा मानते हैं, तो फिर यह मानना पड़ेगा

कि दृष्ट ज्ञान के द्वारा अदृष्ट ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। दूसरी ओर अगर 'दृष्ट' को हम केवल जो आँखों से देखते हैं उसी तक सीमित करें तो फिर जो भी हमें अन्य इंद्रियों से ज्ञात होता है वह अदृष्ट हो जायेगा। हवा जो हमें स्पर्श से ज्ञात होती है, या शब्द जो हमें कान से सुनाई देता है, वह अदृष्ट कहलायेंगे। यही नहीं, एक अन्य समस्या यह है कि जो शुद्ध बुद्धि के विषय हैं और जो किसी भी इंद्रिय के द्वारा नहीं जाने जाते हैं, अदृष्ट की कोटि में आयेंगे या दृष्ट की कोटि में आयेंगे? कुछ-कुछ यही बात शब्दों के अर्थों के बारे में भी उठती है, क्योंकि यदि यह माने भी ले कि शब्द का ज्ञान इंद्रिय के द्वारा होता है तब भी उसका अर्थ बोध तो इस प्रकार नहीं होता। शब्द तो केवल माध्यम है, फिर वह चाहे पढ़ा जाये या सुना जाए और यह बात केवल श्रुति के अर्थ के बारे में ही सत्य नहीं होगी बल्कि साधारण बोलचाल की भाषा के बारे में भी उतनी ही सत्य होगी जितनी की श्रुति के बारे में। इस पर यदि कोई यह कहे कि श्रुति के अर्थ का विषय अपने आप में अदृष्ट है जबकि श्रुति से इतर वाक्य के अर्थ का विषय अदृष्ट नहीं होता तो यह भी ठीक नहीं होगा, क्योंकि श्रुति से इतर वाक्य भी ऐसी चीजों का वर्णन कर सकता है जो अदृष्ट हों। इस सन्दर्भ में अगर कोई यह कहे कि, जो शब्द या वाक्य अदृष्ट की बात करते हैं, उन्हें श्रुति के रूप में समझना चाहिए तो फिर श्रुति का अर्थ बदल जाएगा और हम शब्दबोध को तो भिन्न कोटियों में बाँटेंगे एक वह जो अर्थ दृष्ट है या दृष्ट से सम्बन्ध रखता है, और दूसरे वह जिनका अर्थ अदृष्ट है या जो दृष्ट से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते।

इस बात की चर्चा आधुनिक पश्चिमी दर्शन में विशद रूप से हुई है और वहाँ दृष्ट का अर्थ इंद्रियजनित अनुभव से लिया गया है, और अदृष्ट का अर्थ दो प्रकार से समझा गया है, एक यह कि जो अदृष्ट होते हुए भी बुद्धिगम्य है और उसको सत्य मानने पर उसका इन्द्रिय अनुभव पर कुछ न कुछ प्रभाव जरूर पड़ता है, और वह प्रभाव इस प्रकार का है कि अगर वास्तव में इंद्रियजनित अनुभव उस प्रकार का हो तो हम यह मान सकते है कि अदृष्ट मानी जाने वाली वस्तुएं किसी न किसी रूप में सत्य जरूर हैं। अदृष्ट का दूसरा अर्थ यह भी लिया जाता है, जिसका इंद्रिय जनित अनुभव पर कोई प्रभाव नहीं होता, उसके मानने या न मानने से हमारे इंद्रिय जनित अनुभव में कोई फर्क नहीं पड़ता। इन दूसरी अदृष्ट वस्तुओं को वे ज्ञान की दृष्टि से अर्थहीन मानते हैं क्योंकि उनके मानने या न मानने से हमारे इन्द्रियग्राही जगत पर कोई असर नहीं पड़ता। इन दो के अलावा, वे एक तीसरे प्रकार के शुद्ध बुद्धि रचित तात्विक विषयों को भी स्वीकार करते हैं, जो अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं रखकर भी हमारे बौद्धिक ज्ञान व्यापार का अनिवार्य अंग हैं और जिनके बिना बुद्धि का व्यापार हो ही नहीं सकता। इस तीसरी कोटि में भी कुछ भेद किया गया है, लेकिन उनकी चर्चा यहाँ अनावश्यक है। यहाँ तो सवाल केवल अदृष्ट के विचार को समझने का है और इस संदर्भ में यह जानना ज्ञान की दृष्टि से लाभदायक होगा कि भारतीय चिंतन परम्परा में इस पर क्या विचार हुआ है? इस संदर्भ में महत्व की बात यह है कि क्या जो बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है या जिसकी सत्ता को स्वीकार करने में बुद्धि कोई प्रमाण प्रस्तुत करती है, तो उसे हम अदृष्ट कहेंगे या दृष्ट? कहने का मतलब यह है कि क्या हम अदृष्ट उसी को मानेंगे जो न प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है न बुद्धि से, या केवल उसी को

जो प्रत्यक्ष से जाना जाए। अगर हम दूसरे विकल्प को स्वीकार करें तो अदृष्ट के दो भेद करने पड़ेंगे। एक वह जो प्रत्यक्ष के द्वारा जानने पर भी, बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है, और दूसरा वह जो न बुद्धि के द्वारा जाना जा सकता है, न प्रत्यक्ष के द्वारा। जो लोग ईश्वर की सत्ता को बुद्धि के द्वारा प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं और अपने को इस चेष्टा में सफल मानते हैं, वे फिर उसको दूसरे अर्थ में अदृष्ट नहीं मान सकते, क्योंकि उसका ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो सकता है।

इस संदर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारतीय दार्शनिक परम्परा में 'श्रुति' का प्रामाण्य केवल उसी के लिए स्वीकार किया गया है जो प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं जाना जा सकता। मीमांसा सूत्र तो स्पष्ट ही ऐसा कहते है और आचार्य शंकर की प्रसिद्ध उक्ति है कि 'अगर सैकड़ों श्रुतियाँ भी यह कहें कि अग्नि शीतल है, तो उस पर कौन विश्वास करेगा?' लेकिन ऐसा मानने पर भी यह प्रश्न तो बाकी रहता ही है कि ऐसी कौनसी चीज है जिसका ज्ञान न प्रत्यक्ष द्वारा हो सकता है, न बुद्धि द्वारा। 'धर्म' और ब्रह्म तो इस कोटि में आता ही है, लेकिन इनके अलावा भी क्या कोई और विषय इस कोटि में रखा जा सकता है, और अगर ऐसी कोई चीज़ है तो फिर क्या उसकी प्रामाणिकता के लिए हमको श्रुति की शरण लेनी पड़ेगी? भारतीय दार्शनिक चिंतन परम्परा में इस सवाल पर ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया है; यही नहीं वहाँ तो ऐसा लगता है कि मीमांसा परम्परा में इस सवाल पर भी विचार किया गया प्रतीत नहीं होता है कि 'ब्रह्मपरक' श्रुति वाक्यों को प्रामाणिक माना जाये या नहीं, और न ही अद्वैत वेदांत परम्परा में इस बात की कोई चर्चा दिखाई देती है कि विधिपरक यज्ञ केन्द्रित वाक्यों को प्रामाणिक माना जाए या नहीं। बाद में तो धर्म के अन्य श्रुति की बजाय स्मृति ग्रंथों की शरण लेनी पड़ती है। धर्म सूत्रों की रचना स्मृति ग्रंथों से पहले मानी जाती है लेकिन उनको भी श्रुति की कोटि में कोई नहीं रखता। एक तरह से यह बात श्रौत सूत्रों के बारे में भी लागू होती है, क्योंकि वे भी श्रुति का अंग नहीं हैं और अगर ऐसा है तो फिर मीमांसा के लिए उनकी प्रामाणिकता क्या होगी?

यह समस्या केवल दृष्ट-अदृष्ट तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उन अन्य क्षेत्रों के विषय में भी उठती है जहाँ इस प्रकार का भेद करने की कोशिश की गई है। 'नित्य-अनित्य' का विचार कुछ-कुछ इसी प्रकार का है क्योंकि जो नित्य है उसकी प्रामाणिकता श्रुति के आधार पर की जाती है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष या अनुमान का विषय नहीं हो सकता। अद्वैत वेदांत तो इस भेद को इतनी प्रधानता देता है कि, वह मानता है कि नित्य-अनित्य का भेद ही ज्ञान का आधार है। लेकिन भारतीय दार्शनिक चिंतन परम्परा में कई चिंतकों ने 'ब्रह्म' के अलावा भी अनेक अन्य वस्तुओं को 'नित्य' माना है। कई लोग आकाश, दिग्, काल आदि को भी नित्य मानते हैं, लेकिन इनकी नित्यता के लिए श्रुति के पास जाने की जरूरत नहीं है। और कोई यह माने कि हमें आकाश, दिग् या काल का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, तो फिर यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा हो सकता है। और जो लोग यह मानते हैं कि 'सामान्य' का भी प्रत्यक्ष होता है और सामान्य 'नित्य' होते हैं, उन्हें तो यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हमें

नित्य वस्तुओं के ज्ञान होने के लिए श्रुति के पास जाने की कोई जरूरत नहीं है। लेकिन 'कोई चीज नित्य है' इसका पता कैसे लगेगा? दूसरी ओर 'धर्म', जो मीमांसकों के अनुसार श्रुति से जाना जाता है, उसके बारे में यह समस्या उठाई जा सकती है कि क्या वह नित्य है या अनित्य ? यदि हम यह माने कि 'धर्म', का ज्ञान श्रुति से ही प्राप्त किया जा सकता है, और यह भी कि धर्म नित्य-अनित्य दोनों हो सकता है, तो फिर यह मानना पड़ेगा कि अनित्य वस्तुओं का ज्ञान भी श्रुति के द्वारा होता है।

यही बात 'शब्द' के संदर्भ में भी उठती है, क्योंकि 'शब्द' का श्रुति से गहरा संबंध माना गया है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, पर वे भी श्रुति के शब्दों का अन्य शब्दों से भेद करते है। लेकिन यह भेद तो वे पौरुषेय-अपौरुषेय के आधार पर करते हैं, न कि इस आधार पर कि 'एक तो शब्द है' और 'दूसरा नहीं'। पर, यदि ऐसा है तो उन्हें केवल उन्हीं शब्दों को नित्य मानना होगा जो अपौरु षेय हैं। दूसरी ओर यदि वे शब्द मात्र को नित्य मानेंगे, तो उन्हें सभी शब्दों को नित्य मानना होगा। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द के संदर्भ में नित्य-अनित्य का भेद एक आधार पर है और पौरुषेय-अपौरुषेय का भेद दूसरे आधार पर। मींमासा ने इन विभिन्न आधारों में भेद नहीं किया प्रतीत होता है, यही शब्द प्रमाण के संदर्भ में उसके विचार की कमजोरी है। इस तरह की समस्या 'ध्वनि' के बारे में भी उठती है, क्योंकि श्रुति शब्द का आधार ध्वनि होती है। लेकिन शुद्ध ध्वनि संगीत में भी मिलती है, और इसलिए शायद साम-गान के संबंध में यह समस्या उठी थी कि वह ऋक् मंत्रों के आधार पर दिया गया या उनको छोड़कर अपने शुद्ध स्वरूप में ही उसकी साधना की जाए। लेकिन ध्वनि को नित्य मानने पर, केवल शब्दों को ही नित्य नहीं मानना पड़ेगा बल्कि उस संगीत को भी जो केवल शुद्ध स्वरों के आधार पर गाया जाता है, नित्य मानना पड़ेगा। परन्तु उसके संदर्भ में भी यह समस्या उठेगी कि क्या केवल सामगान ही नित्य है या और सब गान भी नित्य है जो शुद्ध स्वरों पर आधारित है। पहला विकल्प मानने पर यह समस्या उत्पन्न होगी कि नित्य अनित्य के संदर्भ में यह भेद करने का तार्किक आधार क्या है, क्योंकि जिस तरह केवल शब्दों के आधार पर श्रुति-अश्रुति में भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही स्वरों के आधार पर साम और साम से भिन्न संगीत में भेद नहीं किया जा सकता।

यही नहीं, चाहे शब्द हो या ध्वनि, दोनों हमारे अनुभव में प्रकट होते हैं और अनित्य प्रतीत होते हैं और इस आधार पर जहाँ तक हमारा अनुभव है वे 'अनित्य' ही प्रतीत होते है। लेकिन फिर भी अगर उनको कोई 'नित्य' माने तो वह सब नित्य सिद्ध हो जाएगा जो हमारे अनुभव में अनित्य प्रतीत होता है। इस निष्कर्ष की अनिवार्यता से तभी इंकार किया जा सकता है जबकि हम कोई ऐसा लक्षण दें जिसके आधार पर हम यह फैसला कर सकें कि कौनसी अनित्य प्रतीत होने वाली वस्तु वास्तव में अनित्य ही है और कौनसी नित्य?

नित्य-अनित्य की समस्या अपने आप में स्वतंत्र होते हुए भी कुछ हद तक सांत और अनन्त की समस्या से जुड़ी हुई है, हालाकि यह दूसरी समस्या काल की पूर्ण उपेक्षा करती

है। एक तरह से अगर हम किसी चीज को अनित्य कहते है तो फिर उसके बारे में भी काल की बात लागू होती है, क्योंकि काल के बगैर उत्पत्ति और नाश की बात हो ही नहीं सकती। लेकिन जो नित्य है उसको हम 'कालातीत' के रूप में ले सकते हैं, और इस रूप में उसे समझने पर उसका काल से कोई संबंध ही नहीं रहता। लेकिन काल में भी 'नित्यता' की बात की जा सकती है और ऐसा करने पर 'सांत' और 'अनन्त' की बात शुरू होती है। लेकिन सांत और अनन्त की बात करते ही एक नई समस्या जन्म लेती है और इस पर भारतीय दार्शनिक परम्पराओं में काफी चिन्तन हुआ है, और वह समस्या यह है कि जो सांत है, वह अनन्त भी हो सकता है। अज्ञान, माया, वासना आदि को अनादि माना गया है, फिर भी इनको अनन्त नहीं माना गया है, क्योंकि हो सकता है कि यदि उनको ऐसा माना जाए तो फिर उनसे मुक्ति प्राप्त हो ही नहीं सकता। इसी संदर्भ में यह भी समस्या उठती है कि जब कोई वस्तु उत्पन्न होती है तो एक तरह से यह मानना पड़ेगा कि उसके अभाव का जिसको न्याय की 'शब्दावली' में ध्वंसाभाव कहा गया है, अंत होता है। परन्तु इस अभाव को एक तरह से अनादि ही मानना पड़ेगा और अगर ऐसा मानते हैं तो ऐसा मानना पड़ेगा की जो अनादि हैं उसका अंत हो सकता है। यही नहीं, जब किसी वस्तु का नाश होता है तब उसका जो अभाव होता है उसका आदि तो है पर उसका अंत नहीं माना जा सकता। इस प्रकार के भाव को न्याय शब्दावली में ध्वंसा भाव कहा गया है और इसके बारे में यह कहा गया है कि इसका आदि तो है पर अंत नहीं। साधारणत: सांत और अनन्त की समस्या आत्मा, ब्रह्म या ईश्वर के बारे में उठती है, लेकिन इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस समस्या का संबंध काल से है, किसी विषय विशेष से नहीं।

इसी संदर्भ में एक और समस्या उठती है कि आखिर जो उत्पन्न होता है उसकी उत्पन्न होने से पहले सत्ता किस रूप में मानी जाए? अगर वह पूर्णरूप में असत्य था तो फिर इसमें सत् से असत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी जो बुद्धि को स्वीकार नहीं है क्योंकि अगर कुछ है ही नहीं तो फिर उससे किसी भी चीज़ की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? दूसरी ओर अगर हम उसकी सत्ता को पहले स्वीकार करें तो फिर यह समस्या उत्पन्न होती है कि उस सत् का स्वरूप क्या था और अगर उसकी उत्पत्ति में कोई बाधा हो तो फिर उन बाधाओं के निराकरण का अर्थ क्या होता है। इसी समस्या ने अव्यक्त और व्यक्त के विचार को जन्म दिया और असत् और सत् के संबंधों के बारे में चिंतन की शुरुआत की। इसी प्रकार की अनेक और भी समस्याएं है जो हमें वात्स्यायन के भाष्य में मिलती हैं और जिन पर आगे उद्योत्कर आदि ने विशेष रूप से विचार किया है। इनमें से एक समस्या स्वत: प्रमाण के विचार को लेकर है, क्योंकि जहाँ एक ओर प्रमाण बौद्धिक व्यापार का केन्द्र बिन्दु है, वहीं यह सवाल उठता है कि स्वयं प्रमाण की प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाए? यही प्रश्न स्वत: प्रमाण की समस्या को जन्म देता है, क्योंकि किसी न किसी बात के बारे में ऐसा मानना पड़ेगा कि वह स्वत: सिद्ध है या दूसरे शब्दों में कहें तो उसका प्रमाण उसके अपने रूप में ही निहित है। एक तरह से यह समस्या ईश्वर, जगत, काल आदि के बारे में भी उठती है और कुछ-कुछ मुर्गी और अण्डे की समस्या जैसी प्रतीत होती है। अक्सर यह सवाल पूछा जाता है कि मुर्गी पहले थी या अंडा और इसका जो भी जवाब दे, उसमें

समस्या रहती है, जिसका निराकरण असंभव है। इसी प्रकार प्रमाण की प्रामाणिकता की बात ने स्वतः प्रमाण - परतः प्रमाण की समस्या को जन्म दिया है। पश्चिमी दार्शनिक परम्परा में भी मूलभूत वाक्यों को स्वतः सिद्ध माना गया था और उन्हें रेखागणित शास्त्र के संबंध में 'AXIOM' का नाम दिया गया था। भारतीय दार्शनिक परम्परा में इससे मिलती-जुलती एक और समस्या है जो स्वतः प्रकाश-परतः प्रकाश के नाम से जानी जाती है। इसी प्रकार की एक अन्य समस्या ज्ञान और कर्म के संबंध को लेकर है।

वात्स्यायन ने एक प्रकार से 'ज्ञान' के विचार को बहुत व्यापक रूप दिया था, और यह कहने की कोशिश की थी कि प्रमाण-व्यापार तो प्राणि-मात्र के जीवन का एक अन्तरंग अभिन्न अंग है क्योंकि वह सदैव सुख की खोज करता है और दुःख से बचने की कोशिश ! कर्म की सफलता इसलिए सुख की प्राप्ति में और दुःख के निवारण में होती है, और यही उस 'ज्ञान' की प्रामाणिकता है जिसके आधार पर प्राणि-मात्र किसी कर्म विशेष में प्रवृत्त होते हैं। ज्ञान के इस क्रियात्मक पक्ष को 'प्रवृत्ति-सामर्थ्य' का नाम दिया गया और प्रवृत्ति का लक्ष्य सुख की प्राप्ति और दुःख का निवारण स्वतः सिद्ध माना गया, इसलिए ज्ञान की प्रामाणिकता उसकी इस 'प्रवृत्ति-सामर्थ्य' में ही मानी गयी। यह बात उनके अनुसार प्राणि-मात्र के लिए सत्य है, परन्तु मनुष्य के स्तर पर प्रमाण प्रमेय व्यापार एक नया रूप लेता है। जो ज्ञान की सत्यता या असत्यता से संबंधित होती है। मनुष्येतर प्राणियों के संदर्भ में ज्ञान, कर्म और फल से अन्तरंग रूप में जुड़ा रहता है, जबकि मनुष्य के स्तर पर वह काफी हद तक स्वतंत्र हो जाता है और इसलिए प्रमाण की समस्या ज्ञान के संबंध में इस तरह उपस्थित होती है कि ज्ञान गलत भी हो सकता है और अगर ऐसा है तो फिर हमें यह कैसे पता चलेगा कि जो हमें ज्ञान रूप में सही प्रतीत होता है, वह वास्तव में वैसा ही है ?

'प्रतीति' और 'सत्य का भेद' ज्ञान की समस्या को उत्पन्न करता है, क्योंकि सत्य की प्रतीति यह मानकर चलती है कि जो अनुभूत होता है वह हमेशा वैसा नहीं होता जैसा कि विषय वास्तव में है, और इसलिए वह उन आधारों की खोज करता है जिनके आधार पर वह निश्चयात्मक रूप से यह कह सके कि जो प्रतीत हो रहा है वह वास्तव में वैसा ही है जैसा कि 'विषय' स्वयं में है। बाद में तो अद्वैत वेदांत ने 'प्रतीत होने' और 'अनुभूत' में अन्तर माना, क्योंकि वे ब्रह्म की अनुभूति मानते हैं और उनके लिए ब्रह्म ही सत् है। परन्तु ब्रह्म का अनुभव कभी भी विषय रूप में नहीं होता, और उसके संदर्भ में 'विषय' रूप में उपस्थित होना ही मिथ्यात्मकता का लक्षण है।

ज्ञान की समस्या के ये दो अलग-अलग पक्ष हैं। एक, जो उसको अनिवार्य रूप में प्रवृत्ति-सामर्थ्य से जोड़ता है और इस प्रकार उसको अनिवार्य रूप से कर्म और उसके द्वारा प्राप्त फल से संबंधित करता है, और इस 'फल' को प्रधानतः सुख-दुःख के रूप में देखता है। यह दृष्टि ज्ञान को कर्म से जोड़ती है, कर्म को प्रयोजन से, प्रयोजन को सुख की प्राप्ति से और दुःख के निवारण से। दूसरा पक्ष, ज्ञान को उस विषय या वस्तु की यथार्थता से जोड़ता है जिसका वह

ज्ञान है और उसकी सत्यता या असत्यता उस वस्तुस्थिति के अनुरूप होने में मानता है जिसका वह ज्ञान है। इन दोनों पक्षों में कई लोग इस प्रकार संबंध स्थापित करने की चेष्टा करते हैं कि वस्तु के यथार्थ ज्ञान पर आश्रित कर्म ही उस 'फल' की प्राप्ति कराता है जो उसका लक्ष्य या प्रयोजन है। लेकिन ऐसा मानने में यह कठिनाई है कि ज्ञान की सत्यता अगर उस पर आश्रित कर्म की सफलता के द्वारा निश्चित होगी तो हमें उसकी सत्यता जानने के लिए उस पर आश्रित कर्म के फल का इंतजार करना पड़ेगा। यही नहीं कर्म और फल का संबंध एक कार्य-कारण संबंध है और यह तय करना बहुत मुश्किल होगा कि हम जिस ज्ञान के आधार पर कर्म में प्रवृत्त हुए हैं वही एकमात्र ज्ञान उस कर्म की 'सफलता' का कारण है। इसके अलावा यह सारे ज्ञान को केवल कार्य-कारण के ज्ञान तक ही सीमित कर देगा जबकि बहुत-सा ऐसा ज्ञान है जिसे कार्य-कारण के रूप में नहीं समझा जा सकता। यही नहीं, जो लोग ज्ञान को 'प्रवृत्ति-सामर्थ्य' के रूप में देखते हैं और प्रवृत्ति मात्र को 'दोषयुक्त' मानते हैं, उनके लिए तो 'सत्य ज्ञान' भी उतना ही भ्रामक होगा जितना कि 'असत्य' ज्ञान। यही नहीं एक प्रकार से सत्य समझा जानेवाला ज्ञान, इस दृष्टि में अधिक भ्रमपूर्ण कहलाएगा क्योंकि वह मनुष्य में एक अधिक गहरा भ्रम उत्पन्न करता है क्योंकि वह मनुष्य में यह भ्रम उत्पन्न करता है कि वह ज्ञान जिसके आधार पर किया हुआ कर्म वांछित फल को उत्पन्न करता है, वास्तव में सत्य है। अगर प्रवृत्ति मात्र ही 'दोषपूर्ण' है तो केवल वही 'ज्ञान' ज्ञान कहलाने का अधिकारी होगा जिसमें प्रवृत्ति को जन्म देने की बिल्कुल क्षमता न हो। पर, ऐसे 'ज्ञान' में और 'अज्ञान' में क्या अंतर होगा क्योंकि अज्ञान का लक्षण ही यह है कि वह किसी भी प्रवृत्ति को जन्म नहीं दे सकता क्योंकि वह स्वयं कुछ भी नहीं है।

ज्ञान के संबंध में ये दोनों परस्पर विरोधी धारायें गौतम के न्यायसूत्र में मिलती हैं जहाँ एक ओर तो प्रवृत्ति मात्र को दोषयुक्त होने की बात कही गई है वहीं दूसरी ओर ज्ञान में अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति सामर्थ्य होने की बात भी कही गई है। इन दो परस्पर विरोधी धाराओं के बारे में बाद के विचारकों ने क्या कहा है, इसका पता लगाने की जरूरत है। यही नहीं, प्रवृत्ति मात्र का लक्ष्य सुख-दुःख के संदर्भ में ही देखना कहाँ तक मनुष्य के 'कर्म' को ठीक-ठीक समझना है, इस पर भी विचार करने की ज़रूरत है।

वास्तव में 'ज्ञान' के संबंध में ये दो विरोधी विचारधारायें एक प्रकार से मनुष्य के अस्तित्व में ही निहित है। एक तरफ तो मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियाँ उसकी कर्मेन्द्रियों से जुड़ी हुई है और दोनों के बीच एक निरन्तर आदान-प्रदान होता रहता है। इंद्रियों से मिलने वाला ज्ञान कर्म को जन्म देता है और कर्म की सफलता-असफलता इसी ज्ञान पर निर्भर करती है। यह बात प्राणिमात्र के लिए सत्य प्रतीत होती है। मानवीय स्तर पर आत्मचिंतन ज्ञान को एक नया रूप देता है और वह ज्ञान के संदर्भ में जहाँ एक ओर संशय का रूप लेता है वहीं दूसरी ओर उसके बारे में सत्य-असत्य की बात करता है। ज्ञान के संदर्भ में संशय की बात तो हमेशा ही उठाई जा सकती है, क्योंकि यह सच होते हुए भी कि हम किसी न किसी बात को सत्य मानकर ही आगे चल सकते हैं, फिर भी इस बात से कभी इंकार नहीं किया जा सकता कि जो बात हम सत्य मानकर चल रहे हैं, वह शायद गलत हो। परन्तु ज्ञान के गलत होने की संभावना मनुष्य को कर्म करने से

कभी भी नहीं रोकती। वह तो जिस किसी बात को भी अधिक सत्य मानता है उसके आधार पर ही कर्म में प्रवृत्त होता है, और कर्म की सफलता या असफलता के आधार पर अपने ज्ञान में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर लेता है।

दूसरी ओर यहाँ ज्ञान एक ऐसी परम्परा का रूप लेता है जहाँ एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को अपने ज्ञान के बारे में बताती है और उसे यह विश्वास दिलाती है कि उसने अपने पूर्वजों से जो ज्ञान अर्जित किया था उसमें अपनी अकल और अनुभव के आधार पर जो परिवर्तन किया और जो उसकी राय में अधिक सत्य है, वह उसे सौंपती है। इस तरह ज्ञान में परिवर्तन और सम्वर्द्धन की यह प्रक्रिया पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनन्तकाल से चल रही है और ज्ञान के अनेक नये क्षेत्रों को जन्म देती है। इसके साथ ही वह शिल्प कौशल और कर्म कौशल की परम्पराएं भी बनाती है जिनमें अधिकाधिक विस्तार होता रहता है। इनके साथ हो कुछ अन्य परम्पराएं हैं जिनका संबंध रस-व्यापार या रंजन-व्यापार से है, हालांकि उनकी चर्चा दर्शन में कम होती है । लेकिन ज्ञान के 'प्रवृत्ति सामर्थ्य ' लक्षण को आत्मविद्या की साधना से इस प्रकार जोड़ा जा सकता है कि मनुष्य की चेतना के संबंध में जो भी ज्ञान होता है उसमें यह प्रवृत्ति सामर्थ्य होती है कि वह उस चेतना में परिवर्तन लाने की चेष्टा करे, और सारे साधना व्यापार को इस दृष्टि से देखा जा सकता है कि वह अन्ततोगत्वा मनुष्य की चेतना का परिमार्जन ही है। यह भी एक सतत् प्रक्रिया है जिसके बारे में भी भूतकाल की उपलब्धियाँ मनुष्य को प्राप्त होती हैं और वह इनमें अपनी सामर्थ्य के अनुसार कुछ घटाता-बढाता रहता है।

पर, ऐसा मानने पर भी एक समस्या तो रह ही जाती है और वह यह है कि भारतीय परम्परा में, विशेषकर अद्वैत वेदांत में ऐसे 'ज्ञान' की चर्चा है, जो कर्म की संभावना को ही समाप्त कर देता है क्योंकि उसके अनुसार कर्म मात्र ही अज्ञान का लक्षण है। लेकिन यह भी एक प्रकार से चरम आदर्श के रूप में ही उपस्थित हो सकता है जिसको प्राप्त करना मनुष्य अपने पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार करता है ।

परम्परा में अक्सर उस शहजादे की बात कही जाती है जो जन्म से ही कहीं अन्यत्र स्थानान्तरित होने की वजह से कभी यह जान ही नहीं पाया की वह असल में राजपुत्र था और उसे जब यह मालूम होता है तो यकायक वह अपने को अपने असली स्वरूप में पहचान लेता है । लेकिन ' ज्ञान ' से उत्पन्न हुये अपने स्वरूप की पहचान को इस प्रकार समझने पर भी यह समस्या तो रह ही जाती है कि जो कुछ भी उस शहजादे ने अनजाने में किया था, जब वह अपने को राजपुत्र के रूप में नही जानता था, वह सब यह जानने के बाद कि वह वास्तव में राजपुत्र है, समाप्त नहीं हो जाता । वह तो वैसा ही रहता है, और एक प्रकार से जीवन-मुक्ति की समस्या भी यही है। क्योंकि शरीर, मन, बुद्धि आदि तो 'ज्ञान' होने के बाद भी बने ही रहते हैं इसलिए 'व्यवहार' और 'परमार्थ' का भेद भी बना रहता है। ज्ञान के इस स्वरूप के संदर्भ में प्रमाण की चर्चा को आनुषंगिक ही माना जायेगा, क्योंकि उस ज्ञान की अवस्था में तो प्रमाण-प्रमेय व्यापार संभव ही नहीं है। प्रमाण-प्रमेय-व्यापार न्याय का केन्द्रबिन्दु कैसे बना

इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे। परन्तु ज्ञान के संदर्भ में यह समझना ज़रूरी है कि वह अनेक प्रकार का होता है और इसके यह सब प्रकार मनुष्य के उन विभिन्न आयामों से जुड़े हैं जिनको हम शरीर, मन, बुद्धि, स्मृति, कल्पना, प्रज्ञा आदि का नाम देते हैं। वास्तव में ज्ञान के कितने आयाम हैं इसका ठीक-ठीक आकलन आसान नहीं है और इन भिन्न ज्ञानों में क्या संबध है, इसकी ओर कम ध्यान दिया गया है।

भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का आग्रह इस बात पर लगता है कि वे आत्मा की सत्ता को सिद्ध करें। इसकी जरूरत शायद इसलिए हुई कि बौद्धों ने प्रारम्भ से ही सब द्रव्यों का खण्डन किया और उसके साथ ही आत्मा की सत्ता को भी अस्वीकार किया। यह ठीक है कि 'चार्वाक' नाम से ज्ञात दार्शनिकों ने भी आत्मा की सत्ता को अस्वीकार किया था । लेकिन एक ओर तो उन्होंने 'द्रव्य' की स्वतंत्र सत्ता को माना था, वहीं दूसरी ओर उन्होंने मोक्ष या निर्वाण जैसे परम पुरुषार्थ की बात नहीं की थी और न ही कोई साधना का अलग मार्ग बताया था । बौद्धों ने आत्मा की सत्ता को अस्वीकार तो किया लेकिन इसके साथ ही उन्होंने निर्वाण को चरम पुरुषार्थ के रूप में मनुष्य के सामने रखा और उसके लिए साधना का मार्ग भी बताया गया । यही नहीं बौद्ध दार्शनिकों ने इस सब के लिए प्रबल तर्क और युक्तियाँ दी और अवयव-अवयवी, कार्य-कारण, सामान्य-विशेष, शब्द और उससे जनित ज्ञान आदि समस्याओं पर गहन विचार किया । इस तरह ऐसा लगता है कि करीब-करीब अन्य सब दार्शनिक परम्पराओं ने ज्ञान और आत्मा के विचार को अपना केन्द्र-बिन्दु बनाया और अवयव-अवयवी, सामान्य-विशेष और द्रव्य-गुण आदि संबंधों को इस प्रकार से समझाने की चेष्टा की जो उनके संबंध में बौद्ध दार्शनिकों द्वारा किए गए खण्डन का उत्तर दे सके। यही बात शब्द-बोध के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है क्योंकि ये सब दार्शनिक परम्परायें यह मानती प्रतीत होती हैं कि शब्द के द्वारा जो सत् है उसको ग्रहण किया जा सकता है। भर्तृहरि ने तो अपने वाक्यपदीय नामक ग्रंथ में यहाँ तक कह डाला कि शब्द और अर्थ का इस प्रकार का संबंध है कि कोई भी अर्थ शब्द के बगैर नहीं हो सकता । शरीर, इंद्रियाँ और उनके विषय मन और बुद्धि आदि तो सबको स्पष्ट ही सत्य प्रतीत होते हैं, लेकिन इनके परे कोई 'आत्मा' भी है यह तर्क का विषय हो सकता है और इसलिए ऐसा लगता है कि भारतीय चिंतन का सारा प्रमाण-व्यापार इस आत्मा की सिद्धि में ही लगा हुआ था और उसमें विभिन्न मत इस आत्मा के स्वरूप को लेकर हैं। उसमें भेद आत्मा के विषय में, जहाँ एक ओर उसको 'द्रव्य' रूप में देखने की अनिवार्यता उत्पन्न होती है वहीं उसका शरीर. मन, बुद्धि आदि से क्या संबंध है और उसके क्या अनिवार्य और आगन्तुक गुण है, इस पर भी प्रश्न उठता है। दूसरी ओर इंद्रिय, मन और बुद्धि आदि से ग्रहण होने वाले विषय की सत्ता क्या है, यह भी विचार का विषय बनता है और क्योंकि सब विषयों पर दार्शनिकों में मत भेद होता है और वे इस मतभेद को युक्ति और तर्क द्वारा समाप्त करने की चेष्टा करते हैं, इसलिए 'प्रमाण' के संबंध में स्वतंत्र चिंतन उत्पन्न होता है कि किसी बात को किस आधार पर ठीक माना जाए या सत्य समझा जाये । यही नहीं, क्योंकि इन विषयों में मतभेद वाद-विवाद का विषय बनते थे, इसलिए इस पर भी चिंतन हुआ कि यह वाद-विवाद किस प्रकार किए जायें कि यह फ़ैसला हो

सकें कि किसका मत अधिक सही है और किसका गलत। वाद और प्रमाण से संबंध रखने वाली इस आधारभूत विद्या का नाम आन्वीक्षिकी दिया गया और गौतम ने अपने न्याय सूत्र में इन दोनों पक्षों का प्रतिपादन किया, और इसके साथ ही, जैसा हम बाद में देखेंगे उनके चिंतन का केन्द्र बिन्दु प्रधानत: आत्मा की सत्ता को सिद्ध करना भी था।

ऐसा लगता है कि प्रमाण-व्यापार पहले वाद-विवाद के अनिवार्य अंग के रूप में सामने आता है और बाद में वह उससे स्वतंत्र होकर स्वयं चिंतन का विषय बनता है। यही नहीं शुरू में जो मनुष्य किसी विशिष्ट बात को सिद्ध करने के लिए ही वाद-विवाद में प्रवृत्त होता है लेकिन बाद में वह उससे भी स्वतंत्र हो जाता है और केवल इस पर विचार करता है कि अगर कोई यह बात कहता है तो वह कौनसी बातें हैं जो उसे अनिवार्य रूप में माननी पडेंगी, और अगर वह उन्हें नहीं मानता है तो उसे अपनी पहली मानी हुई बात को छोड़ देना चाहिए। इसी पर आगे चिंतन करते हुए प्रमाण शास्त्र उन मूल सिद्धांतों की खोज करने लगता है, जो किसी भी निष्पक्ष विचार की प्रक्रिया में पूर्वमान्य होते हैं और जिनको माने बगैर विचार हो ही नहीं सकता। अगर आप निष्पक्ष रूप में विचार करने की प्रक्रिया में संलग्न होते हैं, तो आपको उन्हें अनिवार्य रूप में मानना पड़ता है। इसी बात पर चिंतन करते हुए उसने उस मूलभूत सिद्धांत की बात की जो सारे विचार की आधारशिला है और जिसे पश्चिमी दर्शन में Law of Contradiction कहा गया है और जिसका अर्थ यह है कि दो परस्पर विरोधी बातें हैं जो एक साथ सत्य नहीं हो सकती हैं। इसी को व्याघात का नियम भी कहा जाता है। लेकिन पश्चिमी दर्शन में इस संदर्भ में प्रारम्भ से ही एक भेद स्वीकार किया गया है जो भारतीय दर्शन परम्परा में उतने स्पष्ट रूप में कभी भी नहीं माना गया जैसा कि पश्चिम की दार्शनिक परम्परा में दिखाई देता है। यह भेद इस चिंतन पर आधारित है कि आखिर यह करने का क्या आधार है कि दो बातें परस्पर विरोधी क्यों हैं। इस पर बहुत चिंतन हुआ है और अभी तक भी यह कहना मुश्किल होगा कि इस पर पूर्ण रूप से प्रकाश मिल पाया है। फिर भी इस संदर्भ में यहाँ इतना कहना काफी होगा कि कम से कम दो प्रकार का विरोध बौद्धिक चिंतन की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण होता है। एक वह जिसमें हम यह कहते हैं कि दो बातें एक साथ सत्य नहीं हो सकती, हालांकि वे दोनों गलत भी हो सकती हैं। इसका एक सरल उदाहरण यह है कि हम साधारणत: यह नहीं कह सकते कि यह नीला भी है और पीला भी, क्योंकि यदि वह नीला है, तो पीला नहीं हो सकता और अगर पीला है तो नीला नहीं हो सकता। लेकिन इसकी सम्भावना हमेशा रहती है कि वह न नीला है, न पीला, क्योंकि उसका कोई और रंग भी हो सकता है। विरोध का दूसरा और गहरा अर्थ यह है कि अगर एक बात सत्य है तो दूसरी अनिवार्य रूप से असत्य होगी, और अगर एक बात असत्य है तो दूसरी अनिवार्य रूप से सत्य होगी। इस विरोध की अवस्था में दोनों बातों में से एक का सत्य होना जरूरी है, क्योंकि कोई तीसरा विकल्प है ही नहीं। इसका सहज उदाहरण यह कह कर दिया जा सकता है कि यह नीला भी है, और नीला नहीं भी है, क्योंकि अगर वह नीला है तो यह बात कि 'वह नीला नहीं है' पूर्ण रूप

से असत्य है, और अगर यह सत्य है कि 'वह नीला नहीं है' तो यह बात अनिवार्य रूप से सत्य है कि 'वह नीला है'।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में प्रमाण-व्यापार को इस प्रकार से नहीं समझा गया, और उसके प्रमाण चिंतन ने एक दूसरा रूप लिया। उसने प्रमाण-व्यापार को इस रूप में देखा कि अगर कुछ है, तो अन्य 'कुछ' भी होना चाहिए, क्योंकि उस अन्य का पहले से संबंध इस प्रकार का है कि अगर पहला है तो दूसरा अवश्य होगा। इसका उदाहरण अक्सर यह दिया जाता है कि जहाँ धुंआ है वहाँ अग्नि है, क्योंकि वहाँ यह हो ही नहीं सकता कि धुंआ हो और अग्नि नहीं हो। लेकिन बात को इस प्रकार से कहने पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इस संबंध का आधार क्या है और अगर इसका आधार हमारा अनुभव है तो हमारा अनुभव इससे भिन्न भी हो सकता है और अगर ऐसा मान लिया जाए तो फिर इस आधार पर जो निष्कर्ष निकाला जायेगा वह हमेशा संशय से ग्रस्त रहेगा। 'अनुभव' के बारे में तो हम यही कह सकते है कि आज तक ऐसा अनुभव हुआ है, लेकिन कल भी ऐसा ही ज़रूर होगा यह किस आधार पर कहा जा सकता है। पश्चिमी दर्शन में यह समस्या PROBLEM OF INDICATION के नाम से जानी जाती है।

दूसरी ओर यह समस्या उठती है कि अगर हमारी बात का आधार अनुभव नहीं है, तो फिर और क्या होगा ? शायद अनुभव के बारे में यह भेद तो सभी मानते हैं कि वह अनुभव इन्द्रिय जनित है या केवल मन या अन्त:करण के द्वारा ही प्राप्त होता है। पहले को 'प्रत्यक्ष' की संज्ञा दी जाती है और दूसरे को अन्तरानुभूति की। दूसरी ओर अन्तरानुभूति के भी अनेक भेद हैं। लेकिन इन दोनों में जो मूलभूत भेद है वह ज्ञान के संदर्भ में इस बात पर आधारित प्रतीत होता है कि बाह्य प्रत्यक्ष में एक ऐसी वस्तुनिष्ठता होती है कि प्रत्यक्ष अनुभूति करने वाले उसे करीब-करीब एक जैसा ही अनुभव करते हैं।जबकि दूसरे के बारे में यही कहा जा सकता है कि वह केवल मेरे अपने अनुभव का विषय है, दूसरे तो उसे केवल इसी आधार पर मानते हैं कि मैं यह कह रहा हूँ कि मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है, और उनके यह सोचने का कोई आधार नहीं है कि इस संदर्भ में मैं झूंठ बोल रहा हूँ।

भारतीय दार्शनिक परम्परा में उपपत्ति, तर्क और युक्ति की बात भी की गई है जो काफी हद तक पश्चिमी दर्शन के उस आकारिक सत्य से मिलती जुलती है जो यह कहता है कि 'अगर ऐसा है तो यह भी ज़रूर होगा'। लेकिन यह बात भारतीय दर्शन में स्पष्ट रूप में नहीं देखी गयी है और न ही उसको उस स्वतंत्र रूप में विकसित किया गया है, जैसा कि पश्चिमी तर्क शास्त्र में हुआ है। आज तो यह विकास अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया है और उसने शुद्ध तर्क शास्त्र का रूप ले लिया है जिसके बारे में सोचना भी मुश्किल है। परन्तु उन सबका मूल यही है कि अगर यह मानते हैं तो यह भी मानना पड़ेगा।

परन्तु, इस संबंध में चाहे भारतीय और पश्चिमी तर्क शास्त्र में कितना ही भेद हो उनमें कुछ समस्यायें तो एक जैसी लगती है। इनमें एक समस्या तो इस बात को लेकर है कि क्या कोई

स्वतः सिद्ध सत्य होते हैं। यानि ऐसा सत्य जिसको प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, या दूसरी तरह से कहें तो जो दूसरों को ही प्रमाणित नहीं करते बल्कि स्वयं को भी प्रमाणित करते हैं।

भारतीय परम्परा में इस प्रकार के प्रमाण वाक्यों को दीपक की उपमा देकर समझाया है और यह कहा गया है कि जैसे दीपक अन्य वस्तुओं को ही आलोकित और प्रकाशित नहीं करता बल्कि अपने को भी प्रकाशित करता है इसी प्रकार यह प्रमाण भी दूसरों को सिद्ध करने के अलावा अपने को भी सिद्ध करता है। यह उपमा आम तौर पर स्व-प्रकाशत्व के संबंध में दी जाती है, लेकिन न्याय सूत्र में गौतम ने इसे स्वतः- प्रमाणत्व के संबंध में दिया है।

लेकिन, इसके बावजूद भारतीय दर्शन परम्परा में प्रमाण संबंधी चिंतन, ज्ञान संबंधी चिंतन से इतना जुड़ा हुआ है कि उसका उससे अलग होकर स्वतंत्र विकास बहुत बाद में हुआ प्रतीत होता है। यही नहीं चूंकि अनुमान का आधार प्रत्यक्ष है और क्योंकि यह आधार अनुभवाश्रित है इसलिए भारतीय चिंतन में शुद्ध तार्किक संबंधों को अनुभवाश्रित संबंधों से पूर्णतः अलग नहीं किया गया। गौतम ने तो अपने न्याय सूत्र में अनुमान के भेद इसी आधार पर किये थे और यह कहा था कि अनुमान यां तो दर्तमान से भूतकाल की ओर होता है, या भविष्य के बारे में, या किसी ऐसी स्थिति के बारे में जो वर्तमान में ही किसी अन्य जगह हो रही है। कहने का मतलब यह है कि ज्ञान की प्रक्रिया को आम तौर पर कर्म से संबंधित मानने से उसमें अनिवार्य रूप से काल क्रम संबंधी विचार उपस्थित हुआ था, जबकि शुद्ध तार्किक संबंधों में कल की बात उठती ही नहीं है। दूसरी ओर प्रत्यक्ष और शब्द को प्रमाण का आधार मानने से कुछ ऐसी समस्यायें जन्म लेती हैं जो शुद्ध तार्किक संबंधों के विषय में कभी उठती ही नहीं है। इस संदर्भ में यह आश्चर्य की बात जरूर है कि भारतीय प्रमाण चिंतन की परम्परा पर शुद्ध गणित में होने वाली विचार प्रक्रिया का कोई प्रभाव दिखाई नहीं पड़ता है। जबकि पश्चिमी तर्क चिंतन में ज्यामिति शास्त्र का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है। यहाँ यह पता लगाने की बात है कि क्या भारतीय गणित का कोई ऐसा रूप था जो उसे पश्चिम में होने वाले गणित के इतिहास से पूर्णतः पृथक करता है। एक ओर तो खगोल शास्त्र जो भारतीय परम्परा में ज्योतिष के नाम से जाना जाता था और गणित के लिए भारत प्राचीन समय में अपने से दूर के देशों में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था, वहीं दूसरी ओर यह देखकर आश्चर्य होता है कि इन क्षेत्रों में होने वाले बौद्धिक प्रयासों का दार्शनिक चिंतन पर कोई असर दिखाई नहीं देता है। लेकिन इस संदर्भ में यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि इस विषय पर अभी तक कोई गहरी खोज नहीं की गई प्रतीत होती है।

इसके अलावा ऐसा लगता है कि भारत में प्रमाण संबंधी विचार की दिशा बौद्ध दार्शनिकों द्वारा गहरे रूप में प्रभावित हुई है, क्योंकि जहाँ एक ओर उन्होंने द्रव्य की सत्ता का खण्डन करते हुए केवल प्रत्यक्षानुभूत गुणों की ही सत्ता को स्वीकार किया वहीं दूसरी ओर अवयवी की स्वतंत्र सत्ता मानने से इंकार करके अन्ततोगत्वा सारे ज्ञान को एक ऐसे वैचारिक शब्द-केन्द्रित तत्व के रूप में देखा जिसका मूल या तो ऐसे 'स्व-लक्षणों' में था जिनका वर्णन सिद्धांततः असंभव था या ऐसे 'शून्य' में था जिसके बारे में कुछ कहा ही नहीं जा सकता था। यही नहीं, नागार्जुन ने प्रमाण मात्र की संभावना का खण्डन करके ऐसी समस्या को जन्म दिया जो प्रमाण चिंतन के मूल पर ही आघात करती थी।

पर, दार्शनिक चिंतन इस खण्डन-मण्डन परम्परा में भी पनपता है, और भारत में भी ऐसा ही हुआ। बौद्धों की प्रबल तार्किक युक्तियों ने, चाहे वे प्रमाण-मात्र के खण्डन में ही क्यों न हो, एक ऐसी बौद्धिक वैचारिक परम्परा को जन्म दिया जिसका केन्द्र बिन्दु प्रमाण-व्यापार की स्वायत्तता को बचाना ही नहीं था परन्तु द्रव्य की सत्ता को विशेषतः आत्मा की सत्ता को बचाना भी था। इसके साथ ही अवयवी की सत्ता को उनके प्रबल प्रहारों से बचाना भी था, क्योंकि अगर अवयवी की सत्ता को सच न माना तो फिर सारा संसार ही असत्य हो जायेगा। यही बात उन अनेक बातों के बारे में भी सत्य थी जिनका बौद्धों ने खण्डन किया था। दूसरी ओर दार्शनिकों को उस जैन दर्शन का भी खण्डन करना था जो सभी दृष्टियों को अन्ततः ठीक मानती थी और जिनकी राय में कुछ भी गलत नहीं था क्योंकि जो सत है वह अपने आप में अनेकांतिक है, और मनुष्य जो भी कहता है वह अनिवार्यतः एकान्तिक ही होता है। इसके अलावा मीमांसकों में 'शब्द' के नित्यत्व और वेद के अपौरुषेयत्व की बात करके एक ऐसी समस्या को जन्म दिया जो दार्शनिक चिंतन का केन्द्र बिन्दु बनी, और चूंकि 'शब्द' का ज्ञान से अनिवार्य संबंध है, इसलिए ज्ञान की नित्यता की समस्या ने भी जन्म लिया। यही नहीं इसके अलावा यह भी समस्या उत्पन्न हुई कि ज्ञान अगर उत्पन्न होता है तो फिर वह किसका गुण है— आत्मा का, पृथ्वी का या मन का। और फिर अगर द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता को माने तो फिर 'गुण' का द्रव्य से क्या संबंध होता है और इस संबंध को किस प्रकार से समझा जाए? यही नहीं 'गुण' और द्रव्य क्या सब एक ही प्रकार के होते हैं या भिन्न-भिन्न प्रकार के, और अगर दूसरा विकल्प सत्य है तो इनमें क्या भेद है, या भेद करना चाहिए। इन सबके साथ ही जो एक अन्य मूलभूत समस्या थी वह कार्य-कारण को लेकर थी और उसका स्वरूप यह था कि अगर 'कार्य-कारण' में पहले से ही निहित था तो फिर 'उत्पत्ति' की बात कैसे की जा सकती है? और अगर नहीं था, तो यह कैसे माना जा सकता है कि 'जो नहीं था' वह कभी भी कैसे उत्पन्न हो सकता है?

इन सबके अलावा भी बहुत सी समस्याएं थीं जिसमें से कुछ तो दार्शनिक सम्प्रदायों के अपने चिंतन से उत्पन्न हुई थीं क्योंकि उनकी स्थापना में आपस में विसंगतियाँ थीं और कुछ अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों द्वारा उनके मतों के विरोध में दी गई युक्तियाँ थीं जिनका खण्डन करना जरूरी था। इस प्रकार यह खण्डन-मण्डन की परम्परा सतत् विकसित होती गई और इसीने भारतीय दार्शनिक परम्परा को वह रूप दिया जो उसका अपना वैशिष्ट्य है, क्योंकि उसमें हमेशा पहले पूर्व पक्ष की बात की जाती है और फिर उसका खण्डन करके अपने सिद्धांत की बात की जाती है। यही नहीं इस परम्परा का वैशिष्ट्य यह भी है कि पूर्व पक्ष को इतने जोरदार तरीके से रखना चाहिए कि पूर्व पक्ष को मानने वाले सिद्धान्ती भी उसको

ज्यादा अच्छे तरीके से नहीं रख सके और यह मानने पर विवश हों कि उनकी बात को इससे अच्छे तरीके से नहीं रखा जा सकता था। इस परम्परा ने तो कभी-कभी यह भी रूप ले लिया कि पूर्व पक्ष को प्रस्तुत करते समय उसके विरोध में दिये जाने वाले तर्क भी दिये जाएँ, और उनका भी खण्डन करके उस पूर्व पक्ष की स्थापना इतने प्रबल ढंग से की जाए कि ऐसा लगे की वही वास्तव में सत्य है और ऐसा करने के बाद ही उसका खण्डन करके अपने सिद्धांत का निरूपण किया जाये। गौतम ने अपने न्याय सूत्र में 'सिद्धांत' की चर्चा करते समय तीन तरह के सिद्धांतों में भेद किया था। एक वह जो सब तंत्रों को मान्य हो, दूसरा वह जो केवल किसी दूसरे के तंत्र में मान्य है, अपने तंत्र में नहीं, तीसरा वह जो अपने तंत्र में मान्य है, दूसरे के तंत्र में नहीं । इससे ऐसा लगता है कि न्याय शास्त्र के पहले ही अलग तंत्र और उनके सिद्धांतों की बात होने लगी थी और इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होने लगा था कि कुछ सिद्धांत ऐसे हैं जो सब तंत्रों में पाए जाते हैं।

विभिन्न सूत्रों में इस तरह दार्शनिक परम्पराओं की स्थापना के बाद भारतीय दार्शनिक परम्परा ने वह परिपक्व रूप लिया जो एक दूसरे के आघात-प्रतिघात, खण्डन- मण्डन के द्वारा विकसित हुई और जिसको तभी ठीक तरह समझा जा सकता है जब उसे एक ऐसे स्वतंत्र बौद्धिक विचार के रूप में देखा जाए जहाँ प्रत्येक दार्शनिक परम्परा दूसरे में परिवर्तन लाती है और उसके द्वारा स्वयं परिवर्तित होती है। इस चिंतन को विशिष्ट रूप देने में जहाँ एक ओर बौद्ध दार्शनिकों ने अपना विशिष्ट योगदान दिया वहीं दूसरी ओर न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा आदि परंपराओं से संबद्ध दार्शनिकों ने अलग—अलग और मिलकर अपना योगदान दिया । बौद्धों में नागार्जुन, असंग, दिङ्गनाग, वसुबन्धु, धर्मकीर्ति आदि न्यायसूत्र में वात्स्यायन और उद्योतकर, मीमांसा सूत्रों में शबर स्वामी और कुमारिल का नाम हमेशा लिया जाता है जबकि वैशेषिक सूत्रों से प्रारम्भ होनेवाली परम्परा में कणाद और प्रशस्तपाद ने योगदान दिया है। सांख्य के नाम से प्रख्यात दार्शनिक परम्परा में सर्वप्रथम ईश्वरकृष्ण ने भी इस दार्शनिक तत्वचिन्तन को आगे बढ़ाया ।

ये सब लोग करीब- करीब ईसा की 8वीं शताब्दी के पहले के लोग हैं जब शंकर का भारत के दर्शन क्षेत्र में आगमन होता है और उनके आने के बाद यह कहा जाता है कि भारतीय दर्शन में एक नये युग का प्रारम्भ होता है, हालांकि उनके चिंतन के प्रभाव को फैलने में काफी समय लगा। लेकिन दार्शनिक चिंतकों का प्रभाव फैलने में हमेशा समय लगता है । शंकर के पहले और शंकर के बाद भारतीय दार्शनिक परम्परा में जो मूलभूत भेद हुये उसकी चर्चा हम आगे करेंगे। लेकिन इससे पहले, सूत्रकाल से शंकर के समय तक होने वाले दार्शनिकों का कुछ परिचय देना आवश्यक है जिससे पढ़ने वाले के मन में इन 600-700 साल के समय में भारत में होनेवाले दार्शनिक तथा उनसे संबंधित दार्शनिक तथा उनसे संबंधित परम्पराओं का कुछ ज्ञान हो सके । यह ठीक है, जैसा कि हमने अभी कहा था कि दार्शनिक परम्पराओं के चिंतन के विकास को उन दार्शनिक परम्पराओं के आपसी संबंधों को देखे बगैर नहीं समझा जा सकता, लेकिन अभी तक भारतीय दर्शन पर जो भी लिखा गया है वह इस संबंध को नजर-अंदाज करके ही लिखा गया

है। हाँ, कुछ ऐसे गिने-चुने लोग जरूर हैं जिन्होंने इनके संबंधों की ओर भी ध्यान दिया है, विशेषकर बौद्धों और नैयायिकों के आपसी संबंधों के बारे में धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री का नाम प्रमुख है जिन्होंने अपनी पुस्तक CRITIQE OF INDIAN REALISM में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं को इस तरह से दिखाने की शुरुआत की थी। लेकिन उनके बाद इसको किसी ने आगे नहीं बढाया, इसलिए भारतीय दर्शन के विकास को इस काल में समझने के लिए सबसे पहले हमें दार्शनिक परम्पराओं के अपने वैशिष्ट्य और विकास को ही समझना होगा। और फिर ऐसा करने के बाद उन आपसी संबंधों की ओर ध्यान देना होगा जिसके संदर्भ में ही इस विकास को समझा जा सकता है ।

लेकिन दर्शन की इन विशिष्ट परम्पराओं को समझने में भी एक मूलभूत कठिनाई यह है कि अभी तक इन दार्शनिकों के व्यक्तिगत चिंतन की ओर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है और ऐसे तो बहुत ही बिरले लोग होंगे जिन्होंने उनके लिखे हुए ग्रंथों का गहन अध्ययन करके, उनके द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक समस्याओं के तर्कों का शुद्ध तार्किक दृष्टि से आकलन किया होगा। लेकिन यह सब सच होते हुए भी, इन परम्पराओं के विकास को समझने का प्रयास तो करना ही होगा, और यह पुस्तक उसी दिशा में कुछ करने की कोशिश करती है, इस उम्मीद के साथ कि आगे आने वाले लोग इसी दिशा में इसे आगे बढ़ायेंगे ।

4

भारतीय दर्शन के क्षेत्र में शंकर का आगमन और उसका दूरगामी प्रभाव

अब अगर हम भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय के मूलभूत ग्रंथों को लें और उनके विकास की ओर ध्यान दें तो कुछ इस तरह की तस्वीर बनती है ।

ईसा के बाद के हजार वर्ष में विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं की स्थिति पर सरसरी नजर डालने से ऐसा पता लगता है की इन हजार सालों में बौद्ध दार्शनिकों का अत्यधिक बोलबाला था उनके दार्शनिकों की कुल संख्या 116 है जबकि दूसरे सम्प्रदायों की संख्या नाम मात्र की है। इनकी तुलना में केवल जैन दार्शनिकों की संख्या ही उल्लेखनीय है जो करीब 43 है । ये दोनों अवैदिक दार्शनिक परम्पराएं थीं और इनका जोड़ 159 के करीब होता है जो कुल दार्शनिकों की संख्या से आधे से जरा ही कम है। ईसा के बाद के हजार वर्षों में कुल दार्शनिकों की संख्या 253 है । वैदिक परम्परा से निकलने वाली स्पष्ट दार्शनिक धाराएं मीमांसा एवं वेदांत कही जा सकती हैं। इनके दार्शनिकों की संख्या मात्र 29 है जो इतनी कम है कि यह कहना मुश्किल होगा कि एक हजार साल में इन दार्शनिक परम्पराओं का बोलबाला था । मीमांसा में केवल 13 लोगों के नाम ज्ञात हैं जबकि वेदांत परम्परा में 16 दार्शनिक दिखाई पड़ते हैं । लेकिन अगर थोड़ा अधिक ध्यान से देखें तो इस परम्परा के होने वाले दार्शनिक अधिकतर शंकर के बाद ही दिखाई पड़ते हैं । इस तरह शंकर से पहले होने वाले वेदान्त परम्परा के दार्शनिक ग्रंथ केवल दो ही मिलते है इनमें से भी एक ग्रंथ यानि गौड़पाद की **माण्डूक्यकारिका ब्रह्म सूत्र** से एक स्वतंत्र ग्रंथ है हालांकि इसको अद्वैत वेदांत की परम्परा का प्रधान ग्रंथ माना जा सकता है ।

साधारणतः शैवागम की परंपरा में लिखे गये दर्शन अवैदिक माने जाते हैं, हालांकि काश्मीर शैवदर्शन और अद्वैत वेदान्त में कई बिन्दुओं पर साम्य दृष्टि गोचर होता है। लेकिन यह सत्य होते हुए भी इसमें कोई विशेष संदेह नहीं किया जा सकता कि काश्मीर शैव दर्शन का मूल स्रोत मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषदों के नाम से ज्ञात ग्रन्थों में नहीं है। एक तरह से यह बात सांख्य और वैशेषिक दर्शन के बारे में भी सत्य है, और कुछ हद तक न्याय दर्शन के बारे में भी। लेकिन इनको वैदिक परम्परा में मानने के दो कारण हैं, एक तो यह धर्म, निःश्रेयस् , अपवर्ग आदि की चर्चा अपने मूल ग्रन्थों में करते हैं, और दूसरा यह कि इनकी परम्पराओं में लिखे जाने वाले बाद के अनेक ग्रन्थ अपने को उस धारा से जोड़ने की कोशिश करते हैं जिसको वैदिक कहा जाता है। **न्याय सूत्र** तो स्पष्टतः शब्द प्रमाण की चर्चा के संदर्भ में वेद की बात

करता है। लेकिन काश्मीर शैव दर्शन और शैव सिद्धांत जहाँ तक हमें ज्ञात है कभी भी ऐसा नहीं करते । इन विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में लिखे जाने वाले ग्रन्थों की संख्या हमने कार्ल पॉटर के प्रसिद्ध ग्रन्थ **एनसाइक्लोपीडिया ऑफ इन्डियन फिलॉसॉफीज़** के प्रथम भाग से ली है। इसमें कुछ गलतियाँ भी हो सकती हैं लेकिन उससे पूरी तस्वीर में कोई खास तब्दीली होने की संभावना दिखाई नहीं देती ।

शंकर के बाद होने वाले दार्शनिकों में भी भास्कर अद्वैत परम्परा के स्वतंत्र दार्शनिक हैं और वाचस्पति मिश्र प्रथम तो न्याय और सांख्य परम्परा में भी उसी प्रकार लिये जा सकते हैं जितने कि अद्वैत वेदांत परम्परा में । इस सबसे ऐसा लगता है कि वेदान्त के नाम से जानी जाने वाली परम्परा का शंकर से पहले कोई विशेष प्रभाव नहीं था, और मीमांसा के नाम से जानी जाने वाली परम्परा भी अन्य दार्शनिक परम्पराओं के मुकाबले कोई बहुत अधिक बलवती नहीं थी। उदाहरण के लिए न्याय में मीमांसा से अधिक दार्शनिक मिलते हैं, जबकि सांख्य एवं वैशेषिक में जिन दार्शनिकों के नाम आते हैं उनकी संख्या मीमांसकों से कुछ ही कम है । योग जिसको दार्शनिक परम्पराओं में गिन लिया जाता है उसका तो कहीं नाम ही नजर नहीं आता या तो वे **योग सूत्र** मिलते हैं या उस पर लिखा हुआ एक भाष्य। इन दो ग्रंथों के अलावा इस दर्शन पर कोई अन्य विशेष ग्रंथ नहीं दिखाई देता ।

इन दार्शनिक परम्पराओं के विपरीत जब हम बौद्ध और जैन दार्शनिक परम्पराओं की ओर ध्यान देते हैं तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता नागार्जुन से लेकर पण्डित अशोक तक 32 के करीब प्रमुख दार्शनिकों के नाम ही नहीं मिलते, बल्कि यह दार्शनिक परम्परा इतनी अक्षुण्ण दिखाई पड़ती है कि हमें असंग एवं वसुबन्धु जैसे ईसा की प्रथम शताब्दी में होने वाले बौद्ध दार्शनिकों पर 850 ए0 डी0 में यशोमित्र का भाष्य मिलता है और इसी प्रकार 1000 ए0 डी0 में नागार्जुन और असंग पर परहितभद्र का भाष्य मिलता है । इसी तरह धर्मकीर्ति पर रविगुप्त की वृत्ति 1000 ए0 डी0 में मिलती हैं ।

ऐसा अक्सर कहा जाता है कि शंकर ने बौद्ध दर्शन परम्परा को भारत में बिल्कुल नष्ट कर दिया था। लेकिन बौद्ध दार्शनिक परम्पराओं को ध्यान से देखने पर यह बात बिल्कुल निरर्थक प्रतीत होती है, क्योंकि शंकर के 300 सालों बाद तक करीब-करीब 21 प्रसिद्ध दार्शनिकों के नाम मिलते हैं जिनके ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। इनके मुकाबले वैदिक परम्परा के दार्शनिक शंकर के बाद केवल 7 मिलते हैं । इस तुलना से इस बात का साफ पता चलता है कि शंकर बौद्धों को परास्त करने में कितने असफल रहे थे और इस प्रकार की कहानियाँ शंकर के अनुयायियों ने मन-गढ़न्त आधार पर ईसा के दूसरे हजार साल में फैलानी शुरू की होंगी । यही नहीं अगर हम शंकर के बाद होनेवाले जैन दार्शनिकों की ओर ध्यान दें तो इनकी भी संख्या वेदान्तियों से अधिक प्रतीत होती है । जैन दार्शनिकों की संख्या 12 के करीब है जबकि वेदान्तियों की संख्या कुल 7 है। यह ठीक है कि अगर हम बौद्ध और जैन परम्पराओं की बात छोड़ दें तो बाकी सब परम्पराओं के दार्शनिक वेदान्तियों से कम ही मिलते हैं ।

अगर हम एक हज़ार ईस्वी से 1200 ईस्वी तक का लेखा-जोखा लें, तो हमें और भी आश्चर्य होगा, क्योंकि इन 200 सालों में प्रमुख वेदान्तियों की संख्या कुल 5 है जबकि प्रमुख बौद्ध दार्शनिकों की संख्या 21 और प्रमुख जैन दार्शनिकों की संख्या 36 के करीब है। इस संदर्भ में अगर हम इस बात का भी ध्यान रखें कि एक हज़ार ईस्वी के बाद शंकराचार्य की परम्परा से भिन्न अन्य वेदान्तिक परम्पराएं भी शुरू होती हैं तो हमारे आश्चर्य का और भी ठिकाना नहीं रहेगा। इस काल में ही यामुनाचार्य और रामानुजाचार्य का आगमन होता है जो दोनों विशिष्टाद्वैत की परम्परा में माने जाते हैं जिसमें से रामानुज ने तो शंकर के अद्वैत का खुलकर खण्डन किया था। उन्होंने शंकर के मत को पूर्व पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया था और पूर्व पक्ष का यह प्रस्तुतीकरण भारतीय दर्शन के इतिहास में इतना प्रसिद्ध है कि वह पूर्व पक्ष प्रस्तुत करने का मानदण्ड ही बन गया है। इसी काल में रामानुज के 80 वर्ष बाद उन पर 1200 के करीब पहला भाष्य लिखा गया था और इस तरह इन 5 वेदान्तिक दार्शनिकों में से 3 तो शंकर की परम्परा से अलग थे। शंकर की वेदांत परम्परा में तो इन 200 सालों में केवल 2 ही प्रसिद्ध दार्शनिक मिलते हैं। इनमें से श्री हर्ष का खण्डन खण्ड खाद्य एक स्वतंत्र ग्रंथ है, हालांकि उसे अद्वैत का ही ग्रंथ माना जाता है और शंखपाणि ने मण्डन मिश्र की ब्रह्म-सिद्धि पर भाष्य लिखा। यह ठीक है कि ये दोनों ग्रंथ अद्वैत परम्परा में लिखे माने जाते हैं, फिर भी ये शंकर के किसी ग्रंथ पर सीधे लिखे गये भाष्य, वार्तिक या वृत्ति की कोटि में नहीं आते हैं, सर्वज्ञात्मन और वर्धाचार्य शंकर की परम्परा में अवश्य माने जा सकते हैं।

इस सब के विपरीत अगर हम बौद्ध परम्परा की ओर ध्यान दें तो हम पाते हैं कि इस काल के बौद्ध दार्शनिकों ने धर्मोत्तर, चन्द्रकीर्ति, प्रज्ञाकर गुप्त, वसुबन्धु, शान्तिदेव, धर्मकीर्ति आदि पर विस्तार से लिखा है। इनमें से कुछ लोगों ने विज्ञान वाद और माध्यमिक परम्पराओं पर भी लिखा है जो ईसा की पहली शताब्दी के आसपास प्रसिद्ध हो चुकी थीं। यही नहीं इस काल में एक अन्य बौद्ध दार्शनिक की ख्याति फैलती है जिसका नाम अनिरुद्ध था जो ईसा की 1110 ए0 डी0 में हुआ था उस पर करीब-करीब 6 लोगों ने लिखा है और इस संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि अनिरुद्ध के होने के 10 सालों बाद ही लोगों ने उन पर लिखना प्रारम्भ कर दिया था।

इन सबसे पता चलता है कि बौद्ध दार्शनिक परम्परा एक हजार ईस्वी के बाद भी कितनी जीवन्त थी और अन्य दार्शनिक परपम्पराओं की तुलना में उसका कितना अधिक वर्चस्व था। इसी काल में अगर जैन दर्शन परम्परा पर ध्यान दें तो हमारे आश्चर्य का ठिकाना और भी नहीं रहेगा। इन 200 सालों में 36 के करीब प्रसिद्ध दार्शनिकों के नाम मिलते हैं जो संख्या में बौद्धों से भी अधिक है। अगर इनकी तुलना शंकराचार्य के बाद होने वाले जैन दार्शनिकों से करें तो इनकी संख्या पर हमें और भी आश्चर्य होगा, क्योंकि उन 300 सालों में (700 से 1000 ईस्वी तक) जैन दार्शनिकों की संख्या सिर्फ 12 के करीब प्राप्त होती है।

इस तरह देखने पर ऐसा लगता है की 1200 ईस्वी तक श्रमण परम्परा के दार्शनिकों का बोल-बाला था और वे दार्शनिक परम्पराएं जिनको वैदिक कहा जाता है, और वे दर्शन जो उन परम्पराओं से सम्बद्ध थे जिनको वैदिक की कोटि में रखा जाता है, इनकी तुलना में बिल्कुल नगण्य थे। फिर भी आज भारतीय दर्शन के इतिहास में इस 1200 सालों की जो दार्शनिक तस्वीर प्रस्तुत की जाती है, वह इससे बिल्कुल विपरीत है क्योंकि उसमें मीमांसा, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक एवं सांख्य आदि परम्पराओं का ही उल्लेख मिलता है बौद्ध और जैन परम्परा तो इन इतिहासकारों के लिए कोई विशेष महत्व नहीं रखती क्योंकि वे अवैदिक थीं, या उनकी भाषा में कहें तो 'नास्तिक' थीं इतने बड़े 'झूठ' का प्रचार कैसे सर्वमान्य हो गया, यह सवाल आज तक किसी ने उठाया भी नहीं है और यह शायद इसलिए है कि जो 'नास्तिक' है उनकी बात ही कम की जाती है।

जो कुछ भी हो, अब तो हमारा धर्म और कर्तव्य दोनों यही है कि इस तस्वीर को मूल रूप से बदला जाए और जो अन्याय भारतीय दर्शन के इतिहासकारों ने बौद्ध और जैन परम्पराओं के साथ किया है उसके लिए 'प्रायश्चित' किया जाए। और, यह तभी हो सकता है जब हम तथ्यों के आधार पर ईमानदारी से सही-सही नई तस्वीर बनाने की कोशिश करें। और अगर ऐसा करते हैं तो पहली बात जो खुलकर सामने आती है वह यही है कि यह बात जो आज सब लोग सहज रूप में मानते हैं कि शंकराचार्य ने बौद्धों को परास्त कर बौद्ध दार्शनिकों को भारत की पुण्य भूमि से सदा के लिए निकाल दिया था यह बिल्कुल गलत है। शंकर के 500 सालों बाद तक भी बौद्ध दार्शनिकों का बोल बाला था और वेदान्तियों का तो कहीं पता ही नहीं था। बौद्ध दार्शनिकों को खत्म करने वाले न शंकाराचार्य थे और न कोई अन्य वैदिक या अवैदिक परम्परा के मानने वाले। वह तो बख्तियार खिलजी था जिसने 1200 ईस्वी में नालंदा को पूर्ण रूप से ध्वस्त कर दिया था और जिसके साथ ही वहाँ रहने वाले हजारों बौद्ध भिक्षु और दार्शनिक एक साथ ही मृत्यु को प्राप्त हो गये थे यही नहीं उस एक-दो दिन में ही वहाँ का सारा अमूल्य ग्रंथ भण्डार भी जलकर नष्ट हो गया था। दर्शन के इतिहास में शायद ही ऐसा और कहीं हुआ हो। पुस्तकालयों के नष्ट होने की बात तो सुनते हैं पर एक साथ इतने सारे दार्शनिकों के मरने की बात शायद ही कहीं और हुई हो। जब महमूद गजनी (1000 AD) ने उत्तर भारत पर आक्रमण किया था तब स्वयं अलबेरूनी के कथनानुसार बहुत से ब्राह्मण और पण्डित दक्षिण की ओर बचकर भाग गए थे। पर नालन्दा में तो भागने का मौका ही नहीं मिला। सब एक साथ ही जलकर खत्म हो गये। कोई 2, 4, बचे थे वे, सुनते हैं नेपाल या तिब्बत की ओर चले गये। बौद्ध दार्शनिक परम्परा इस प्रकार नालन्दा के साथ ही भारत में समाप्त हो जाती है, क्योंकि इसके बाद किसी बौद्ध दार्शनिक का नाम ही नहीं मिलता। किसी एक दो का नाम कहीं मिलता भी है, तो उनके बाद तो केवल शून्य नज़र आता है।

यह सब ठीक होते हुए भी यह तो खोज का विषय रहेगा ही कि क्या भारत में बौद्ध धर्म और दर्शन के कोई अन्य क्षेत्र नहीं थे। किसी जमाने में तो बौद्ध सब जगह ही मिलते थे। फिर यह कैसे हुआ कि नालन्दा के समाप्त होने के साथ ही भारत से बौद्ध धर्म बिल्कुल ही लुप्त

हो गया, जबकि जैन धर्म और दर्शन की परम्परा आज तक भी मिलती है । इन प्रश्नों का उत्तर कुछ भी हो, इतना तो साफ ही है कि 1200 ईस्वी के बाद का दार्शनिक इतिहास भारत में उससे बिल्कुल भिन्न है जो वह 1200 ईस्वी तक था, क्योंकि बौद्धों के दार्शनिक क्षेत्र से हट जाने के बाद केवल वैदिक परम्परा के दार्शनिकों का ही बाहुल्य था यह ठीक है कि जैन दर्शन की परम्परा अक्षुण्ण थी, लेकिन वह अपने लिए वैसा स्थान कभी भी नहीं बना पाई जो बौद्ध दार्शनिकों ने शुरू से ही अपने लिए बना लिया था। इसके कुछ कारणों की चर्चा हम पहले कर चुके हैं और विस्तार से आगे भी करेंगे । यहाँ तो केवल इतना ही कहना काफी है कि 200 ईस्वी के बाद भारतीय दार्शनिक परम्परा का केन्द्र या तो न्याय था, या अद्वैत और अन्य वेदांतिक मतों के बीच का वह वाद-विवाद जिसका अंत आज तक भी नहीं हो पाया है ।

यह सब ठीक होते हुए भी शंकर का जो दार्शनिक स्थान भारतीय दर्शन परम्परा में बन चुका था उसके कई कारण उनके दर्शन के उन अनेक पहलुओं में हैं जिनमें वे अपने से पहले होने वाली समस्त दार्शनिक धाराओं को एक अन्य सूत्र में बांधते हैं और उनको एक ऐसे नए समन्वित रूप में रखने की कोशिश करते है जिसके द्वारा उन सब के मूल सत्य की रक्षा करते हुए भी उनका इस प्रकार खण्डन करते हैं कि वह खण्डन आज भी जीवन्त दिखाई पड़ता है । भेद और अभेद की जिस मूल समस्या की ओर हमने कुछ देर पहले इशारा किया था, वह दर्शन की इतनी आधारभूत समस्या है कि उसको केन्द्र बिन्दु में रखकर शंकर ने दार्शनिक चिंतन की उस धुरी को पकड़ा जिस पर एक तरह से अन्य सब कुछ आधारित है। बौद्धों ने दार्शनिक चिंतन के एक अन्य आधारभूत पहलू को पकड़ा था और इसलिए वह 1000 साल से ज्यादा तक दार्शनिक वाद-विवाद का केन्द्र बिन्दु बना था। दार्शनिक चिंतन प्रधानत: प्रत्ययों से संबंधित होता है और विश्लेषणात्मक विधि अपनाता है । बौद्ध चिंतन ने इन्हीं दोनों पक्षों को अपने चिंतन का केन्द्र बिन्दु बनाया और कहा कि अगर दार्शनिक चिंतन प्रत्यय से ही संबंध रखता है और उससे बाहर न कभी निकल सकता है, न निकल पाता है तो वो जो सत् है उसको कभी भी कैसे जाना सकता है । दूसरी ओर विश्लेषणात्मक पद्धति जो दर्शन का प्राण है वह कभी भी कैसे किसी अंतिम स्थिति में पहुंच सकती है। वह तो विश्लेषण ही करती रहेगी और यह प्रक्रिया न कभी खत्म हो सकती है न कभी खत्म होने वाली है: क्योंकि जैसे ही यह प्रक्रिया बन्द होगी, स्वयं दर्शन ही समाप्त हो जायेगा। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति ने इस बात को कितने सुन्दर ढंग से कहा है- 'यथा-यथा विचारयन्ते, विशीर्यन्ते तथा-तथा' अर्थात् जैसे -जैसे विचार बढ़ता है वैसे -वैसे हर चीज विखरती(विखण्डित) जाती है। इस विखण्डन का या बिखरने का या खण्डित होने का कोई अन्त नहीं क्योंकि विचार की प्रक्रिया का कोई अंत नहीं है। शंकर ने इसी बात को कुछ ऐसे अलग ढंग से कहा था कि उसमें बौद्ध दृष्टि का समावेश होते हुए भी उसका निराकरण भी स्पष्ट था। दार्शनिक चिंतन की प्रक्रिया के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए शंकर ने कहा कि वास्तव में वह भेद और अभेद का ऐसा मिश्रण है जिसमें भेद तो स्पष्ट दिखाई देता है और अभेद अव्यक्त रूप में ही सदैव उपस्थित होता है । अगर वह 'अभेद' विचार में उपस्थित न हो तो विचार केवल 'भेद' के सहारे चल ही नहीं सकता । बौद्धों को जो विचार की प्रक्रिया सब को खंडित, विघटित या

बिखेरती प्रतीत होती है वह इसी कारण है कि वे इस प्रच्छन्न अभेद को नहीं देख पाती । इस बात को कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है कि अगर 'भेद' न हो तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता क्योंकि कहने के लिए शब्दों की आवश्यकता होती है और शब्दों में भेद होना जरूरी है, वरना कोई वाक्य बन ही नहीं पायेगा । लेकिन शब्दों के एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी उनसे जो अर्थ अभिव्यक्त होता है और जिसके संदर्भ में ही उन शब्दों को 'शब्द' कहा जा सकता है , वह 'एक' रूप ही है क्योंकि वही उनमें सम्बन्ध स्थापित करता है और उनको वह अर्थवत्ता प्रदान करता है जिसकी वजह से ही उनका कोई महत्व होता है ।

इस संदर्भ में कोई यह कह सकता है की आख़िर अर्थों में भी भेद होता है । लेकिन गहराई से देखने पर यह पता चलता है कि वे अनेक अर्थ भी किसी 'एक' छिपे हुये अर्थ को बताने की कोशिश करते हैं । यह बात सुनने में चाहे कितनी अजीब लगे लेकिन अगर हम किसी पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ें, तो यह सवाल सहज रूप में उठता है कि आख़िर यह कह क्या रहा है , और लिखने वाले की दृष्टि से देखें तो यह बात और भी साफ़ लगेगी क्योंकि वह किसी अन्तर्निहित अर्थ को ही उजागर करने में अपना सारा जीवन व्यतीत करता है । यही नहीं अनेकानेक चिंतन और संस्कृतियों के अनेक आयाम मिलकर कुछ कहने की कोशिश करते हैं और कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि मनुष्य मात्र का पुरुषार्थ किसी ऐसे अर्थ को व्यक्त करना है जो अपने सहज रूप में अव्यक्त, अरूप और अनाम है। शंकर के पहले भर्तृहरि ने अपने ग्रंथ वाक्यपदीय में शब्द और अर्थ के उन चारों स्तरों की चर्चा की थी जिनको उन्होंने परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी की संज्ञा दी थी। इनमें से 'परा' की बात तो हो ही नहीं सकती थी पर उसको माने बगैर और किसी की भी बात नहीं हो सकती है।

लेकिन शंकर को समझने में यह बात कितनी ही सहायक हो, एक अर्थ में उन्होंने जो कहने की कोशिश की थी उसके साथ यह न्याय ही करता है । हालांकि उनके विचार को इस प्रकार भी समझा जा सकता है । शंकर ने तो वास्तव में भेद मात्र को असत का लक्षण माना और यह कहा कि सत् वही है जो सदैव चिरन्तन स्थायी रूप में वर्तमान या स्थित रूप में रहता है । चेतना के स्वरूप को अगर ध्यान से देखें तो उसमें जो साक्षीत्व यानि उसका जो सहज गुण है वह तो यही है कि वह तो केवल दृष्टा है , और यही सदैव प्रमाण रहता है। बाकी तो सब 'विषय' रूप में है और उसमें ही भेद होता रहता है। अब अवयव व्यतिरेक की दृष्टि से देखें तो जो हमेशा है वही सत् है जो होता है और फिर नहीं होता उसके 'होने' की पद्धति ऐसी असत् है या मिथ्या है, या कम से कम उस कोटि की नहीं है जिस कोटि का सत् हम उसके बारे में मानते हैं जो सदैव रहता है ।

इसी संदर्भ में शंकर ने सुषुप्ति की बात की थी और यह कहा था कि सोने की अवस्था में भी चैतन्य हमेशा उपस्थित रहता है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो हम कभी भी 'जागने' पर यह न कह सकें कि मैं सुख की नींद सोया । और इसी संदर्भ में जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और

तुरीया की बात की गई है जिनमें से पहली तीन तो सब को प्राप्त है जबकि चौथी अवस्था केवल योगियों को प्राप्त होती है ।

शंकर के विचार के अनेक अन्य आयाम भी हैं जिनमें से कुछ की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, क्योंकि उनके इन पक्षों को समझे वगैर उनके ऐतिहासिक महत्व को नहीं समझा जा सकता । सांख्य दर्शन ने पुरुष और प्रकृति की बात की थी जिनको हम चेतना और उसके विषय के रूप में समझ सकते हैं । चेतना के अनेक विषय होते हैं लेकिन सांख्य ने जो गहरी बात कही वह यह थी कि चेतना जिसका सहज गुण 'दृष्टा' होना है, वह अपने को विषय से तादात्म्य करके 'विषय' रूप में समझने लगती हैं और यही अज्ञान और दुःख का मूल कारण है। थोडा सा सोचने पर समझ में आयेगा कि वह क्या कहने की कोशिश कर रहे हैं । 'मैं' यानी हर आत्मा अपने को शरीर मानती है शरीर, मन, बुद्धि आदि के रूप में मानती है और पूर्ण रूप से ऐसा कहने में हिचकिचाती भी है । उदाहरण के लिए शरीर से अधिक हमारे निकट और कौन हो सकता है, वह चौबीस घण्टे हमारे साथ रहता है, हमारा दुःख-सुख उसी पर आश्रित है लेकिन यह ठीक होते हुए भी हम पूर्ण रूप में कभी भी अपने को शरीर रूप में स्वीकार नहीं करते विशेषकर तब जब हमारे शरीर में कोई रोग हो जाता है या कोई अंग ही कट जाता है । इसी प्रकार हम अपने को अपने कुल, परिवार, जाति, धर्म, देश, आदि से भी परिभाषित करते हैं और यह कहते हैं कि मैं अमुक परिवार, कुल, जाति या देश से संबंधित हूँ । और काफी हद तक इस संबंध से मेरा व्यक्तित्व परिभाषित भी होता है और बनता भी है । लेकिन इन सबके साथ मेरा अजीब सा संबंध है क्योंकि मैं इन सबसे अपने को कुछ हद तक विलग करके भी देख सकता हूँ । इनमें से बहुत से गुण तो ऐसे हैं जो 'आगन्तुक' प्रतीत होते हैं क्योंकि कभी वे होते हैं और कभी नहीं। हाँ 'मैं' या 'अहम्' की भावना हमेशा सहज रूप में इन सबके संबंध में उपस्थित होती है और इसीलिए शायद सांख्य दर्शन में इस भावना को ही प्रथम विषय के रूप में माना है जिसके आधार पर 'चेतना' या 'दृष्टा' या 'पुरुष' अपने को सब अन्य विषयों से संबंधित ही नहीं करता बल्कि अपना उनसे तादात्म्य स्थापित करता है यानि अपने को उन सब रूपों में समझने लगता है । परन्तु यह सब गलत है क्योंकि वास्तव में यह सब नहीं है । यह सांख्य की मूल दृष्टि है ।

सांख्य का यही कहना है कि मनुष्य की चेतना जो युग दृष्टा रूप में है वह अपने को अज्ञानवश अनेक विषयों के साथ एक रूप समझती है और उसी से उसको सुख–दुःख होता है जैसे ही वह अपने को सबसे पूर्णरूपेण भिन्न मानती है वैसे ही उन्हें जो होता है उसका सुख-दुःख उसे नहीं होता है । सांख्य की इस दृष्टि का धरातल क्या है, इसकी कुछ चर्चा हम पहले कर चुके हैं । यहाँ केवल इस ओर ही ध्यान दिलाना है कि जिस प्रकार शंकर ने बौद्धों की दार्शनिक दृष्टि को अपने में समाहित कर लिया था,इसी तरह सांख्य को पूर्णरूप से अपने दार्शनिक चिन्तन में समाहित कर लिया है । और उन्होंने यह कहाकि जब भी आत्मा अपने को विषय रूप में समझता या देखता है तभी वह एक ऐसी मूलभूत गलती करता है जिसके आधार पर ही सारे मोह, लोभ, क्रोध, राग, द्वेष आदि से निर्मित जगत की सृष्टि होती है और जिसमें ही मनुष्य अपना सारा

जीवन बिताता है । इसको ही उन्होंने 'अध्यास' का नाम दिया है। और उन्होंने ब्रह्म सूत्र के अपने प्रसिद्ध भाष्य का प्रारम्भ इससे किया । लेकिन इस सांख्य दृष्टि को उन्होंने इस प्रकार से आत्मसात किया कि उनके लिए 'प्रकृति' जैसी कोई स्वतंत्र सता थी ही नहीं , क्योंकि जो विषय रूप में उपस्थित होता है उसकी सत्ता तो हमेशा 'आश्रित' ही हो सकती है 'स्वतंत्र नहीं'। सांख्य की 'प्रकृति' की परिकल्पना शंकर के दर्शन में माया शब्द से इंगित होती है हालांकि उनके दर्शन में इसका अपना अलग विशिष्ट अर्थ है, लेकिन ऐसा होते हुए भी यह शब्द अब इतने व्यापक रूप में प्रचलित हो गया है कि आज साधारण आदमी भी जगत को 'माया' रूप में कहते और समझते हुए दिखाई देता है । और यही जरा सी बात शंकर के दर्शन के व्यापक प्रभाव को सिद्ध करती है ।

इसी तरह सत्य की चर्चा के क्षेत्र में ' व्यवहारिक ' और 'परमार्थिक' का भेद उन्होंने इतने स्पष्ट और प्रबल रूप में रखा कि वह भी भारतीय दार्शनिकों के बीच एक सहज रूप में माना जाने वाला सत्य बन गया। ऐसा नहीं था, कि शंकर से पहले इस प्रकार के भेद की चर्चा भारतीय दर्शन में नहीं हुई थी । स्वयं नागार्जुन ने उनसे बहुत पहले 'संवृत्ति-सत्र' और 'निवृत्ति-सत्र' कह कर इस भेद की स्थापना की थी, लेकिन वह इतने व्यापक रूप में स्वीकार नहीं किया गया। इस संदर्भ में यह भी ध्यान देने की बात है। हालांकि साधारणतया ऐसा माना जाता है कि नागार्जुन ने अंतिम दृष्टि से इस भेद को भी स्वीकार नहीं किया था, शंकर ने ऐसा नहीं किया। शंकर के दर्शन में तो किसी भी भेद को किसी भी रूप में सत्य स्वीकार करना उनकी दार्शनिक व्यवस्था में असंगति उत्पन्न करना है । उन्होंने तो सारे व्यवहार को भेद पर आश्रित मान कर ही उसकी चरम असत्यता को स्थापित किया, चूंकि जब तक हम शरीर , मन, बुद्धि, अंहकार आदि से युक्त हैं तब तक इस व्यवहार जगत में अनिवार्य रूप से रहते हैं, इसलिए उन्होंने इसे 'व्यवहारिक सत्ता' का नाम दिया और इसका माया या प्रपंच से अनिवार्य संबंध माना ।

इस व्यावहारिक सत्य का कर्म से अनिवार्य सम्बन्ध होने के कारण, उन्होंने कर्म को किसी भी रूप में परमार्थ की साधना से संबंधित नहीं माना और इसी संदर्भ में उस समस्या को जन्म दिया जो 'जीवन मुक्ति' के नाम से जानी जाती है, अर्थात् क्या मनुष्य जीवित रहते हुए भी मोक्ष को प्राप्त कर सकता है या मोक्ष की अवस्था तब ही प्राप्त हो सकती है जब वह 'विदेह' हो जाता है ।

यही नहीं, शंकर ने अपने मत का प्रतिपादन ब्रह्म सूत्र , उपनिषद और गीता पर भाष्य करके 'प्रस्थानत्रयी' की परम्परा को जन्म दिया और इन तीनों ग्रंथों को वैदिक परम्परा में वह प्रधानता प्रदान की जो उनके पहले कभी नहीं थी। उनके बाद तो धीरे-धीरे यह माना जाने लगा कि जब तक कोई अपने मत की प्रस्थापना इन तीनों ग्रंथों के आधार पर नहीं करें, उसके मत को श्रुति सम्मत नहीं माना जा सकता। इसी संदर्भ में श्रुति का अर्थ भी उन्होंने एक नए रूप में रखा और उसको प्रधानतः मुख्य उपनिषदों तक ही सीमित किया। एक प्रकार से बादरायण अपने ब्रह्म सूत्र में यह पहले ही कह चुके थे लेकिन उनके इस प्रयत्न का शंकर से पहले कोई खास प्रभाव नहीं

दिखाई देता। **मीमांसा सूत्र** की 'ब्राह्मण' केन्द्रित यज्ञ-परक व्याख्या ही साधारणतः सबको स्वीकार्य थी । शंकर ने इसके विपरीत उपनिषदों को केन्द्र में रखा और ब्रह्मपरक व्याख्या को स्वीकार किया । यही नहीं उन्होंने गौड़पाद की माण्डूक्यकारिका में वर्णित दृष्टि को अपनाया और इस प्रकार श्रुति की एक ऐसी नई परम्परा को जन्म दिया जो उनके बाद धीरे-धीरे सर्वमान्य होती गई । गीता को तो शायद उन्होंने ही पहली बार दर्शन के क्षेत्र में केन्द्र-ग्रंथ के रूप में रखा और उनके बाद तो इस ग्रंथ की मान्यता बढ़ती ही गई । यहाँ तक कि आज तो जन साधारण में सबसे प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रंथ गीता को ही कहा जा सकता है ।

श्रुति की चर्चा के संदर्भ में ही शंकर ने इस बात पर स्पष्ट बल दिया कि श्रुति की प्रामाणिकता का क्षेत्र केवल ब्रह्म या परमार्थ सत्ता तक ही सीमित है, उसका व्यवहार जगत से कोई सम्बन्ध नहीं है । अपनी प्रसिद्ध उक्ति में उन्होंने इस बात को यह कह कर स्पष्ट किया कि अगर सैंकड़ों श्रुति भी यह कहें कि अग्नि शीतल होती है तो कोई भी उसमें विश्वास नहीं करेगा । इसी संदर्भ में उन्होंने तर्क और श्रुति के सम्बन्ध में भी व्यापक चर्चा की और यह कहा कि श्रुति तर्क का निरादर नहीं करती है वह केवल श्रद्धा की ही बात नहीं कहती बल्कि उस चरम सत्य को समझाने के लिए तर्क के प्रयोग को वांछनीय बताती है, हालांकि शुद्ध तर्क से उस सत्य की प्राप्ति कभी भी नहीं की जा सकती । इसी तरह उन्होंने 'भक्ति' को भी अच्छी तरह व्यवहार के स्तर पर साधन के रूप में स्वीकारा और उसको वहीं तक साध्य माना जहाँ तक यह ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होती है ।

इसके अलावा शंकर का व्यापक प्रभाव सिर्फ दर्शन के बाहर उन सभी संस्थाओं में परिलक्षित होता है जो उन्होंने सन्यासियों के विभिन्न सम्प्रदायों को संगठित करने में किया और जिसको स्थायी रूप देने के लिए देश के चार विभिन्न कोनों में चार तीर्थ केन्द्रों की स्थापना की । ऐसा कहा जाता है कि दशनामी सन्यासी यानि सन्यासियों के दस सम्प्रदाय शंकर के बनाए हुए हैं और उत्तर में बद्रीनाथ, दक्षिण में श्रृंगेरी, पूर्व में पुरी और पश्चिम में द्वारका के प्रसिद्ध अद्वैत केन्द्रों की स्थापना उन्होंने ही की थी । इन सब बातों को ध्यान में रखकर इस पर शायद ही किसी को कोई शंका रहे कि भारतीय दर्शन परम्परा में शंकर का अपना एक ऐसा विशिष्ट स्थान है जो किसी भी अन्य दार्शनिक का नहीं है, क्योंकि उन्होंने अपने से पहले की सारी दार्शनिक परम्पराओं को अपने दर्शन में इस तरह आत्मसात् किया कि उनकी विशिष्ट दृष्टि और उन सबके विशिष्ट सत्य को अपने दर्शन में स्थान देते हुए भी उनका स्पष्टतः खण्डन किया और अनेक ऐसी नई समस्याओं को जन्म दिया जो उनके बाद के दर्शन में हजारों साल तक चर्चित रही । उनके पहले 'वेदांत' नाम का कोई स्वतंत्र दर्शन नहीं था, हालांकि औपनिषदिक दर्शन के नाम से एक दर्शन परम्परा अवश्य जानी जाती थी लेकिन उसका कोई विशेष महत्व नहीं था । उसको साधारणतः इसी रूप में समझा जाता था कि वह केवल 'एक' को ही सत्य मानती है, 'अनेक' को नहीं । । स्वयं गौतम ने **न्याय सूत्र** में इस मत की चर्चा की है और इसका खण्डन किया है, लेकिन उन्होंने इसको कोई नाम नहीं दिया, न 'औपनिषदिक, न वेदांत' । इसी तरह बादरायण ने **ब्रह्म सूत्र** अवश्य लिखा था लेकिन शंकर से पहले उसकी कोई विशेष चर्चा नहीं मिलती । **गीता** की तो कोई

बात ही नहीं करता दिखाई देता । हाँ, शंकर ने कुछ लोगों का नाम अवश्य लिया है, जिन्होंने उस पर कुछ लिखा था लेकिन उनके पहले किसी और ने उनका नाम नहीं लिया है । इस तरह से देखें तो वेदांत के नाम से प्रसिद्ध दार्शनिक परम्परा को पहले शंकर ने ही स्पष्ट रूप दिया है और यह बात इसी से प्रमाणित होती है कि शंकर के बाद जयन्त भट्ट ने अपनी **न्यायमंजरी** में इसका खण्डन किया, हालांकि उन्होंने शंकर का नाम नहीं लिया । यह ठीक है कि हरिभद्र सूरि ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में 'वेदांत' नाम से किसी दर्शन का उल्लेख नहीं किया, हालांकि उनका समय शंकर के कुछ ही बाद माना जाता है । लेकिन उनके बाद ऐसा लगता है कि शंकर का प्रभाव धीरे-धीरे फैलने लगा और 'वेदांत' नाम से समझा जानेवाला नया दार्शनिक सम्प्रदाय सबकी दृष्टि में एक स्वतंत्र दर्शन परम्परा के रूप में स्वीकृत हो गया । आज उनका मत 'अद्वैत वेदांत' के नाम से प्रसिद्ध है, लेकिन यह विशेषण स्पष्ट रूप में हमें बहुत बाद मिलता है । उदयन जो 10 वीं शताब्दी में होते हैं वे भी इस मत को अद्वैत के नाम से नहीं कहते । ऐसा लगता है कि एक हजार ईस्वी के बाद, नए वेदान्ती आचार्यों के आगमन के बाद जिन्होंने **ब्रह्म सूत्र** और **गीता** की नई व्याख्या की, शंकर के मत का वर्णन 'अद्वैत' वेदांत के रूप में होने लगा । इस प्रकार भारतीय दर्शन के इतिहास में ईसा के बाद हजार साल को हम दो भागों में बाँट सकते हैं— शंकर से पहले और शंकर के बाद ।

शंकर ने अपने मत में बुद्ध के विज्ञानवाद और शून्यवाद, सांख्य के प्रकृति और पुरुष के भेद और बादरायण की उपनिषदों की ब्रह्मपरक व्याख्या को, गौतम के **न्याय सूत्र** के प्रमाणों की परम्परा के द्वारा एक नयी दार्शनिक स्थापना को जन्म दिया जिसने आनेवाले काल में भारतीय दर्शन को इतना प्रभावित किया कि आज भारतीय दर्शन और 'अद्वैत वेदांत' करीब-करीब समानार्थक से हो गए हैं । लेकिन यह बात हमेशा सच नहीं थी । शंकर से पहले और न शंकर के बाद, जैसा कि हम आगे देखेंगे । लेकिन भारतीय दर्शन की कहानी को आगे बढ़ाने से पहले शंकर से पहले की दार्शनिक स्थिति पर एक बार फिर नज़र डालना चाहेंगे कि मीमांसा, न्याय, वैशेषिक , सांख्य, बौद्ध एवं जैन दर्शन के नाम से ज्ञात परम्पराओं में क्या हो रहा था । इसका कुछ वर्णन हम पहले भी कर चुके हैं, पर अब हम उनको उस एक नयी दृष्टि से देखेंगे जो शंकर पर की गई चर्चा ने हमको दी है ।

5

शंकराचार्य से पूर्व का दार्शनिक चिंतन

मीमांसा सूत्रों में विधि परक वाक्यों के अर्थों को समझाने की समस्या को उठाया गया था और यह प्रश्न उपस्थित किया था कि इनकी प्रामाणिकता कैसे सिद्ध की जाए, विशेषकर जब वह किसी ऐसे साध्य की बात करते हों जो इन्द्रिय गोचर न हो। **न्याय सूत्र** ने प्रमाण की समस्या को अपना केन्द्रबिन्दु बनाया था और यह कहा था कि उससे तत्व ज्ञान और निःश्रेयस् प्राप्ति की होती है । **वैशेषिक सूत्रों** ने पदार्थ चर्चा के संदर्भ में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय की चर्चा की थी, जबकि **सांख्यकारिका** में ईश्वर कृष्ण ने उनके बाद किए सांख्य चिंतन को एक नया सुसम्बद्ध और समन्वित रूप दिया था जिसमें भी तत्व चर्चा थी, लेकिन उसने इन तथ्यों को वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से विभिन्न रूप में देखा था । जैन दार्शनिकों ने अपनी तत्व चर्चा भिन्न प्रकार से की थी, और बौद्ध दार्शनिक तो किसी तत्व को मानते ही नहीं थे । उनके लिए तो वह केवल मन, बुद्धि और भाषण का मिला-जुला विकल्प था जिनके द्वारा रचित रचना के बाहर कोई वास्तविकता नहीं थी। योग में प्राचीनकाल से प्रचलित साधन परम्पराओं को एक शास्त्र का रूप देने की कोशिश की थी और निरुक्त से प्रारम्भ होनेवाली शाब्द बोध की समस्या को पाणिनि और पतंजलि ने अपने प्रसिद्ध ग्रथों में शास्त्रीय रूप दिया था, जबकि भर्तृहरि ने उसको एक शुद्ध चरम सत्तात्मक रूप अपने शब्द ब्रह्म के सिद्धान्त में दिया था। इसके अलावा दोनों से अलग भरत ने अपने **नाट्य शास्त्र** में संगीत नृत्य आदि विभिन्न कलाओं के समन्वित रूप पर चिंतन कर इस सिद्धांत की पुष्टि की थी जो भारतीय सौन्दर्य शास्त्र का आधार बनी। इसके अलावा वेदांग और उपवेद आदि से प्रारम्भ होनेवाली विद्याओं ने अपने अलग-अलग शास्त्रीय रूप ले लिए थे जिनमें ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद आदि प्रमुख थे । यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि ज्योतिष का अर्थ खगोल और नक्षत्र शास्त्र से है हालांकि उनका सम्बन्ध उससे भी सदैव रहा है जिसे आजकल 'ज्योतिष' कहते हैं और जिसे पहले 'फलित ज्योतिष' कहा जाता था। इनके अलावा अर्थशास्त्र की रचना हो चुकी थी जिसे दण्डनीति भी कहा जाता है और जो राज धर्म और राजनीति से सम्बन्धित थी । राज्य के अलावा समाज पर चिंतन प्रधानतः **धर्म सूत्रों**, **धर्म शास्त्रों** और **स्मृति ग्रंथों** में किया गया था जिसके **गृह्य सूत्र** और **श्रौत सूत्र** अनिवार्य अंग थे । **गृह्य सूत्र** गृहस्थ धर्म से संबंधित थे और श्रौत सूत्र यज्ञों की विधि से । इतिहास और पुराण के नाम से जानी जानेवाली विद्याओं की रचना भी हो चुकी थी क्योंकि इनके बारे में वर्णन **छान्दोग्य** जैसे पुराने उपनिषद में मिलता है।

इस प्रकार अनेकानेक विद्याओं और शास्त्रों की रचना शंकर से बहुत पहले हो चुकी थी। इन सबका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे, लेकिन दर्शन की चर्चा के संदर्भ में यह ध्यान रखना जरूरी है कि ये सब विद्याएं अपने-अपने अलग-अलग शास्त्रों का रूप ले चुकी थीं और इनका भी क्रमिक विकास उसी काल में हो रहा था जिस काल में हम दर्शन परम्पराओं के विकास की बात करते हैं । इन सब विद्याओं का दार्शनिक चिंतन पर जरूर असर रहा होगा, हालांकि दर्शन के संदर्भ में उनकी चर्चा बहुत कम होती है। इसी प्रकार दार्शनिक चिंतन का भी इन विभिन्न विद्याओं के विकास पर कुछ असर तो ज़रूर रहा ही होगा। लेकिन इनकी भी चर्चा बहुत कम होती है । वैसे तो इन विभिन्न विद्याओं के विकास के इतिहास की बात ही कोई नहीं करता, और जहाँ तक इनके आपसी सम्बन्धों की बात है, वह तो अभी तक संधान का विषय भी नहीं बनी हैं ।

फिर भी भाषा शास्त्र की और प्रमाण शास्त्र की रचना के बाद भी लगता है कि इन दो विद्याओं ने भारतीय बौद्धिक परम्परा में अपना ऐसा केन्द्रीय स्थान बना लिया था कि सारी अन्य विद्याओं ने अपने शास्त्रीय रूप की रचना उनके आधार पर ही करने की कोशिश की थी। गौतम के **न्याय सूत्र** के बाद जब वात्स्यायन ने उस पर अपना पहला भाष्य लिखा तो उन्होंने उसको सब विद्याओं के दीपक के रूप में कह कर शायद यही बात कहने की कोशिश की थी और पाणिनि की **अष्टाध्यायी** के बाद तो व्याकरण या भाषा शास्त्र शिक्षा का केन्द्रबिन्दु ही बन गया था। **न्याय सूत्र** के प्रथम सूत्र पर उद्योत्कर का वार्तिक एक ऐसे प्रश्न को उठाता है जिसकी ओर बाद में बहुत कम ध्यान दिया गया । गौतम अपने प्रथम सूत्र में यह कहते हैं कि प्रमाण—प्रमेय आदि पदार्थों के तत्व ज्ञान से निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है। इस पर उद्योत्कर का कहना है कि उनमें वास्तव में प्रत्येक विद्या एक प्रकार का ज्ञान देती है और वही उस क्षेत्र का तत्व ज्ञान है, और उस ज्ञान की प्राप्ति के द्वारा किसी मानवीय पुरुषार्थ या साध्य की सिद्धि होती है जिसको उसका 'निःश्रेयस्' कहा जा सकता है । इस प्रकार देखने पर प्रत्येक ज्ञान के क्षेत्र का अपना विशिष्ट तत्व ज्ञान होता है, जिससे उस क्षेत्र के संबंध में अपने निःश्रेयस् की सिद्धि होती है। वह इस संदर्भ में मीमांसा, वार्ता, दण्ड-नीति की बात करते हैं और यह स्पष्ट रूप में कहते हैं कि इन तीनों विद्याओं का अलग-अलग निःश्रेयस है। पहला यानि मीमांसा का निःश्रेयस् स्वर्ग प्राप्ति होता है, वार्ता का निश्रेयश धन-धान्य की प्राप्ति और दण्डनीति का निःश्रेयस् उनके अनुसार, पृथ्वी जय। 'मोक्ष' को वे केवल आत्म विद्या का ही विशिष्ट निःश्रेयस् मानते हैं।

लेकिन इस प्रकार देखने पर कुछ समस्याएं उत्पन्न होती हैं। एक तो यह कि प्रमाण शास्त्र का अपना निःश्रेयस् क्या है? और दूसरा यह कि अगर प्रमाण शास्त्र सब विद्याओं के लिए बराबर प्रामाणिक है, तो वह स्वयं 'आत्म विद्या' नहीं हो सकता । 'आत्म विद्या' तो उन अनेक विद्याओं में से एक है जिनके लिए प्रमाणशास्त्र पूर्ण रूप से प्रासंगिक है, अगर उन्हें अपने विषय के बारे में सही ज्ञान, 'तत्व ज्ञान' की प्राप्ति करनी है ।

उद्योतकर के **वार्तिक** पर वाचस्पति मिश्र अपनी टीका में इस बात पर चर्चा तो करते हैं लेकिन पूरे स्पष्ट रूप में नहीं । एक ओर तो वे यह कहते प्रतीत होते हैं, चूँकि प्रमाण-शास्त्र सब विद्याओं के लिए बराबर प्रासंगिक है इसलिए उस शास्त्र को एक अन्य कोटि का शास्त्र मानना चाहिए । दूसरे शब्दों में कहें तो वह एक अन्य स्तर का शास्त्र है क्योंकि वह अन्य शास्त्रों को मान कर नहीं चलता बल्कि उन शास्त्रों के शास्त्रीय रूप का फैसला भी करता है । दूसरी ओर वे यह भी कहते प्रतीत होते हैं कि वास्तविक विद्या तो 'आत्म विद्या' ही है और उसका निःश्रेयस् ही असली निःश्रेयस् है। लेकिन फिर अन्य विद्याओं को 'विद्या' क्यों कहा जाता है और उनकी अपनी प्रामाणिकता क्या है? और वह अपने क्षेत्र से संबंधित ज्ञान की सत्यता-असत्यता कैसे स्थापित करती हैं ? इस समस्या की उन्होंने कोई चर्चा नहीं की प्रतीत होती है । लेकिन इस पर चर्चा किए बगैर प्रमाण-शास्त्र, तत्व-ज्ञान और निःश्रेयस् के संबंध स्पष्ट नहीं हो सकते ।

इनके अलावा अन्य समस्या यह भी है कि भारतीय परम्परा में साधारणतः यह माना गया है कि आत्मा के बारे में ज्ञान प्रमाण-प्रमेय व्यापार से नहीं जाना जा सकता है, उसके लिए तो 'श्रुति' की आवश्यकता है, क्योंकि वह बुद्धि और भाषा दोनों से परे है । लेकिन अगर ऐसा है तो 'आत्म-विद्या' जैसी कोई चीज़ हो ही नहीं सकती। कम से कम उस अर्थ में जिसमें अन्य विद्याएं 'विद्या' कही जाती हैं। लेकिन, कम से कम न्याय-सूत्र में तो आत्मा को प्रमाण का विषय माना गया है और बौद्धों के विरोध में तो करीब-करीब सबने ही आत्मा की सत्ता को प्रमाणों द्वारा सिद्ध करने की कोशिश की है ।

एक तरह से देखें तो आत्म-विद्या का अन्य विद्याओं से वही सम्बन्ध हो सकता है जो आत्मा का बुद्धि, मन, शरीर से होता है, दूसरी ओर जिस प्रकार प्रमाण-शास्त्र और भाषा-शास्त्र सब अन्य विद्याओं के आधारभूत शास्त्र हैं, उसी प्रकार आत्म-विद्या का निःश्रेयस् अन्य सब विद्याओं के निःश्रेयस् का आधार हो सकता है ।

इस तरह से देखने पर विद्या तत्व-ज्ञान और निःश्रेयस् के परस्पर सम्बन्ध एक नई तरह से दिखाई देने लगते हैं। लेकिन इससे कुछ नई प्रकार की समस्याएं उत्पन्न होने लगती हैं, एक तो यह कि विद्याओं के भी अनेक प्रकार होते हैं और दूसरा यह कि कोई भी विद्या, 'विद्या' का रूप कब और कैसे लेती है ? शिल्प कौशल को भी 'विद्या' कहते हैं और शास्त्र के ज्ञान को भी विद्या कहा जाता है। लेकिन दोनों में मूलभूत भेद है, पहला प्रधानतः कर्म-कौशल से संबंधित है, वह 'करने' की विद्या है, दूसरे में ज्ञान का प्राधान्य है जो प्रत्ययों से संबंधित होता है और उनके आपसी सम्बन्धों पर आधारित संरचना पर विशेष ध्यान देता है । कर्म से उसका सम्बन्ध सीधे रूप में न होकर, दूर का होता है, एक क्रिया-केन्द्रित होता है : दूसरा, बुद्धि केन्द्रित।

यही नहीं कुछ विद्याएं कार्य-कारण व्यापार से संबंधित होती हैं और यह ज्ञान देती हैं कि ऐसा करने से ऐसा होगा। इनमें से भी कुछ दृष्ट और अदृष्ट फल में भेद करती हैं, जैसाकि मीमांसा आदि में किया गया है। अन्य विद्याओं में कार्य-कारण व्यापार के बजाय प्रमाण-प्रमेय

व्यापार का सिद्धांत है, यहाँ किसी सिद्धांत की स्थापना की जाती है और उन्हीं के आधार पर उसका खण्डन करने की कोशिश भी होती है। इसमें भी कई भेद हैं और उन भेदों के आधार पर अलग-अलग प्रमाण-व्यापार पर आधारित विद्याओं के समूह होते हैं । इसी तरह रस-व्यापार की भी बात की जा सकती है जो कलाओं के सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त जान पड़ता है । इनमें क्रिया-कौशल तो होता है लेकिन उसका लक्ष्य शिल्पात्मक विद्याओं से बहुत भिन्न होता है।

यह सब कहने का अर्थ यह है कि इन अनेक प्रकार की विद्याओं से जो तत्व ज्ञान प्राप्त होता है उससे जो निःश्रेयस् की प्राप्ति होती है वह सब मूलतः भिन्न होंगी । लेकिन इस सबकी चर्चा परम्परा में नहीं हुई है, हालांकि पुरुषार्थों की चर्चा के संदर्भ में इस तरह की बात कुछ-कुछ कही जाती प्रतीत होती है। जो कुछ भी हो, ऐसा लगता है कि उद्योतकर ने जिस प्रश्न को उठाया था उसको आगे बढ़ाने की कोशिश नहीं की गई।

यही बात मीमांसा के कर्म-केन्द्रित विचार पर लागू होती है। मीमांसा सूत्र के रचयिता ने मनुष्य के कर्म व्यापार को प्रधान माना और ज्ञान को कर्म के साधन के रूप में देखा। मनुष्य के संदर्भ में कर्म का अनिवार्य सम्बन्ध औचित्य विचार से संलग्न होता है, और हमेशा उचित-अनुचित की बात उठती है, और उचित-अनुचित का सम्बन्ध इस बात से होता है कि 'ऐसा करो' या 'ऐसा न करो' । भाषा इसी बात को आज्ञा-परक वाक्यों के द्वारा अभिव्यक्त करती है और संस्कृत में यह विधि-लिंग या लोट् लकार आदि के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं। इसलिए **मीमांसा सूत्र** के रचयिता ने भाषा के इस प्रयोग को प्रधानता दी और यह कहा कि भाषा के इसी प्रयोग में पुरुषार्थ चिंतन का रहस्य मिलता है। यही नहीं उसने अपने धर्म के लक्षणों में वाक्यों के 'विधि-परक' होने के साथ-साथ एक अन्य लक्षण को भी जोड़ा जिसको उसने 'अर्थ' की संज्ञा दी, और जो एक तरह से 'पुरुषार्थ' शब्द में भी अर्थ के रूप में पाया जाता है। 'अर्थ' का यहाँ मतलब उससे है जो उचित है, ठीक है, श्रेय है, करने योग्य है, यानि जो अनर्थ नहीं है। इस तरह उसका आशय यही लगता है कि केवल उसी विधिपरक वाक्य को तब ही धर्म कहा जा सकता है जो किसी उचित बात को करने की आज्ञा दे , क्योंकि आज्ञा तो गलत बात करने की भी दी जा सकती है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए शायद वेदों में बताए गए 'श्येन यज्ञ' पर बाद में इतनी चर्चा हुई, क्योंकि उनके संदर्भ में दिए गए विधि वाक्यों का रूप तो वही था जो स्वर्ग आदि से संबंधित वाक्यों का था। 'श्येन यज्ञ' अपने शत्रु को मारने के लिए किया जाता है, और वेद में यह विधान है कि अगर कोई अपने शत्रु को मारना चाहे तो वह 'श्येन यज्ञ' करे, अगर कोई स्वर्ग पाने की इच्छा करता है तो वह ज्योतिष्टोम यज्ञ करे। दोनों विधि वाक्य एक ही प्रकार के हैं और वेद में पाए जाते हैं, फिर भी, एक ऐसे फल की प्राप्ति की बात करता है जो उचित है, दूसरा उसकी जो अनुचित है। इसलिए मीमांसा सूत्र की परिभाषा के अनुसार पहले को ही धर्म कहा जा सकता है, दूसरे को नहीं ।

इस पर बाद में बहुत चर्चा हुई, क्योंकि ज्योतिष्टोम आदि यज्ञों में भी पशु की बलि दी जाती है और इसलिए उसमें भी उसी प्रकार की हिंसा होती है जो शत्रु को मारने के लिए किए

जानेवाले यज्ञ के द्वारा फलित होती है। इस विवाद का एक संदर्भ यह भी है कि वेद में ही यह कहा गया है कि 'हिंसा नहीं करनी चाहिए'। लेकिन एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है जिस पर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता है। 'श्येन यज्ञ ही उन अनेक अन्य यज्ञों की तरह है जो वेद में वर्णित है। इसलिए यदि कोई यह कहता है कि इस यज्ञ का करना 'अधर्म' है, तो वह यह नहीं कह सकता कि धर्म का ज्ञान केवल 'श्रुति' या 'वेद' के द्वारा ही हो सकता है। उसको तब यह मानना पड़ेगा की जो श्रुति मे कहा गया है, वह भी 'अधर्म' हो सकता है और अगर ऐसा है तो फिर उचित-अनुचित के ज्ञान का स्रोत कोई और ही मानना पड़ेगा। आश्चर्य की बात तो यह है कि इससे पहले वाद-विवाद में किसी ने भी इस सीधी सी बात पर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया।

लेकिन इसके साथ-साथ ही आज्ञा-परक वाक्यों के बारे में मीमांसा में एक अन्य बात कही थी जो अपने आप में बहुत महत्त्वपूर्ण लगती है, हालांकि उसकी ओर भी ज्यादा ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता है। भाषा के प्रयोग के संदर्भ में तीन तरह के 'अर्थों' का भेद किया जाता है और इन्हें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के रूप में बताया जाता है। आम तौर पर इस भेद की चर्चा कविता के संदर्भ में होती है क्योंकि वहाँ भाषा का प्रयोग 'अभिधा' का रूप न लेकर लक्षणा या व्यंजना का रूप लेता है। हम कहते हैं कि 'इसका मुख चाँद जैसा है'। यहाँ 'चाँद' शब्द का प्रयोग लक्षणा के रूप में हुआ है। यानि उसका चेहरा वैसा ही सुन्दर दिखाई दिया है जैसा चाँद दिखाई देता है। आमतौर पर केवल वर्णनात्मक वाक्यों को अभिधा के रूप में लिया जाता है। जैसे हम यह कहें कि यह 'मेज' है तो यह कोई लक्षणा या व्यंजना नहीं है, 'मेज' को मेज कह कर ही वर्णित किया गया है। यह बात सबको स्वीकार्य है, लेकिन मीमांसकों ने यह कह कर कि वास्तव में आज्ञा-परक वाक्यों का अर्थ कभी भी लक्षणा या व्यंजना का रूप नहीं लेता, इस सर्व-स्वीकृत बात को चुनौती दी है। विधि-परक वाक्य ही शुद्ध रूप में अभिधात्मक होते हैं, वर्णनात्मक वाक्य नहीं। क्योंकि सीधे-सीधे वर्णनात्मक दिखनेवाले वाक्य भी लक्षणा या व्यंजना के रूप में प्रयुक्त हो सकते हैं। इसलिए मीमांसा ने अर्थवाद के सिद्धांत को अपनाया जिसके अनुसार बहुत से वर्णनात्मक संदर्भों का अर्थ अभिधा के रूप में न होकर लक्षणा या व्यंजना के रूप में लिया जाता है। इस तरह से ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित बहुत सी कथाओं का वास्तविक अर्थ केवल उद्देश्य मात्र है, किसी कथानक या घटना का वर्णन नहीं। यह सिद्धांत भी मीमांसा की प्रसिद्ध देन माना जाता है।

ब्राह्मण ग्रंथों में यज्ञपरक विधि वाक्यों में सामंजस्य बिठाने के लिए मीमांसा ने कई अन्य तरीके अपनाए जो बाद में सभी ग्रंथों को समझने में सहायक हुए। इनमें से एक सिद्धांत यह था कि किसी एक विशिष्ट यज्ञ को मूल रूप में और बहुत से अन्य यज्ञों को उसकी विकृति मात्र के रूप में देखा जा सकता था। यहाँ 'विकृति' का अर्थ केवल यह है कि अगर हम मूल यज्ञ की विधि को प्रधान या आदर्श रूप दे दें तो बाकी सबको इस प्रकार समझा जा सकता है कि उन विद्याओं में कुछ थोड़ा सा फेरबदल कर दिया गया है। मीमांसा ने मूल यज्ञ को प्रकृति रूप माना और बाकी

को उसकी 'विकृति' माना। इस तरह से समझने की प्रक्रिया वेबर के उस सिद्धांत की याद दिलाती है जो उसने समाज की अनेक प्रक्रियाओं और उसकी संस्थाओं को समझने के संदर्भ में अपनायी थी। उसके अनुसार हम किसी प्रक्रिया या संस्थान के आदर्श रूप की कल्पना कर सकते हैं जिसको उसने 'आइडियल टाईप' कहा और जो प्रक्रियाएं या संस्थान वास्तव में हमें किसी समाज में मिलते हैं उनको उस प्रकार समझा जा सकता है कि वे उससे किस तरह भिन्न है। वेबर की यह विधि समाज को समझने के लिए समाज शास्त्र में सर्वमान्य है, लेकिन मीमांसा की अपनाई गई विधि से इसके साम्य को अभी तक नहीं देखा गया है। यह ठीक है कि वेबर की विधि में और मीमांसा की विधि में एक मूलभूत अन्तर है, और वह यह है कि वेबर की आदर्श व्यवस्था पूर्ण रूप से कल्पित है, हालांकि वह वास्तविक संस्थानों और प्रक्रियाओं को देखकर ही रची गई है, जबकि मीमांसा का वह यज्ञ जिसको 'प्रकृति' का स्थान दिया गया है, वह वास्तव में ब्राह्मण ग्रंथों में वर्णित है।

और जिन्हें उन्होंने उनकी विकृति माना है, वे भी उन्हीं ग्रंथों में बताये गये अन्य यज्ञ हैं। मीमांसा ने तो उनको केवल इस रूप में देखने की कोशिश की है कि उन्हें अलग-अलग यज्ञ न मानकर एक ही यज्ञ के विभिन्न रूपों की तरह समझा जाए। यहाँ भावना यह है कि 'प्रकृति' के रूप में माने जानेवाले यज्ञ में कुछ परिवर्तन करने से अन्य यज्ञ बन जाते हैं। यह ठीक है कि इस हित में प्रधान माने जाने वाले यज्ञ का अपना कोई विशिष्ट लक्षण नहीं दिया गया है, लेकिन फिर भी यह उस समझने की प्रक्रिया की ओर संकेत करता है जहाँ हम अनेक चीजों को किसी एक मूल वस्तु में विभिन्न परिवर्तनों से उत्पन्न हुई वस्तुओं के रूप में देख सकते हैं। यह विधि प्राणी जगत में दिखाई देने वाले अनेक पशुओं और पौधों में होने वाले भेदों को समझने में बहुत सहायक हुई है। थोड़े से परिवर्तन से एक अलग प्रकार का पौधा बन जाता है, जो पहले वाले पौधे से मिलता-जुलता होता है। इसी प्रकार जानवरों की विभिन्न जातियों में भी यह बात दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि प्रकृति का अपना यह नियम ही है और इसी के द्वारा वह अपने को विभिन्न रूपों में प्रकट करती है। इसी प्रकार का एक अन्य भेद मीमांसा ने कर्म के सम्बन्ध में किया जिसके द्वारा उसने कर्मों में प्रधान और गौण कर्म का भेद किया। यह भेद प्रकृति और विकृति की तरह नहीं है, हालांकि उससे कुछ मिलता-जुलता है। प्रत्येक कर्म का एक प्रधान अंग होता है जो उसे वैशिष्ट्य देता है, परन्तु उस कर्म को करने के लिए अनेक ऐसे अन्य कर्मों की जरूरत होती है जिनके बगैर वह प्रधान कर्म सम्पादित नहीं किया जा सकता, और इसलिए उनको गौण कर्म कहा गया है।

कर्म को लेकर मीमांसा ने और भी अनेक भेद किए हैं जो उनके कर्म संबंधी विचार को समझने में सहायक होते हैं। इसी प्रकार का एक भेद कर्म को नित्य-नैमित्तिक और काम्य-कर्म की कोटियों में बाँटता है। इनमें से काम्य-कर्म को समझना सबसे आसान है, क्योंकि उसका अर्थ ही यहाँ उस कर्म से है जो किसी इच्छा की प्राप्ति के लिए किया गया हो। नित्य-कर्म का साधारण अर्थ तो यही है कि वह कर्म जिसे किसी को नित्य प्रति करना पड़ता है। लेकिन मीमांसा के संदर्भ में नित्य कर्म वह कर्म है जिन्हें मनुष्य को प्रतिदिन करने का विधान किया गया है और जिन्हें करने

से कोई विशेष फल की प्राप्ति तो नहीं होती है लेकिन जिनको न करने से नुकसान ज़रूरी होता है। इस प्रकार के यज्ञों में अग्निहोत्र का नाम हमेशा लिया जाता है, जो कम से कम ब्राह्मणों को हर रोज़ करना चाहिए और शायद क्षत्रियों और वैश्यों को भी। नैमित्तिक कर्म वह है जो किसी विशिष्ट अवसर पर किया जाना चाहिए। ये भेद यज्ञों के संदर्भ में किए गए हैं, परन्तु हमको उसी संदर्भ तक सीमित रखना ज़रूरी नहीं है। इस प्रकार का भेद तो हम करीब-करीब सब प्रकार के कर्मों के संदर्भ में कर सकते हैं ।

इसी तरह का एक और भेद मीमांसा ने कर्म के संदर्भ में किया है और वह भी यज्ञ के संदर्भ में ही प्रधानत: किया गया है, क्योंकि उनके विचार का केन्द्र बिन्दु यज्ञ ही था। इस भेद को उन्होंने क्रत्वर्थ और पुरुषार्थ का भेद कहा है, जिसका सीधा-सीधा अर्थ यह है कि वह कर्म जो यज्ञ के लिए किया जाए क्रत्वर्थ है और जो मनुष्य के किसी प्रयोजन या फल की प्राप्ति के लिए किया जाए वह पुरुषार्थ है। यज्ञ किसी पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए किया जाता है और यज्ञ करने के लिए अनेक ऐसे कर्म किए जाते हैं जिनका प्रयोजन उस यज्ञ करने से ही होता है । इसी प्रकार का और इससे मिलता-जुलता एक अन्य भेद मुख्य कर्म और गौण कर्म के बीच में किया गया है। जिसकी चर्चा हम पहले कर चुके हैं।

इसी तरह का एक अन्य भेद कर्म के चारों पक्षों को लेकर किया गया है। एक यह कि वह विधि-परक होता है, यानी उसके संदर्भ में हमेशा यह कहा जाता है कि ऐसा करो या ऐसा न करो । लेकिन अगर करने को धर्म के रूप में लेना है तो उसके लिए यह भी मानना जरूरी है कि जो करने को कहा जाए या जिस काम को करने से मना किया जाए वह स्वयं शुभ या अशुभ से संबंधित हो यानी जो करने के लिए कहा जाए वह अच्छा हो, भला हो और जिसको करने से रोका जाए वह अशुभ हो, नुकसान देने वाला हो । इसी बात को मीमांसा-सूत्र में धर्म का लक्षण बताते हुए 'अर्थ' शब्द से इंगित किया गया है । यही नही वह कर्म जिसके बारे में 'ऐसा करो' या 'ऐसा न करो' कहा गया है । उसके संबंध में और दो अन्य बातें बताई गई हैं , जो इष्ट साधनता है और कृति 'साध्यता' के नाम से जानी जाती है। पहली का सीधा-सीधा अर्थ यह है कि कर्म का उस कर्म के करने से करने वाले की अपनी किसी 'इष्ट' की प्राप्ति होनी चाहिए, 'इष्ट' का अर्थ यह है कि जो वह चाहता है या जिसकी वह कामना करता है, 'अर्थ' और 'इष्ट साधनता' में शायद भेद यह है कि पहले का अर्थ तो केवल जो 'शुभ' या 'शिव' से है जबकि दूसरा उस 'शुभ' या 'शिव' को कर्म करनेवाले विशिष्ट व्यक्ति के विचारों के संदर्भ में मूर्तरूप देता है। 'कृति साध्यता' का अर्थ यह है कि जो भी करने के लिए कहा जाए, वह करने वाले के लिए सम्भव होना चाहिए, क्योंकि अगर वह कर ही नहीं सकता तो उससे यह कहना कि 'ऐसा करो' या 'ऐसा न करो', अर्थहीन हो जाएगा। मीमांसा ने अपने चिंतन में कर्म पर व्यापक चिंतन किया है, लेकिन उसका चिंतन यज्ञ के संदर्भ में ही हुआ है, और इसलिए उसमें जो भेद किए हैं उनको उस विशिष्ट संदर्भ से हटकर साधारणत: देखा नहीं गया है। लेकिन यह ज़रूरी नहीं है और हम उसकी सार्थकता को उस संदर्भ से मुक्त करके अधिक समझ सकते हैं।

इस संदर्भ में एक बात और ध्यान देने की है, और वह यह कि धर्म की परिभाषा में मीमांसा सूत्र में जो दो बातें बताई गई हैं उनपर अगर ध्यान दिया जाए तो यह मानना मुश्किल होगा कि मीमांसा श्रुति या वेद की प्रामाणिकता को पूर्णरूपेण स्वीकार करता है। क्योंकि अगर ऐसा होता तो फिर धन के लक्षण में 'अर्थ' को स्वतंत्र रूप में जोड़ने की ज़रूरत ही नहीं होती । केवल यही कहना काफी होता कि श्रुति में जो विधि वाक्य है उनके अनुसार आचरण करना ही धर्म है, यह बात शायद किसी को प्रथम दृष्टि में निरर्थक लगे, लेकिन जैसा कि सब को विदित है , यज्ञ में बताई गई पशुबलि को लेकर काफी बहस हुई है। इस संदर्भ में वेदों में ही यह कहा गया है कि हिंसा नहीं करनी चाहिए, और इसलिए यह सवाल उठता है कि अगर वेदों ने ही स्वयं यह कहा है कि हिंसा नहीं करनी चाहिए तो फिर यज्ञ में बताई गई पशुबलि कैसे दी जा सकती है ? इसका आमतौर पर यह उत्तर दिया जाता है कि वेदों में ही इस पशुबलि का विधान किया गया है और इसलिए इसका करना उचित है । हिंसा करने को जो मना किया गया है वह इन यज्ञों के बाहर की हुई हिंसा के संबंध में है, वह इनमें होने वाली हिंसा पर लागू नहीं होती।

यह बात अगर यही तक सीमित होती तो शायद इसका कुछ औचित्य भी होता। लेकिन, जैसा सब को पता है स्वयं वेदों में 'श्येन यज्ञ' की बात की गई है, जो शत्रु का वध करने के लिए किया जाता है और जिसके बारे में यह कहा गया है कि उसे इसलिए नहीं करना चाहिए क्योंकि वह किसी को मारने के लिए किया जाता है। स्वयं मीमांसा ने भी ऐसा माना है स्पष्ट यह कहने पर कि एक जगह तो पशुबलि को इसलिए स्वीकार किया जाता है कि यज्ञ की विधि में उसका विधान है और दूसरी जगह 'श्येन यज्ञ' को इसलिए मना किया जाता है कि इसके द्वारा किसी की हिंसा होती है, यह कहा जाता है कि इन दोनों हिंसाओं में एक मूलभूत भेद है जिसकी ओर ध्यान नहीं दिया गया है और वह भेद यह है कि एक में हिंसा यज्ञ का अंग है परन्तु यज्ञ हिंसा के लिए नहीं किया गया है, जबकि दूसरे में यज्ञ करने का प्रयोजन ही हिंसा करना है। इसलिए पहले प्रकार के यज्ञ में हिंसा विहित है, जबकि दूसरे प्रकार का यज्ञ तो करना ही नहीं चाहिए, क्योंकि उसका लक्ष्य ही हिंसा करना है ।

हिंसा के बारे में यह भेद कितना ही सार्थक हो, लेकिन यह इस बात को नजरअंदाज करके ही मान्य हो सकता है कि दोनों ही श्रुति सम्मत हैं, दोनों का ही श्रुति में विधान है और इसलिए अगर कोई यह कहता है कि जिसका श्रुति में विधान हो, उसको भी नहीं करना चाहिए, तो उसका आधार कम से कम यह नहीं हो सकता की वह श्रुति में है, अगर नहीं है तो उसके लिए तो श्रुति से भी कोई अलग स्रोत ढूंढना होगा और जैसे ही हम किसी अन्य स्रोत की बात कहते हैं, वैसा ही हम श्रुति की प्रामाणिकता पर आघात करते हैं ।

लेकिन इन सब समस्याओं को लेकर मीमांसा ने इनमें समाधान करने की विधि अपनायी उसका इन विशिष्ट समस्याओं से कोई सम्बन्ध नहीं था, और इसलिए इस प्रकार की समस्याओं को सुलझाने के लिए यह विधि भारतीय परम्परा में काफी हद तक सर्वमान्य हो गई। अनेक नियमों में ऐसी विसंगतियाँ अक्सर पाई जाती हैं, उदाहरण के लिए किसी सर्वमान्य सार्वभौम

नियम का अपवाद किसी विशेष संदर्भ या स्थिति में ठीक बताया जाता है। सत्य बोलने की ही बात लें, तो अक्सर यह कहा जाता है कि हमेशा सच बोलना चाहिए, लेकिन यह भी अक्सर कहा जाता है कि मज़ाक में झूठ बोल सकते हैं या कुछ ऐसे अवसरों पर जब सच कहने से किसी का नुकसान होता है तो चुप रह जाना अच्छा है, या शादी-ब्याह के अवसर पर झूठ बोल सकते हैं। अब यह सब उदाहरण कुछ-कुछ उसी प्रकार के है जो वेद में हिंसा के संदर्भ में पाये जाते हैं, और उनका निराकरण भी मीमांसा के उसी सिद्धांत के द्वारा किया जाता है कि साधारण नियम से अपवाद का नियम अधिक बलवान माना जाना चाहिए। यह बात कानून के सम्बन्ध में तो रोज ही उठती है और पाणिनि ने तो इसे भाषा के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप में 'अपवाद का नियम' कहकर स्वीकार कर लिया था।

मीमांसा के ये सिद्धांत: इतने व्यापक थे कि भारतीय परम्परा में लिखे गए ग्रंथों को समझने और उनमें विसंगतियाँ दूर करने के लिए सबने उनको स्वीकार कर लिया था। यही बात, या व्यवहार यानी कानून आदि के बारे में भी उतनी ही सच है जितनी ग्रंथों को समझने के संदर्भ में इस प्रश्न पर किशोरीलाल सरकार की अंग्रेजी में लिखी हुई प्रसिद्ध पुस्तक *(Mimamsa Rules of Interpretation as applied to Hindu Law)*

इस प्रकार मीमांसा दर्शन ने ब्राह्मण ग्रंथों को समझने के लिए जो विधि अपनाई उसके व्यापक प्रभाव हुये और धीरे-धीरे वह ज्ञान के अनेक क्षेत्रों में सर्वमान्य हो गया। यही नहीं विधि वाक्यों को समझने में मीमांसा दर्शन ने जो प्रणाली अपनाई वह अपने आप में अपूर्व थी और इसके संदर्भ में उसने जिन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया, वे इतने अत्याधुनिक जान पड़ते हैं कि यह आश्चर्य होता है कि इतना पुराना चिंतन इतना नवीन कैसे हो सकता है ? यही नहीं, कर्म और फल के सम्बन्ध को लेकर मीमांसा ने जो विचार किया है उस पर आजकल होने वाले कर्म संबंधी चिंतन में बहुत कम ध्यान दिया है। उनमें से एक समस्या जिसके द्वारा मीमांसा दर्शन ने ध्यान आकर्षित किया था वह यह थी कि कर्म तो हम आज करते हैं पर उसका फल हमें बहुत समय बाद प्राप्त होता है। 'कारण' और 'कार्य' के बीच यह जो काल का लम्बा व्यवधान होता है उसे किस प्रकार समझा जाए? मीमांसा ने इसको समझाने के लिए एक नये प्रत्यय की रचना की जिसका नाम उसने 'अपूर्व' दिया, और यह कहा कि अपूर्व कर्म और फल के बीच होनेवाले काल के व्यवधान को संबंधित करता है।

धर्म के लक्षण में मीमांसा सूत्र में केवल यही नहीं कहा गया है कि वह विधि वाक्य हो या किसी को कोई कार्य करने के लिए प्रेरित करे, परन्तु यह भी कहा गया है कि जो करने के लिए कहा जाए वह अर्थवान हो। 'अर्थ' शब्द को यहाँ कई अर्थों में लिया जाता है, लेकिन अगर इसका अर्थ यह लिया जाए कि जो करने लिए कहा जाए वह शुभ भी हो, तो धर्म के दो लक्षण हो जाते हैं। एक यह कि वह हमेशा किसी को कुछ करने के लिए कहता है, और दूसरा यह कि जो करने के लिए कहा जाता है वह शुभ हो, श्रेय हो, भला हो। लेकिन इस बात का निश्चय कैसे होगा कि जो कर्म करने के लिए कहा गया है वह शुभ ही है। इनका एक लक्षण

तो यह हो सकता है कि जो भी श्रुति में करने के लिए कहा गया है वह सब 'शुभ' या 'श्रेय' ही है। अधिकतर यज्ञ जिनका श्रुति में विधान है वे तो ये कहकर ही लिखे गए हैं कि जिस किसी को भी इस फल की इच्छा हो वह यह यज्ञ करे। वैसे इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि ये सब 'शुभ' या 'श्रेय' है। हाँ, यह मानकर चल सकते हैं कि जिन इच्छाओं को प्राप्त करने की बात कही गई है वे सब शुभ हैं, क्योंकि उनको प्राप्त करने के लिए यज्ञ का विधान किया गया है। लेकिन यह बात इसलिए ठीक नहीं मानी जा सकती क्योंकि कम से कम एक यज्ञ को लेकर स्वंय मीमांसकों में अनिश्चय की अवस्था पायी जाती है। यह यज्ञ 'श्येन यज्ञ' के नाम से जाना जाता है और शत्रु को मारने के लिए किया जाता है। अब, यदि जिन इच्छाओं की प्राप्ति के लिए श्रुति में यज्ञ का विधान बताया गया है, वे सब 'शुभ' है तो शत्रु को मारने की इच्छा भी 'शुभ' मानी जानी चाहिए। परन्तु अनेक मीमांसकों ने ऐसा नहीं माना है, क्योंकि श्रुति में ही यह कहा गया है कि हिंसा नही करनी चाहिए। पर श्रुति में अन्य अनेक यज्ञों में पशुबलि का विधान है इसलिए यज्ञ में हिंसा तो करनी पड़ती ही है। इस संदर्भ में यह कह कर भेद किया गया है कि जिन यज्ञों में हिंसा साधन रूप में है साध्य रूप में नहीं और चूँकि श्रुति में ही इस हिंसा का विधान दिया गया है इसलिए इस प्रकार की हिंसा करना कोई पाप नहीं है। लेकिन अगर हम श्येन यज्ञ की बात छोड़ भी दें, तो ऐसा अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञ तो राजा लोग युद्ध में विजय प्राप्ति के लिए ही करते थे और युद्ध में तो हिंसा होती ही है। इसको यह कहकर टाला जा सकता है कि क्षत्रियों के लिए युद्ध में होने वाली हिंसा अधर्म नहीं हैं। क्योंकि क्षत्रिय का धर्म ही युद्ध करना और पृथ्वी जय करना बताया गया है। परन्तु फिर भी उसका धर्म तो धर्मयुद्ध करना ही है लेकिन धर्म युद्ध में और दूसरे प्रकार के युद्ध में किस आधार पर भेद किया जा सकता है? इस संदर्भ में एक प्रश्न और भी उठता है जिसकी ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है, और वह यह कि यदि श्रुति में कही जाने वाली इच्छाएं ही 'शुभ' है, तो फिर उनके अलावा भी क्या कोई और इच्छा कभी भी शुभ हो सकती है और अगर ऐसा है तो फिर उस इच्छा के 'शुभ' होने का आधार कम से कम यह तो नहीं हो सकता कि वह श्रुति में वर्णित है।

इन समस्याओं का निर्णय चाहे कोई भी हो, कम से कम इतना तो स्पष्ट ही है कि मीमांसा सूत्र में धर्म का जो लक्षण दिया गया है वह स्पष्ट नहीं है और इस बात का निर्णय करने में सहायक नहीं होता कि वास्तव में शुभ या अशुभ क्या है ? हाँ, विधि परक वाक्यों के बारे में इनका चिंतन दार्शनिक दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है और इस संदर्भ में उसने जिस एक बात की ओर संकेत किया है, वह ध्यान देने योग्य है। वह बात यह है कि भाषा का प्रयोग विधि परक वाक्यों के संदर्भ में अभिधामूलक ही हो सकता है, लक्षणा या व्यंजना परक नहीं। यह बात ध्यान देने योग्य है, क्योंकि साधारणत: दार्शनिक लोग ऐसा मानते हैं कि वर्णनात्मक वाक्य अभिधामूलक होते हैं, क्योंकि उनके बारे में ही सत्यता या असत्यता का प्रश्न उठाया जा सकता है। पश्चिम में प्रचलित दार्शनिक परम्परा में तो यह बात स्वत: सिद्ध सी ही मानी जाती है। हालांकि विधि परक वाक्यों के बारे में साधारण रूप से सत्यता, असत्यता का प्रश्न नहीं उठता है और फिर भी उनका अर्थ अभिधामूलक ही होता है यह तथ्य इस बात की ओर संकेत करता है कि वर्णनात्मक वाक्यों

का अर्थ लक्षणा या व्यंजना के अर्थ में लिया जा सकता है, आदेशात्मक वाक्यों के बारे में ऐसा नहीं हो सकता ।

यही नहीं मीमांसा ने विधिपरक वाक्यों के संदर्भ में भाषा के एक अन्य पक्ष की ओर भी ध्यान दिलाया है और वह यह कि भाषा का प्रधान प्रयोजन किसी को कर्म में प्रेरित करना है, न कि किसी वस्तुस्थिति का वर्णन करना, इसी को उन्होंने 'शाब्दी भावना' कहा है, अर्थात् शब्द मात्र मनुष्य को किसी कर्म को करने के लिए प्रेरित करता है और यह शब्द की शक्ति है ।

इसी का दूसरा पक्ष यह है कि भाषा वास्तव में क्रिया प्रधान होती है, संज्ञा प्रधान नहीं, अर्थात् किसी भी वाक्य का अर्थ उसके क्रिया-पद में समाहित होता है, और बाकी जो कुछ भी उसमें कहा जाता है वो उसका पूरक या आनुषंगिक होता है। इस प्रकार से देखने पर सारे वास्तविक वाक्यों का 'अर्थ' उनकी उस सामर्थ्यता में होता है जो उनके द्वारा किसी कर्म को करने की प्रवृति को जन्म देती हैं, या उसे नहीं करने की। इसी से 'अर्थवाद' के सिद्धांत की उत्पत्ति होती है जिसके आधार पर श्रुति में आए हुए सारे वर्णनात्मक वाक्यों को 'अर्थवाद' के रूप में समझा गया है। इसका एक परिणाम तो यह है कि देवताओं आदि का जो वर्णन श्रुति में मिलता है, उसको मीमांसा में देवताओं का वर्णन न मानकर केवल यज्ञ की विधि के संदर्भ में ही सार्थक माना है । वर्णनात्मक, तत्वपरक संदर्भ में वर्णित वाक्यों को इस तरह से समझने की प्रक्रिया आगे चलकर प्रभाकर के सिद्धांत में अपनी चरम सीमा को प्राप्त हुई जिसका वर्णन हम आगे करेंगे । यहाँ तो केवल इतना ही कहना काफी है कि भाषा के सम्बन्ध में इतना क्रांतिकारी मत किसी भी अन्य दार्शनिक परम्परा में उत्पन्न नहीं हुआ, और यह कुछ-कुछ उन आधुनिक मतों से मिलता है जो अन्ततः ज्ञान के संदर्भ में शुद्ध तार्किक आधार पर माने जाने वाले बहुत से तथ्यों का अर्थ केवल उस प्रयोगात्मक विधि के रूप में ही स्वीकार करते हैं जिनमें उनका प्रयोग होता है, क्योंकि केवल उसके संदर्भ में ही वे अपनी अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं। यह मत अंग्रेजी में Operationalism (ऑपरेशनलिज़्म) के नाम से जाना जाता है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखने की बात है कि पता नहीं क्यों मीमांसा ने इस प्रकार के मत को केवल श्रुति से संबंधित वाक्यों तक ही सीमित रखा है, और इससे भी ज्यादा आश्चर्य की बात यह है कि सारे भारतीय चिंतन में किसी भी दार्शनिक परम्परा ने इस प्रकार के मत को अन्य विचारों पर लागू करने की कोशिश भी नहीं की। भाषा का अर्थ समझने की यह विधि अपने आप में श्रुति वाक्यों तक ही सीमित रखी जाए, इसका कोई औचित्य प्रतीत नहीं होता। शायद, आज के भारतीय दर्शन में मीमांसा की इस दृष्टि को अधिक व्यापक रूप में लेकर, उसमें निहित भाषा और मनुष्य के संदर्भ में जो पहलू है, उसको आज के दार्शनिक आगे बढ़ा सकेंगे।

जहाँ मीमांसा ने भाषा और कर्म संबंधी विचार को नई दिशा दी वहीं वैशेषिक और सांख्य दर्शन में पदार्थ चिंतन पर गहरा विचार हुआ। पदार्थ या तत्वचिंतन दर्शन का प्रधान विषय रहा है, परन्तु ऐसा लगता है कि मीमांसा और वेदान्त में इस ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया । हाँ, न्याय सूत्र में 'पदार्थ' की चर्चा अवश्य है, लेकिन वहाँ पदार्थ का अर्थ उससे बिल्कुल भिन्न

है जो सांख्य और वैशेषिक दर्शन में प्राप्त होता है। पदार्थ शब्द स्वयं भ्रामक है, क्योंकि इसका भाषागत अर्थ पद के अर्थ से संबंधित प्रतीत होता है, और इससे ऐसा लगता है कि यह भाषा के अर्थ की बात करता है । लेकिन अगर वैशेषिक और सांख्य दर्शन में होने वाले तत्व चिंतन की ओर ध्यान दें तो यह बात सही नहीं लगेगी। वहाँ तो उन चरम तत्वों की बात की गई है जिनके द्वारा हम अपने अनुभव से प्राप्त होने वाले विषयों को सही रूप में समझ सकते हैं। 'परम तत्व क्या है' यह हमेशा चिंतन का विषय रहा है। वह एक है या अनेक, जड़ है या चेतन, नित्य है या अनित्य आदि प्रश्न उसके बारे में हमेशा उठाए जाते रहे हैं। शरीर, मन, बुद्धि, इंद्रियों एवं उनके विषय - ये सब साधारण चिंतन द्वारा भी जाने जा सकते हैं। अग्नि, जल, वायु, पृथ्वी और आकाश इनका ज्ञान हमको इंद्रियों द्वारा होता है और प्रारम्भ से ही मनुष्य ने इनको तत्व रूप में माना है और यह कहा है कि संसार की सारी वस्तुएँ इन्हीं के मिलने से बनती हैं। जो भी विषय इंद्रियों से ग्राह्य होते हैं वे हमेशा स्थूल स्तर पर ग्रहण होते हैं और उनमें अवयव-अवयवी भाव हमेशा प्राप्त होता है। इसलिए इस संदर्भ में यह प्रश्न हमेशा उठता है कि क्या स्थूल रूप में दृष्टिगोचर होने वाले विषय ऐसे अन्य विषयों से बने हैं जो स्थूल रूप में दिखाई नहीं दे सकते, लेकिन जिनके आधार पर ये सब वस्तुएं बनीं हैं जो हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होती हैं। दूसरी ओर यह प्रश्न उठता है कि क्या अवयव-अवयवी रूप में दिखने वाला विषय कभी भी इस अवस्था तक पहुँच सकता है जहाँ केवल अवयव ही प्राप्त हो, अवयवी नहीं ।

कहने का आशय यह है कि क्या कोई ऐसा अन्तिम रूप में पाये जाने वाला तत्व है जो स्वयं अन्य तत्वों का अंग बनता हो लेकिन जिसके स्वंय कोई अंग या अंश नहीं होता । इसी को अणु या परमाणु कहा गया है और इसी से मिलकर जगत के सारे पदार्थ बने है, ऐसा माना गया है । अब अगर इन अणु या परमाणुओं को अनेक माना जाए, तो फिर यह समस्या उत्पन्न होती है कि इनमें आपस में क्या भेद है और वह संबंध क्या है जो इनको आपस में मिलाता है, या फिर उन्हें एक-दूसरे से अलग करता है । इनके अलावा एक प्रश्न यह भी है कि इन परमाणुओं के गुण क्या हैं, क्या इनके संघात से बनने वाली वस्तु कभी भी चेतना या प्राण को जन्म दे सकती है। दूसरी ओर क्या चेतना में स्वंय अवयव-अवयवी भाव होता है और अगर ऐसा है तो क्या चेतना के भी परमाणु होते हैं । एक ओर जहाँ जड़ वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वहीं ऐसी वस्तुएँ भी दिखाई देती हैं जो प्राणवान हैं, जिनके भी अनेक स्तर होते हैं। पक्षी, जानवर और आदमी का भेद सबको सहज रूप में ज्ञात होता है, परन्तु ये सब जिन तत्वों से बने हैं वे क्या एक ही प्रकार के हैं या उनमें मूलभूत भेद मानना पड़ेगा। साधारणतः जड़ और चेतन का भेद किया गया है, पर पौधों में पाया जाने वाला जीवन उस प्रकार चेतन दिखाई नहीं देता जिस प्रकार वह जानवरों में दिखाई देता है और फिर आदमी की तो बात ही और है । वह चेतन ही नहीं, बल्कि आत्म चेतन है।

इस प्रकार मनुष्य की चेतना के सामने भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्न ही उपस्थित नहीं होते, बल्कि वह स्वंय भी विषय रूप में उपस्थित होता है। यह उपस्थिति उस उपस्थिति से भिन्न

है जो उसे किसी अन्य मानव में मिलती है। दूसरे मनुष्य की आत्म चेतना हमारी चेतना के लिए कभी भी 'विषय' रूप में उपस्थित नहीं होती जबकि हमारी अपनी चेतना तो करीब-करीब सदैव ही आत्म चिंतन का विषय बनती है, या चाहे बनायी जा सकती है। दूसरे की आत्म चेतना हमारे अनुमान का विषय ही होती है क्योंकि हम उन्हें अपने जैसा ही प्राणी मानते हैं। इसलिए ऐसा कहा जाता है कि हम किसी दूसरे को उस रूप में कभी भी नहीं जान सकते हैं जिस रूप में वह अपने को जानता है। यह ठीक है कि दूसरे की कुछ विशेष अवस्थाओं में उसकी मन: स्थिति का सीधा ज्ञान कुछ लोगों को होता है जिसे अंग्रेजी में टेलीपेथी(telepathy) का नाम दिया जाता है। लेकिन अगर इस प्रकार की घटनाओं को सच भी मान लिया जाए तब भी यह मानना कठिन होगा कि हम उसकी चेतना की अवस्था को उसी प्रकार जानते हैं जिस प्रकार कि वह स्वयं जानता है या महसूस करता है। कई बार संबंधित व्यक्ति दूसरे के दु:ख-सु:ख को इस प्रकार महसूस करता है जैसे वह उसका ही अपना सुख-दु:ख हो। लेकिन ऐसा मानने पर भी, दूसरे का दु:ख-सु:ख उसका अपना ही दु:ख-सु:ख रहता है । वह कभी भी 'अपना' सु:ख-दु:ख नहीं होता। हाँ, उसके सु:ख-दु:ख से हमें सु:ख-दु:ख जरूर हो सकता है, लेकिन यह सु:ख-दु:ख उस सु:ख-दु:ख से भिन्न होता है जो उसे होता है, हालांकि उसके सु:ख या दु:ख के संदर्भ में ही यह उत्पन्न होता है।

इस प्रकार देखने पर तत्व मीमांसा साधारणत: जड़ और प्राणवान वस्तुओं में भेद करती है, और प्राणवान वस्तुओं में वह उनमें भेद करती है जिनमें मन, बुद्धि और आत्म चेतना आदि पाए जाते हैं। इसी प्रकार जड़ वस्तुओं में भी गुणों के आधार पर भेद किया जाता है और इन गुणों के आधार पर ही उन्हें अलग-अलग रूप में समझा जाता है ।

परन्तु जैसे ही हम गुणों की चर्चा करते हैं, वैसे ही यह समस्या उठती है कि क्या जड़त्व स्वयं ही गुण नहीं है, या प्राणवान होना स्वयं एक गुण नहीं है । इस प्रकार देखने पर सब कुछ 'गुण' रूप में दिखाई देता है, फिर चाहे वह मन हो या बुद्धि । लेकिन यदि जो कुछ हम जानते हैं वह केवल गुण ही होता है, तब यह समस्या उठती है कि वह गुण किसका है, और इसका साधारण उत्तर यही दिया जाता है कि वह गुण किसी में आश्रित है यानि किसी का गुण है, और जिसका वह गुण है उसे हम 'द्रव्य' कहते हैं । लेकिन यदि ऐसा है तो क्या अन्ततोगत्वा एक ही द्रव्य नहीं रह जाता, जिसमें कभी एक गुण रहता है कभी दूसरा गुण। अगर हम ऐसा मानते हैं कि एक गुण एक ही द्रव्य में रह सकता है तो हमें अनेक द्रव्य मानने होंगे और जैसे ही गुण में परिवर्तन होगा, वैसे ही द्रव्य में भी परिवर्तन मानना पड़ेगा । यही नहीं, साधारणत: हम एक वस्तु में कई गुण मानते हैं, और अगर ऐसा मानते हैं तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि एक ही द्रव्य में कई गुण हो सकते हैं। लेकिन, क्योंकि हम यह भी मानते हैं कि एक ही वस्तु में विरोधी गुण नहीं हो सकते, इसलिए हमें यह भी फैसला करना पड़ेगा कि इस मानने का आधार क्या है? यही नहीं, अगर गुण, द्रव्य में रहते हैं तो गुणों के नाश होने पर क्या द्रव्य का भी नाश हो जाता है । यह सब ऐसे प्रश्न हैं जिनका सहज उत्तर देना कठिन है, और इस प्रकार से शायद भारतीय पदार्थ चिंतन की परम्परा में

ये प्रश्न शायद उठाए भी नहीं गए हों। लेकिन फिर भी भारतीय पदार्थ चिंतन को समझने में ये प्रश्न कुछ हद तक सहायक हो सकते हैं ।

वैशेषिक दर्शन में पदार्थ चिंतन विस्तार से हुआ है और उसके बारे में अनेक समस्याएं उठाई गई हैं। उदाहरण के तौर पर, द्रव्य और गुण के सम्बन्ध में एक ऐसा भेद करते हैं, जो शायद पश्चिमी दार्शनिक चिंतन में किया ही नहीं गया है । यह भेद नित्य और अनित्य के आधार पर किया गया है। द्रव्य नित्य भी हो सकते हैं और अनित्य भी। इसी प्रकार गुणों का नित्य और अनित्य रूप में विभाजन किया गया है । नित्य द्रव्यों में वैशेषिक दार्शनिकों ने आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन को माना है। अब अगर कोई द्रव्य नित्य होता है, तो यह प्रश्न उठना स्वभाविक है कि क्या उसके गुण भी नित्य ही होंगे ? और अगर नित्य द्रव्य में अनित्य गुण हो सकते हैं तो क्या उस गुण की 'नित्यता' से द्रव्य की नित्यता नष्ट नहीं हो जाएगी । दिग् और काल को द्रव्य मानने का क्या अर्थ है और इसी प्रकार यह भी सवाल उठता है कि क्या आकाश को किसी भी अर्थ में द्रव्य कहा जा सकता है और वह दिग से किस प्रकार भिन्न है ? काल तो स्वंय परिवर्तित होता रहता है, क्योंकि अगर परिवर्तन हुआ ही नहीं तो हम काल की सत्ता को मानने के लिए बाध्य हो ही नहीं सकते । पर, अगर ऐसा है तो परिवर्तनशीलता को नित्य मानना होगा और अनित्यता स्वयं नित्य वस्तुओं का लक्षण बन जाएगी, क्यों कि आकाश और दिग् को छोड़कर अन्य सब द्रव्य काल के वशीभूत होंगे।

वैशेषिक दर्शन में गुणों के सम्बन्ध में सामान्य और विशेष का भेद किया गया है, इसका अर्थ यही हो सकता है कि सामान्य गुण सभी द्रव्यों में पाए जाते हैं और विशेष गुण कुछ द्रव्यों में ही ।

लेकिन वैशेषिक दर्शन में तो विशेषत्व को प्रत्येक द्रव्य का गुण माना गया है, क्योंकि वही उनको एक दूसरे से पृथक करता है। यहीं नही सामान्य और विशेष तो स्वयं पदार्थ रूप में माने गए हैं, और अगर ऐसा है तो फिर गुणों में सामान्य और विशेष का अन्तर करने का क्या तात्पर्य होगा ? जिन गुणों को सामान्य में रखा गया है वे ये हैं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग,विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, (नैमित्तिक), द्रवत्व एवं वेग (संस्कार)। इसी प्रकार निम्नलिखित को विशेष गुण कहा गया है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, (सांसिद्धिक) द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, शब्द एवं भावना (संस्कार)।

वैशेषिक सूत्र में केवल 17 गुणों का वर्णन था जो इस प्रकार गिनाए गए हैं — रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न। इनमें रूप, रस गंध एवं स्पर्श इंदियों से ग्राही होने वाले गुण लगते हैं। संख्या और परिमाण उन गुणों की ओर संकेत करते हैं जो हमें गिनने या नापने के द्वारा प्राप्त होते हैं, इनका विस्तार से ज्ञान गणित और ज्यामिति शास्त्रों में पाया जाता है । पृथकत्व, संयोग, विभाग, परत्व एवं अपरत्व संबंधात्मक गुण प्रतीत होते हैं, परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इन सबका

ज्ञान इंद्रियों द्वारा होता है ।सुःख, दुःख, इच्छा, द्वेष एवं प्रयत्न ये आत्मा के या मन के गुण कहे जाते हैं और इनका ज्ञान अन्तःकरण से होता है । वैशेषिक दर्शन में बुद्धि को भी गुण माना गया है जबकि सांख्य दर्शन में इसको स्वतंत्र तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है बुद्धि को किस आधार पर गुण माना गया है यह स्पष्ट नहीं है और यह भी कि बुद्धि किसका गुण है, मन का या आत्मा का ? फिर यह भी स्पष्ट नहीं है कि इन सब गुणों को हम किसी आधार पर मन का गुण कहेंगे या आत्मा का। इसी प्रकार यह भी समस्या है कि मन और आत्मा में भेद किस आधार पर किया जाएगा और उनमें कौनसे पृथक-पृथक गुण आरोपित किये जाएंगे ।

कणाद ने केवल 17 गुण माने थे लेकिन प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में उन गुणों में सात और जोड़ दिये थे। जिन गुणों को उन्होंने जोड़ा था वे इस प्रकार हैं— गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द। इन गुणों को ध्यान से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द, रूप, रस एवं गंध की तरह बाह्य इंद्रियों से ग्रहण होने वाले गुण हैं, जबकि गुरुत्व को अगर गुण माना जाए तो यह आभास होता है कि यह चीज़ हमारे पास है, इसलिए समीपत्व या किसी चीज के हमारे पास होने को भी गुण मानना होगा। परन्तु यह दोनों गुण वस्तुओं में न होकर हमारे शरीर के सापेक्ष है, क्योंकि दूर या पास होना वस्तुओं का अपने आप में कोई गुण नहीं होता। द्रवत्व को पृथक गुण मानने का आधार शायद यह होगा कि प्रशस्तपाद ने यह अनुभव किया कि कुछ वस्तुएँ स्वभाव से ही द्रवत्व लिए हुए होती हैं, जैसे जल आदि । पर, अगर द्रवत्व को पृथक गुण के रूप में स्वीकार किया जाए तो इसका विरोधी गुण जो वस्तु में पाया जाता है उसमें द्रवत्व नहीं होता, जैसे पत्थर आदि, तो उसको भी गुण के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। स्नेह के बारे में भी यही समस्या है और संस्कार को गुण मानने का क्या अर्थ है, यह समझना मुश्किल है, क्योंकि साधारणतः संस्कार का अर्थ यही होता है कि अनुभव चित्त पर जो वृत्ति छोड़ जाता है जिसके आधार पर स्मृति उत्पन्न होती है उसको ही संस्कार कहते हैं। इसी तरह धर्म, अधर्म को स्वतंत्र रूप में गुण मानना एक नई समस्या उत्पन्न करता है, क्योंकि धर्म, अधर्म का संबंध कम से कम इस संदर्भ में पाप-पुण्य से है और वे उस प्रकार अनुभव नहीं होते जिस प्रकार सुःख-दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि अनुभूत होते हैं। हाँ इतना स्पष्ट जरूर है कि अगर इनको गुण माना जाए तो ये आत्मा के ही गुण हो सकते हैं। लेकिन इस संदर्भ में यह ध्यान में रखने योग्य है कि यहाँ धर्म,अधर्म का अर्थ वह नहीं हो सकता जो मीमांसा सूत्र में बताया गया है । यहाँ तो धर्म-अधर्म का अर्थ पाप-पुण्य से हो सकता है, यानि उन गुणों से जो उन कर्मों के द्वारा उदय होते हैं। जिन्हें हम अधर्म या धर्म कहते हैं।

प्रशस्तपाद ने वैशेषिक सूत्र में दिये गये गुणों की संख्या में वृद्धि ही नहीं की, बल्कि विस्तार से उनके भेदों की चर्चा भी की है । दार्शनिक दृष्टि से यह चर्चा बहुत महत्व की है, लेकिन इस पर बहुत ही कम ध्यान दिया गया है । प्रशस्तपाद ने गुणों का विभाजन निम्न लिखित 11 आधारों पर किया है–

पहला भेद मूर्त, अमूर्त एवं उभयगुण गुणों का, दूसरा विभाजन उन्होंने इस प्रकार किया जो एक ही वस्तु में रह सकते हैं या वे गुण जिन्हें अपने आश्रय के लिए एक से अधिक

वस्तुओं की जरूरत होती है।ऐसे गुण जिन्हें अपने आश्रय के लिए एक से अधिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है, साधारणतः संबंध रूप में समझे जाते हैं। उन्होंने इन गुणों का नाम एकवृत्ति एवं अनवृति दिया । तीसरा विभाजन विशेष और सामान्य के आधार पर किया गया है । विशेष और सामान्य का यह भेद कुछ स्पष्ट नहीं है क्योंकि वैशेषिक दर्शन में 'सामान्य' और 'विशेष' स्वयं पदार्थ रूप में माने गए हैं। इसलिए गुणों का इनके आधार पर वर्गीकरण कहाँ तक मान्य हो सकता है, यह कहना मुश्किल है । 'विशेष' कहे जाने वाले गुणों में रूप,रस,गंध,स्पर्श आदि की बात की गई है । जबकि सामान्य गुणों में संख्या, परिमाण, परत्व, अपरत्व की चर्चा की गई है, परन्तु रूप, गंध आदि के भी अनेक प्रकार होते हैं और संख्या में प्रत्येक का अपना पृथक से विशेषत्व होता है । गुणों में चौथा भेद इस आधार पर किया गया है कि वे अतीन्द्रिय हैं या इंद्रियों के द्वारा ग्रहण होते हैं। इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण होने वाले गुणों में फिर इस आधार पर भेद किया गया है कि वे बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होते हैं या अन्तर कर्मेन्द्रियों से। बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होने वाले गुणों का विभाजन फिर इस आधार पर दिया गया है कि वे एक ही इन्द्रियों से ग्रहण होते है या एक से अधिक इंन्द्रियों से । यह भेद यह मानकर चलता है कि कुछ अतीन्द्रिय गुण हैं जिनका ग्रहण होता है । परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि ऐसे गुण मन से ग्रहण होते हैं या बुद्धि से । पाँचवें भेद का आधार यह दिया गया है कि कुछ गुण उन गुणों से उत्पन्न होते हैं जो किसी अवयवी के अवयवों में रहते हैं। इसका मतलब यह है कि ये कुछ गुण ऐसे होते हैं जो संपूर्ण वस्तु में भी पाए जाते हैं और उसके अवयवों में भी,ये गुण किसी सम्पूर्ण वस्तु में उसी प्रकार पाए जाते हैं जैसे कि वे उसके अनेक भागों के गुणों के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए हों।इसके विपरीत कुछ ऐसे गुण होते हैं जो अवयवी में तो पाये जाते हैं लेकिन अवयवों में होने वाले गुणों से वे भिन्न होते हैं । गुण का उदाहरण देते समय प्रशस्तपाद ने बुद्धि को भी एक गुण माना है, जो स्वयं द्रव्य पदार्थ नहीं है । इन गुणों के बारे में उन्होंने यह भी कहा है कि इनका कोई समवायी कारण नहीं होता । इस पर अधिक चर्चा करने की जरूरत है। गुणों में छठे प्रकार के विभाजन का एक अन्य आधार प्रशस्तपाद ने यह दिया कि वे गुण जो संयोग, विभाग आदि से उत्पन्न होते हैं या जो बुद्धि की अपेक्षा रखते हैं या बुद्धि की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसमें आश्चर्य की बात यह है कि बुद्धि को उन्होंने स्वतंत्र गुण माना है और इस संदर्भ में वह गुणों का भेद यह कहकर कर रहे हैं कि कुछ बुद्धि से उत्पन्न होते हैं जिसका मतलब यह होगा कि एक गुण दूसरे गुण को उत्पन्न कर सकता है, जो शायद इस दर्शन में मान्य नहीं है ।

गुणों में सातवें विभाजन का आधार इस बात को लेकर है कि गुण अपने समान जातीय गुणों से ही उत्पन्न होता है या हमेशा अपने से भिन्न जाति वाले गुणों से उत्पन्न होता है, या कुछ गुण ऐसे हैं जो अपने से समान जातीय गुण और भिन्न जाति वाले गुणों से भी उत्पन्न होते हैं । गुणों में आठवें भेद का आधार इस बात को लेकर किया गया है कि गुण जिस अन्य गुण को जन्म देता है, वह सदैव उसी आश्रय में समवाय संबंध से रहता है या यह जरूरी है कि वह किसी अन्य आश्रय में रहे। इसके अलावा कुछ गुण ऐसे भी है जिनके बारे में दोनों बाते सही हो सकती है। यानि, वह अपने आश्रय में भी रह सकते हैं और किसी अन्य आश्रय में भी । गुणों में भेद का नवाँ

आधार प्रशस्तपाद ने यह दिया है कि किसी भी क्रिया का कारण असमवायि कारण हो सकता है या निमित्तकारण, या दोनों। इस संदर्भ में उन्होंने एक अन्य कोटि की बात कही है जिसे 'अकारण' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि वह ज्ञान का कारण तो होता है लेकिन इसके अलावा किसी भी वस्तुस्थिति का कारण नहीं बनता है। इसका उदाहरण परत्व, अपरत्व, द्रवत्व पृथक्त्व। गुणों में दसवें भेद का आधार इस संदर्भ में दिया गया है कि गुण अपने आश्रय के सब भागों में एक साथ, एक समान होता है या केवल किसी अंश विशेष में। इसी को व्याप्यवृत्ति कह कर समझाया गया है। (यह स्पष्ट नहीं है कि इसके और पाँचवे प्रकार के भेद में क्या अन्तर है) गुणों में भेद का ग्यारहवाँ आधार इस बात को लेकर किया गया है कि गुण , गुण तब तक रहता है जब तक गुण का आश्रय नष्ट नहीं हो जाता है। जब तक गुण सर्वथा विद्यमान रहता है या आश्रय के रहने पर भी गुण का नाश हो सकता है ? यह भेद कुछ-कुछ उस भेद से मिलता-जुलता है जो पश्चिमी परम्परा में आवश्यक या अनिवार्य गुण कहकर बताये गये हैं, और जिनका आशय यह है कि वे गुण जब तक वस्तु रहती है तब तक वे भी रहते हैं; क्योंकि वस्तु के होने का अर्थ ही यह होता है कि उसमें वह गुण विद्यमान है। लेकिन जिस तरह से प्रशस्तपाद ने इस भेद का वर्णन किया है उससे यह स्पष्ट नहीं है। इस संदर्भ में प्रशस्तपाद ने जो कुछ उदाहरण दिए है वे वास्तव में ऐसे प्रतीत नहीं होते, क्योंकि उन्होंने इस संदर्भ में रूप आदि का उदाहरण दिया है। यह अनिवार्य नहीं है कि रूप में परिवर्तन तब ही हो जब उसका आश्रय रूप द्रव्य नष्ट हो जाए।

प्रशस्तपाद के 24 गुणों को धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री ने अपनी पुस्तक CRITIQUE OF INDIAN REALISM में निम्न प्रकार से बाँटा है। पहले तो उन गुणों को अलग स्थान दिया गया है जो आत्मा के गुण कहे जा सकते हैं। ये गुण बुद्धि,सुःखं, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म-अधर्म और भावना है, शेष 16 गुणों का वर्गीकरण उन्होंने भौतिक और अभौतिक (तत्वों के) के आधार पर किया है। भौतिक गुणों में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग एवं स्थितिस्थापक संस्कार तथा अभौतिक गुणों में उन्होंने संख्या, परिमाणु, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, और अपरत्व को रखा है। इन गुणों को उन्होंने तात्विक दार्शनिक गुण भी कहा है इन्हीं गुणों में उन्होंने एक और भेद किया है जिसको उन्होंने 'वस्तुनिष्ठ' और 'व्यक्तिनिष्ठ' गुण कहा है। उनके अनुसार संयोग, विभाग और परिमाण वस्तुनिष्ठ गुण हैं, जबकि संख्या, परत्व, अनेकत्व और पृथकत्व व्यक्तिनिष्ठ गुण हैं। गुणों के बारे में, वैशेषिक दर्शन की परम्परा में कणाद से लेकर धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री तक इतना विशद् चिंतन हुआ है, परन्तु इसकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यही नहीं भारतीय चिंतन परम्परा में ही सांख्य दर्शन में जो इस विषय पर सोचा गया है , उससे इसका क्या संबंध है, इस ओर तो किसी ने भी ध्यान नहीं दिया है। ऐसा लगता है तत्व चिंतन के बारे में कई अलग-अलग धाराएं इतने अधिक समय से देश में बहती रही है, लेकिन उन्होंने एक-दूसरे को ज़रा भी प्रभावित नहीं किया प्रतीत होता है। सांख्य केवल तीन गुणों को ही स्वीकार करता है और उनको सात्विक और राजसिक और तामसिक का नाम देता है। उसका अपना तत्व चिंतन पुरुष और प्रकृति के भेद को लेकर प्रारम्भ होता है जिसका आधार शायद चेतना और उसके विषय में मूल-

भूत भेद के आधार पर किया गया है, क्योंकि न्याय वैशेषिक परम्परा में जिन्हें आत्मा का गुण कहा गया है, सांख्य परम्परा में वे सब प्रकृति के गुण कहे गये हैं।

इतने बड़े भेद को भी अपनी-अपनी वैचारिक परम्पराओं में अब तक चिंतकों ने नजरअंदाज ही किया है। वरना यह सोचने की बात है कि सुःख, दुःख, इच्छा, प्रयत्न आदि जो अपनी दार्शनिक परम्पराओं में मन के या आत्मा के गुण माने गये हैं, उन्हें सांख्य दर्शन में जड़ प्रकृति का लक्षण कैसे माना गया है ? यही नहीं, बुद्धि जैसे तत्व को भी उन्होंने जड़ प्रकृति का ही व्यापार माना है।

सांख्य का तत्व चिंतन भी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि से प्रारम्भ होकर पाँचों ज्ञानेंद्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों और मन, बुद्धि, अहंकार आदि को मानता है, लेकिन इन्हें जड़ प्रकृति के ही रूप में मानता है और चेतना को इन सब से स्वतंत्र तत्व के रूप में स्वीकार करता है। इस तरह से देखने पर सांख्य वास्तव में दो ही द्रव्य स्वीकार करता है। परन्तु यह कहना मुश्किल है कि वह बाकी सब को द्रव्य रूप में नहीं मानता, क्योंकि पृथ्वी, जल, वायु आदि तो द्रव्य रूप में ही मिलते हैं। यही बात मन और बुद्धि के बारे में भी सत्य प्रतीत होती है। हाँ, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय को द्रव्य रूप माना जाए या नहीं, इसके बारे में शंका हो सकती है। लेकिन इस बात की अधिक चर्चा नहीं मिलती कि इनको द्रव्य रूप में देखा जाए या गुण रूप में। यही नहीं, सांख्य दर्शन में 'कर्म' या 'क्रिया' पर उस तरह विचार नहीं किया था जैसा कि वैशेषिक दर्शन में किया गया है क्योंकि वह प्रकृति को नित्य परिवर्तनशील मानता है और इसलिए क्रिया उसका सहज गुण है। केवल शुद्ध चेतना में ही परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है क्योंकि वह न तो कर्ता है, न भोक्ता, वह तो केवल दृष्टा मात्र है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो उसमें आरोपित हैं। वास्तव में ये तो प्रकृति के ही गुण माने जा सकते हैं।

सांख्य के संदर्भ में 'गुण' शब्द के प्रयोग से एक समस्या उत्पन्न हो जाती है, जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है और वह समस्या यह है कि एक ओर तो सांख्य केवल तीन गुण ही मानता है सात्विक, राजसिक और तामसिक, दूसरी ओर वह केवल शुद्ध प्रक्रिया की ही बात नहीं करता बल्कि उसमें होने वाले उन अन्य परिणामों की भी बात करता है जिन्हें वह बुद्धि और मन आदि का नाम देता है। अब समस्या यह है कि इन्हें किस प्रकार समझा जाए, क्या ये प्रकृति के गुण हैं या स्वयं द्रव्य रूप हैं। चाहे हम इनको किसी भी रूप में माने, इनमें सात्विक राजसिक व तामसिक का भेद तो करना ही पड़ेगा, क्योंकि सांख्य के अनुसार ये तीनों गुण हर चीज में पाये जाते है, फ़र्क केवल इतना ही होता है कि किसी गुण का प्राधान्य होता है और किसी का नहीं। परन्तु इस में भी समस्या है क्योंकि सांख्य यह नहीं मानता है कि किसी भी गुण का प्राधान्य हमेशा के लिए होता है, और अगर ऐसा है तो यह एक प्रकार से प्राकृतिक नियम ही हो जाएगा कि जैसा आज सत्व का प्राधान्य है,वैसा कल रजस् का होगा और फिर तमस् का। सांख्य में एक समस्या और भी उठती और वह यह है कि एक ओर तो वह साधारणत: बुद्धि को सत्व प्रधान मानता है और मन को रजस् प्रधान। दूसरी ओर, अगर किसी गुण का सदैव प्राधान्य नहीं रहता, तो फिर

बुद्धि और मन में भी सत्व और रजस् का सदैव प्राधान्य होना नहीं माना जा सकता। उनमें भी कभी-कभी अन्य गुणों का प्राधान्य मानना होगा। गीता में शायद इसलिए सात्विक,राजसिक और तामसिक बुद्धि की बात कही गई है। इसी प्रकार वहाँ सात्विक,राजसिक और तामसिक ज्ञान में भी भेद किया गया है। गीता में इस प्रकार के भेद करीब-करीब सब क्षेत्रों में किए हैं, लेकिन उनकी ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। यही नहीं, सांख्य के इस मत की ओर भी कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है कि किसी भी गुण का प्राधान्य हमेशा के लिए नहीं होता। लेकिन अगर ऐसा है तो फिर जिसने सात्विक बुद्धि प्राप्त की है, उसमें राजसिक, तामसिक बुद्धि का उत्पन्न होना अवश्यंभावी है।

सांख्य ने स्थूल और सूक्ष्म का एक और भेद किया है जो सब स्तर पर लागू होता है। लेकिन इसकी ओर भी बहुत कम ध्यान दिया गया है, और इसके सत्व, रजस् और तमस् के साथ सम्बन्ध को तो देखा ही नहीं गया है। सूक्ष्म या स्थूल की चर्चा सत्व, रजस् और तमस् के संदर्भ में तो कहीं भी दिखाई नहीं देती। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में समवाय की जो चर्चा की गई है उससे सांख्य दर्शन जरा भी प्रभावित दिखाई नहीं पड़ता। समवाय सम्बन्ध के बारे में तो उसमें शायद कुछ भी चिंतन नहीं किया गया, हालांकि ईश्वरकृष्ण की **सांख्यकारिका**,जो सांख्य दर्शन का प्रसिद्ध ग्रंथ है, कणाद के **वैशेषिक सूत्र** के बहुत बाद लिखी गई थी। 'समवाय' सम्बन्ध का भारतीय दार्शनिक परम्परा में बहुत व्यापक प्रभाव हुआ है, इसलिए यह आश्चर्य की बात ही समझी जानी चाहिए कि अनेक दार्शनिक परम्पराएँ उससे बिल्कुल अछूती ही रहीं। फिर भी यह तो जानने वाला होना ही चाहिए कि जब एक दार्शनिक परम्परा ने इस सम्बन्ध को इतना महत्व दिया तो अन्य दार्शनिक परम्पराओं में इसको मानने की कोई जरूरत ही क्यों न समझी गई? अगर ये दार्शनिक परम्पराएँ अलग—अलग देशों में होतीं, तो शायद इस बात को समझा जा सकता था, लेकिन ये तो, देश में एक ही साथ घटी हैं और एक -दूसरे के समकालीन थीं और जिनसे संबद्ध दार्शनिक एक दूसरे के चिंतन से परिचित थे। फिर भी ऐसा क्यों हुआ यह पता लगाने की बात है।

तत्व चिंतन के विषय में वैशेषिक और सांख्य दर्शन के अलावा जिस दर्शन में इस पर बहुत अधिक चर्चा हुई है, वह जैन दर्शन है। उसने जहाँ एक ओर जीव और अजीव में भेद किया है, वहीं दूसरी ओर उसने जीव को भिन्न कोटियों में भी रखा है। प्राणियों में भी इस आधार पर भेद किया है कि उनमें एक ही इंद्रिय है या उससे अधिक। यही नहीं उसने जीवों में भी सूक्ष्म, सूक्ष्मतर आदि का भेद किया है, और कुछ हद तक, अणु-परमाणु की भाँति सूक्ष्मतम जीवों की भी बात की है। यही नही उसके चिंतन में जीव करीब—करीब सब जगह पाए जाते हैं।अनके अलावा उसकी 'कर्म' के बारे में चर्चा भी सबसे अलग है। 'कर्म' को वह सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, जड़ द्रव्य के रूप में मानता है जो बाहर से इंद्रियों के मार्ग से आकर जीव को ढक लेते है, और इसके पूर्णरूप से हट जाने को ही सिद्धि प्राप्त करना कहते हैं। यह आहार और जल छोड़ने से, घोर तप करने से और सदाचार आदि से प्राप्त होता है, और जैन संत इनके लिए प्रसिद्ध भी हैं।

जैन तत्व चिंतन द्रव्य और गुण या पर्याय को, वैशेषिक दर्शन की भांति, स्वीकार करता है। लेकिन गुण के बारे में इसकी चर्चा कुछ-कुछ सांख्य जैसी है क्योंकि वह शायद उसको नित्य परिवर्तनशील मानता है। इसी प्रकार देश और काल की सत्ता को भी वह स्वतंत्र रूप में स्वीकार करता है। तत्व चिंतन के बारे में ये दृष्टियाँ शंकर के समय तक अपना परिपक्व रूप ले चुकी थीं। लेकिन इनके विषय में चिंतन सम्प्रदायों में ही सीमित रहा और उसने कोई विशद, सर्व स्वीकृत चिंतन का रूप नहीं लिया। यही नहीं, यह भी स्पष्ट नहीं है कि भारत की वैज्ञानिक परम्पराओं में किस प्रकार का तत्व चिंतन प्रचलित था। खगोल शास्त्र के रूप में ज्योतिष, आयुर्वेद से सम्बन्धित औषधि शास्त्र, रसायन शास्त्र, गणित आदि का काफी विस्तार हो चुका था। परन्तु भारतीय तत्व चिंतन पर इनका सीधा प्रभाव कहीं भी परिलक्षित नहीं होता। हाँ, **न्यायसूत्र** में कई ऐसे सूत्र आते हैं जहाँ उस समय के वैज्ञानिक चिंतन में पाई जाने वाली समस्याओं का आभास मिलता है। उदाहरण के तौर पर, यह प्रश्न उठाया गया है कि आँख और कान में गहरा फ़र्क दिखाई देता, क्योंकि आँख से दिखाई देता है वह हमेशा दूर होता है, जबकि कान से जो सुनाई देता है वो कान के अन्दर या कान के पास महसूस होता है। इसी प्रकार यह भी समस्या उठाई गई है कि अगर अंधेरे में कुछ नहीं दिखाई देता है तो कुछ जानवरों को अंधेरे में कैसे दिखाई देता है? शेर और बिल्ली की आँखे अंधेरे में क्यों चमकती है?यही नही चुम्बक में लोहे को खींचने की बात भी की गई है। इसी प्रकार और अन्य बातें हैं, शायद अन्य ग्रंथो में भी इस प्रकार के अनेक उदाहरण मौजूद हो जिनकी ओर अभी तक कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

इस समग्र चिंतन पर और अधिक ध्यान देने की जरूरत है, हालांकि आज के भौतिक विज्ञान में हुई प्रगति के संदर्भ में यह 'ज्ञान' केवल ऐतिहासिक महत्व ही रखता है। फिर भी जहाँ यह वैज्ञानिक तथ्यों की बात करता है, या गुणों में होने वाले भेद की ओर ध्यान दिलाता है, वहाँ इसका कुछ दार्शनिक महत्व अवश्य है, और इसलिए इसकी ओर ध्यान देना ज़रूरी है।

तत्व चिंतन के अलावा दर्शन के क्षेत्र ने जहाँ शंकर के समय तक काफी परिपक्वता प्राप्त कर ली थी उसे प्रमाण चिंतन या प्रमाण शास्त्र कहा जा सकता है। प्रमाण चिंतन का शास्त्रीय रूप गौतम के **न्याय सूत्र** में मिलता है, हालांकि इस ग्रंथ को पढ़ने से ऐसा पता चलता है कि उस समय ऐसे लोग भी थे जो प्रमाण शास्त्र की सभावना पर ही संदेह करते थे। और कहते थे कि प्रमाण से किसी बात की सिद्धि हो ही नहीं सकती। **न्यायसूत्र** में इस मत का स्पष्ट खण्डन किया गया है। इसके अलावा **न्यायसूत्र** को ध्यान से पढ़ने पर यह पता चलता है कि प्रमाण शास्त्र के अलग-अलग रूप थे। एक जो वाद-विवाद की परम्परा से सम्बन्धित था, और दूसरे वह जो प्रमाण के अन्दर के अवयवों की चर्चा करता था।

ऐसा लगता है कि प्रमाण शास्त्र पर चिंतन, वाद-विवाद की परम्परा के संदर्भ में ही प्रारम्भ हुआ था, और धीरे-धीरे उसने उससे विलग होकर अपना स्वतंत्र रूप धारण कर लिया था। न्यायसूत्र में ये दोनों पक्ष आपस में मिले-जुले प्रतीत होते हैं। इसलिए जहाँ एक ओर प्रमाण-

प्रमेय की चर्चा है वहीं दूसरी ओर वाद, जल्प, वितण्डा, छल, जाति आदि की भी चर्चा है। परन्तु जैसे-जैसे न्याय-शास्त्र का विकास हुआ वैसे-वैसे इस दूसरे पक्ष की ओर ध्यान कम होता गया।

कुछ दार्शनिक ऐसे भी थे जो प्रमाण की सम्भावना मात्र से ही इंकार करते थे । **न्याय सूत्र** में इनकी चर्चा की गई है। इन दार्शनिकों में नार्गाजुन का नाम हमेशा लिया जाता था और उन्होंने अपने ग्रंथों में प्रमाणों का खण्डन भी किया है। **वैदल्य सूत्र** बौद्ध परम्परा में नागार्जुन की रचना मानी जाती है। हालांकि कुछ पश्चिमी विद्वानों ने इस पर संदेह प्रकट किया है। परन्तु, चाहे ये ग्रंथ नार्गाजुन द्वारा रचित हो या नहीं हों, इसमें कोई संदेह नहीं किया जा सकता कि यह ग्रंथ उन्हीं की परम्परा में लिखा गया है और स्पष्ट रूप से गौतम के **न्याय सूत्र** का खण्डन करता है। गौतम ने जिन 16 पदार्थों की अपने ग्रंथ में चर्चा की है, उनमें से प्रत्येक का खण्डन इसमें मिलता है और इससे स्पष्ट है कि यह ग्रंथ **न्याय सूत्र** के खण्डन के लिए ही लिखा गया था। इसके प्रारम्भ में ही यह कहा गया है कि 'तर्क और ज्ञान के अभिमान से जो वाद करना चाहते हैं, उनके अहंकार के नाश के लिए मैं(नार्गाजुन) वैदल्य सूत्र की रचना करता हूँ।'

इससे साफ जाहिर होता है कि गौतम के **न्याय सूत्र** के लिखने के बाद से ही इस विषय पर वाद प्रारम्भ हो गया था और उसके खण्डन का भी उत्तर उनके बाद आने वाले नैयायिकों ने जरूर दिया होगा। लेकिन अभी तक भी यह पता लगाने की कोशिश नहीं की गई प्रतीत होती है कि क्या वात्स्यायन ने अपने भाष्य में इस खण्डन का उत्तर दिया है ? या उनसे पहले किसी अन्य नैयायिक ने ऐसा किया है ? यही नहीं बौद्ध दार्शनिक परम्परा में भी जो प्रमाण-शास्त्र की रचना हुई, जिसमें दिङ्गनाग का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है, और उसने भी शून्यवाद में प्रमाण खण्डन का खण्डन जरूर किया होगा, क्योंकि ऐसा किए बगैर प्रमाण-शास्त्र की रचना हो ही नहीं सकती। दिड्.गनाग का **प्रमाण-समुच्चय** ग्रंथ प्रसिद्ध है और बौद्ध परम्परा में यह माना जाता है कि इसमें वात्स्यायन के भाष्य की तीखी आलोचना मिलती है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि दिङ्गनाग का नागार्जुन की परम्परा से क्या मतभेद था? और न ही यह स्पष्ट है कि उन्होंने गौतम के **न्याय सूत्र** की परम्परा से हटकर एक नए प्रमाण-शास्त्र की रचना की ज़रूरत क्यों समझी ? जिन लोगों ने न्याय और बौद्ध परम्पराओं के आपसी खण्डन-मण्डन की चर्चा की है, उन्होंने भी यह बतलाने की जरूरत नहीं समझी कि आखिर जहाँ तक प्रमाण शास्त्र का संबंध है, वहाँ इन दोनों परम्पराओं में क्या भेद है, और उसका तार्किक आधार क्या है ?

इस संदर्भ में अक्सर ऐसा कहा जाता है कि वात्स्यायन के भाष्य का खण्डन दिड्.गनाग के **प्रमाण-समुच्चय** में मिलता है, और दिङ्गनाग के तर्कों का खण्डन उदयोत्कर द्वारा लिखित **न्याय वार्तिक** में पाया जाता है। इसके बाद **न्याय वार्तिक** का खण्डन धर्मकीर्ति के प्रसिद्ध ग्रंथ **प्रमाण-वार्तिक** में मिलता है, जिसका खण्डन वाचस्पति मिश्र प्रथम ने अपनी टीका में किया है जो उन्होंने **न्याय वार्तिक** पर लिखी थी । वाचस्पति मिश्र प्रथम शंकराचार्य के बाद होते हैं, और उन्होंने शंकर के **ब्रहमसूत्र** के भाष्य पर अपनी प्रसिद्ध टीका जो 'भामति' के नाम से प्रसिद्ध

है, लिखी थी। पर, बौद्धों और नैयायिकों के बीच इस सब वाद-विवाद में ज्ञान और तत्व मीमांसा संबंधी समस्याओं की तो चर्चा की गई, लेकिन जहाँ तक प्रमाण-शास्त्र या तर्क-शास्त्र का संबंध है, उनके बीच में पाये जाने वाले विवाद को स्पष्ट नहीं किया गया है। यही नहीं बौद्ध प्रमाणशास्त्रियों की ओर से जो नागार्जुन का खण्डन हुआ होगा उसकी ओर तो किसी का ध्यान ही नहीं गया प्रतीत होता है।

शंकर के पूर्ववर्ती इसी काल में जैन न्याय का भी उदय हुआ और उसने न्याय और बौद्ध परम्पराओं को छोड़कर अपनी एक नई स्वतंत्र दृष्टि स्थापित की। इसका भी अपना अलग इतिहास है। परन्तु ऐसा लगता है जबकि न्याय और बौद्ध दर्शन परम्पराएं शंकर से पहले ही अपना स्पष्ट रूप ले चुकी थी, जैन दर्शन परम्परा में ऐसा नहीं हुआ था। यह ठीक है कि वाचस्पति मिश्र प्रथम और उदयन शंकर के बाद होते हैं, और न्याय की परम्परा का विकास तो गंगेश से गदाधर तक होता रहा है। बौद्ध परम्परा में भी धर्मोत्तर, मोक्षाकर गुप्त, प्रज्ञाकर गुप्त, रतनकीर्ति और कमलशील जैसे प्रसिद्ध तार्किक शंकर के बाद हुए हैं, लेकिन यह स्पष्ट नहीं है कि इन्होंने किस तरह से बौद्ध दार्शनिक विचार को आगे बढ़ाया ?

इस प्रकार शंकर से पहले करीब-करीब सब दार्शनिक परम्पराएं काफी परिपक्व रूप ले चुकी थी और शंकर के दर्शन का महत्व इसी में है कि उन्होंने अपने दर्शन में इन सब दार्शनिक धाराओं को अपने में समाहित करके इनको एक नया रूप देने की कोशिश की। उन्होंने विशेषत: सांख्य और बौद्ध दर्शन की दृष्टियों को इस प्रकार समन्वित किया कि वे अपना निजी स्वरूप छोड़कर एक नई दार्शनिक दृष्टि में समाहित हो गई। सांख्य दर्शन से उन्होंने चेतना और उसके विषय के संबंध को लिया और मूल भ्रांति या अज्ञान को अध्यास का नाम दिया जिसका अर्थ ही यह था कि चेतना अपने में उन गुणों को आरोपित करती है जो वास्तव में उसके विषय में होते हैं। लेकिन उन्होंने 'विषय' की स्वतन्त्र सत्ता को मानने से इंकार किया, और 'विषय' के 'विषयत्व' को ही मूल भ्रांति माना। इसी प्रकार उन्होंने नागार्जुन के व्यवहार और परमार्थ के भेद को स्वीकार किया और यह भी माना कि जो भी विषय रूप में उपस्थित होता है उसे सत् केवल व्यवहार के संदर्भ में ही माना जा सकता है, परमार्थ के संदर्भ में नहीं। लेकिन उन्होंने आत्मा की सत्ता को अस्वीकार करने से इंकार किया, और यह कहा कि वास्तव में तो चित् स्वरूप आत्मा ही सदैव दृष्टा या साक्षी के रूप में उपस्थित रहती है। जो विषय के रूप में प्रतीत होता है, वह तो सदैव बदलता रहता है और इसीलिए उसको अपने आप में सत् नहीं माना जा सकता। लेकिन यही नहीं उन्होंने इस आत्मा को उस चरम सत् के रूप में स्वीकार किया जो जगत या सृष्टि की सत्ता के मूल में है, और उसे उपनिषदों में ब्रहम की संज्ञा दी गई है। लेकिन उन्होंने आत्मा और ब्रहम में किसी भी प्रकार का भेद मानने से इंकार किया क्योंकि जो सत् है वह तो एक ही हो सकता है, चाहे उसे आत्मा कहें या ब्रहम। आत्मा और ब्रहम का यह तादात्म्य उनके दर्शन का एक प्रसिद्ध सिद्धांत है, यानी जो हमें अपने अन्दर परम सत् के रूप में प्राप्त होता है वह वही है जो परम सत् बाहर दिखने वाले जगत के मूल में मिलता है। यही नहीं, आत्मा में जो भी गुण दिखाई देता है वे उसपर एक

प्रकार से आरोपित ही माने जायेंगे, क्योंकि आत्मा का तो कोई गुण हो ही नहीं सकता। इसी प्रकार ब्रह्म भी अपने आप में सब गुणों से परे है और निर्गुण है और उस पर भी गुण उसी प्रकार आरोपित होते हैं जिस प्रकार आत्मा पर। इस आरोपण के दो अर्थ लिये जा सकते हैं — एक यह कि कोई गुण या गुणों का कोई ऐसा समूह कभी भी चेतना का पूर्ण रूप से न तो वर्णन कर सकता है और न ही उसका सही रूप बता सकता है, क्योंकि प्रत्येक गुण अपने विरोधी गुण होने का प्रत्याहार करता है, यानी अगर उसमें यह गुण है तो वहाँ उसका विरोधी गुण नहीं हो सकता। लेकिन जो चरम सत् है उसके बारे में तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें यह है और वह नहीं है। उसमें तो सब कुछ है, क्योंकि उसके बाहर तो कुछ हो ही नहीं सकता। दूसरी ओर यह 'नेति' 'नेति' की ओर भी इशारा करता है, यानी दूसरी ओर यह इस बात की ओर भी इशारा करता है कि जो कुछ भी चरम सत् है वो इतना समृद्ध है कि उसे असंख्य गुणों के द्वारा भी केवल इंगित ही किया जा सकता है। यही बात, साधारण स्तर पर विष्णु या शिवसहस्त्रनाम बता कर की गई है या **'दुर्गा सप्तशती'** में दुर्गा के अनेक रूपों का वर्णन करके कहने की कोशिश की गई है। लेकिन यह दोनों बातें ठीक होते हुए भी शंकर के दर्शन में इसका एक तीसरा पक्ष है जो दार्शनिक दृष्टि से अधिक महत्व का है, और वह यह है कि जो सत् है उसमें एकत्व इतना अधिक गहन रूप में है कि वहाँ भेद की गुंजाइश ही नहीं है, और बगैर भेद के कुछ कहा ही नहीं जा सकता। वास्तव में तो उसको 'एक' कहना भी गलत है, क्योंकि 'एक' कहने का अर्थ यह होता है कि दो हो सकते हैं, पर हैं नहीं।

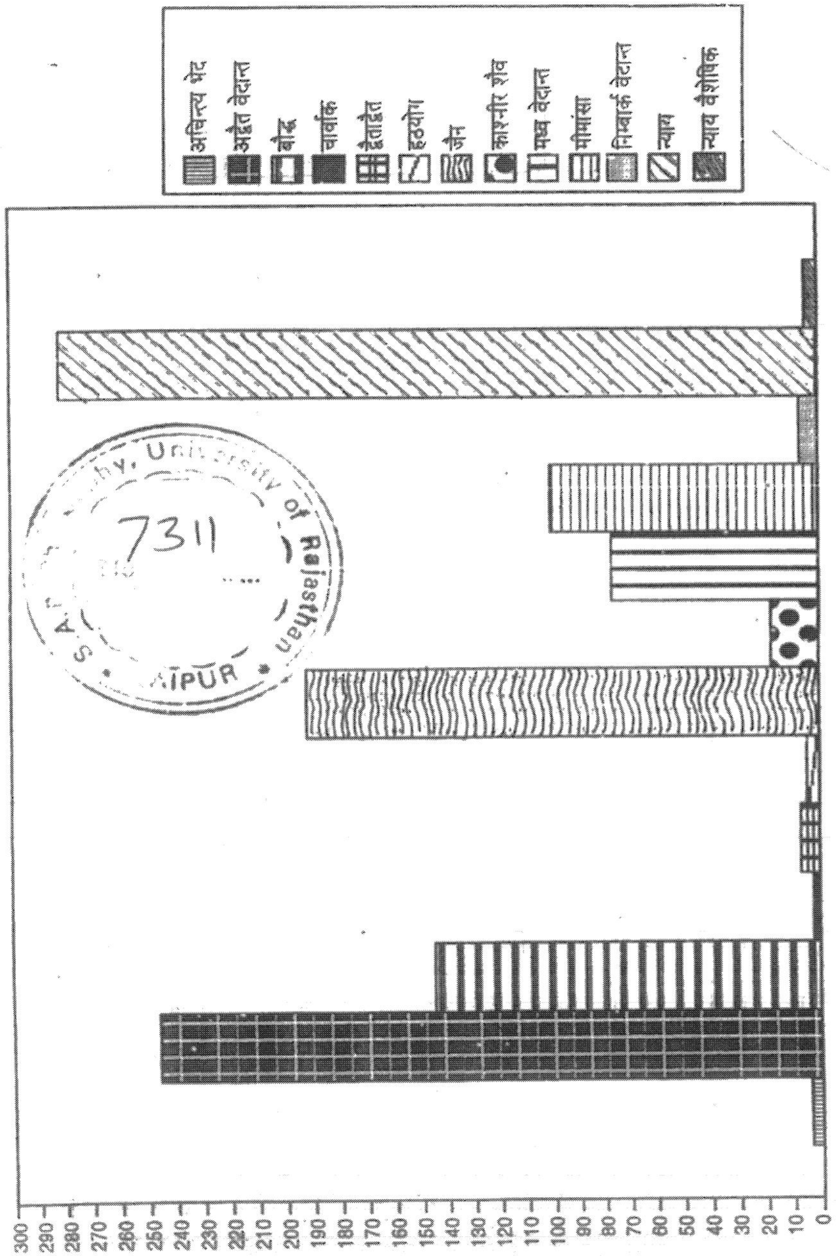
शकर ने अभेद की यह जो व्याख्या दी और जिसको स्वीकार करने पर सारी विविधता असत् हो जाती है, बाद में यह काफी विवाद का विषय बनी, और इसी के संदर्भ में अनेकानेक अन्य वेदान्तिक परम्पराओं का जन्म हुआ। पर, शुद्ध शंकर वेदान्त भेद को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं कर सकता और इसीलिए जहाँ भी भेद है, वहीं अज्ञान है, मिथ्यात्व है, माया है। इसी संदर्भ में शंकर ने व्यवहार-सत् और परमार्थ-सत् के बीच भेद किया और यह कहा कि जो व्यवहार में सत् है, वह परमार्थ की दृष्टि से कभी भी सत् नहीं हो सकता क्योंकि व्यवहार तो हमेशा भेद पर आश्रित रहता है। पर, अगर ऐसा है तो फिर कर्म का क्या होगा, क्योंकि कर्म तो व्यवहार जगत में ही होता है। कर्म धर्म-अधर्म को मानकर चलता है। शुद्ध शंकर वेदांत में इस बात को स्वीकार किया और इसी कारण कर्म सन्यास की बात की, और कर्म के द्वारा कभी भी सत् की प्राप्ति नहीं होने की बात कही।

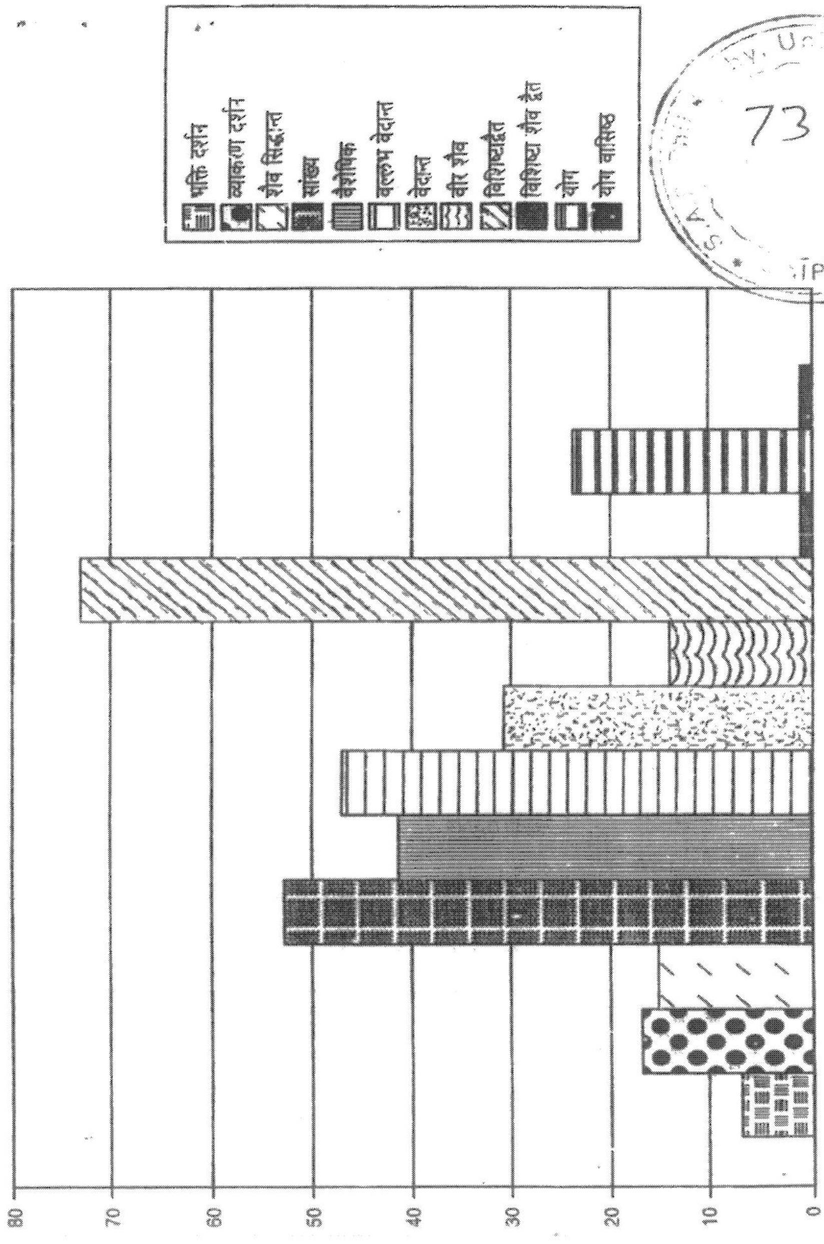
परिशिष्ट

परिशिष्ट 1

	अचिन्त्य भेद	अद्वैत वेदान्त	बौद्ध	चार्वाक	द्वैताद्वैत	हठ योग	जैन	काश्मीर शैव	मध्य वेदान्त	मीमांसा	निम्बार्क वेदान्त	न्याय	न्याय वैशेषिक
250-150 B.C.			13										
150-50 B.C.			4										
50-50 B.C.-A.D.			11							1			
50-150 A.D.			10							2		1	
150-250 A.D.			13				1						
250-350 A.D.			6							2			
350-450 A.D.			8				2						
450-550 A.D.			13				2						
550-650 A.D.			9	1			4					2	
650-750 A.D.			8				5			5		3	
750-850 A.D.			11	1			2	2		1			
850-950 A.D.			7				12	3		1		5	
950-1050 A.D.		1	13				15	6		1		6	
1050-1150 A.D.		4	9				28	1		3		6	
1150-1250 A.D.		3	7				21	1		8	1	5	1
1250-1350 A.D.		27					14		7	3	1	6	
1350-1450 A.D.		11				1	23		6	5		9	
1450-1550 A.D.		16				2	11	1	2	2	1	24	4
1550-1650 A.D.		50			3		15		23	26	1	36	
1650-1750 A.D.		37					13	1	19	20	1	54	
1750-1850 A.D.	3	33			2		7	1	9	4		38	
1850-1976 A.D.		64	3		1	1	16	1	9	16	2	84	
TOTAL	3	246	145	2	6	4	191	17	75	100	7	279	5

	भक्ति दर्शन	व्याकरण दर्शन	शैव सिद्धान्त	सांख्य	वैशेषिक	वल्लभ वेदान्त	वेदान्त	वीर शैव	विशिष्टा द्वैत	विशिष्टा शैवाद्वैत	योग	योग वासिष्ठ	योग
250-150 B.C.													13
150 50 B.C.													4
50-50 B.C.-A.D.							1						13
50-150 A.D.				2	1								16
150-250 A.D.													14
250-350 A.D.				2	2		1				1		14
350-450 A.D.		1		2									13
450-550 A.D.				2	2		4				1		24
550-650 A.D.							1						17
650-750 A.D.		1		2			6						30
750-850 A.D.		1	1		2		2						23
850-950 A.D.		1	1	1	1		3						35
950-1050 A.D.		1		1	2		3		1		1		51
1050-1150 A.D.		1	4	2	2				1		3		64
1150-1250 A.D.			2					1	4		1		55
1250-1350 A.D.			4						6				63
1350-1450 A.D.		1	1	2	1			4	5	1	3		74
1450-1550 A.D.	3				4	2		3	5				81
1550-1650 A.D.			2	3	5	15		1	15		2		194
1650-1750 A.D.	1	5		5	6	9		2	5		2		180
1750-1850 A.D.	1	1		7	1	4			11		1	1	124
1850-1976 A.D.	2	4		22	12	17	10	3	20		9		296
TOTAL	7	17	15	53	41	47	31	14	73	1	24	1	1404


अचिन्त्य भेद
अद्वैत वेदान्त
बौद्ध
चार्वाक
द्वैताद्वैत
हठयोग
जैन
काश्मीर शैव
मध्व वेदान्त
मीमांसा
निम्बार्क वेदान्त
न्याय
न्याय वैशेषिक
300 290 280 270 260 250 240 230 220 210 200 190 180 170 160 150 140 130 120 110 100 90 80 70 60 50 40 30 20 10 0


भक्ति दर्शन
व्याकरण दर्शन
शैव सिद्धान्त
सांख्य
वैशेषिक
वल्लभ वेदान्त
वेदान्त
वीर शैव
विशिष्टाद्वैत
विशिष्टा शैव द्वैत
योग
योग वासिष्ठ
80 70 60 50 40 30 20 10 0